ऐतरेयब्राह्मण का एक अध्ययन

लेखक :

डा० नाथूलाल पाठक

भूमिका :

डा० सम्पूर्णानन्द

राज्यपाल राजस्थान

प्रस्तावना :

डा० सुधीर कुमार गुप्त

रोशनलाल जैन एण्ड सन्स, जयपुर

ऐतरेयब्राह्मण का एक अध्ययन

१९६६ रोशनलाल जैन एण्ड सन्स जयपुर

मूल्य १०.०० दश रुपये

प्रकाशक

रोशनलाल जैन एण्ड सन्स
बोरडी का रास्ता, जयपुर

मुद्रक

मनोहरलाल जैन
दिगम्बर जैन प्रिंटिंग प्रेस
गोदीकों का रास्ता जयपुर

आवरणशिल्पी :
श्री विजयनारायण शुक्ल

संकेत-विवरण

अ०	अध्याय
अ० वे०	अथर्ववेद
आ० श्रौ०	आश्वलायन श्रौतसूत्र
उ० को०	उणादि कोष
ऋ०	ऋग्वेद
ऋ० सा० भा०	ऋग्वेद सायण भाष्य
ऋ० हि० अ०	ऋग्वेद हिन्दी अनुवाद
ए० या०	दी एटीमोलोजीज ऑफ यास्क
ऐ० ब्रा०	एतरेय ब्राह्मण
कौ० ब्रा०	कौषीतकि ब्राह्मण
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
जै० उ०	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
जै० पू० मी०	जैमिनीय पूर्व मीमांसा
तां० ब्रा०	ताण्ड्यमहाब्राह्मण
तु० क०	तुलना करो
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
वे० भा० प०	वेदभाष्य पद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन
नि०	निरुक्त
पृ०	पृष्ठ
बृ० दे०	बृहद्देवता
वा० सं०	वाजसनेयि संहिता
वे० ला०	वेदलावण्यम्
वे० वि० नि०	वेदविद्या निदर्शन
वै० ए०	दी वैदिक एटमीलौजी
वै० को०	वैदिक कोष
वै० द०	वैदिक दर्शन
वै० दे०शा०	वैदिक देव शास्त्र
वै० प० को०	वैदिक पदानुक्रमकोष
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
ष० ब्रा०	षड्विंश ब्राह्मण
सा० ब्रा०	सामविधान ब्राह्मण

विषय सूची

ऐतरेयब्राह्मण में ऋषि विचार (१५२-१६०)

ऐतरेयब्राह्मण में पुरोहित का महत्व (पृ०१६१-१६५)

ऐतरेयब्राह्मण में देवता-निरूपण (पृ०१६६-१८४)

ब्रह्मपरिमर : उपसंहारात्मक-अवेक्षण (पृ०१८५-१९०)

भूमिका

पुरानी पद्धति के संस्कृत विद्वानों की बराबर यह धारणा रही है कि मंत्रब्राह्मणयोर्वेद नाम धेय.==संहिता और ब्राह्मण भाग दोनों का संयुक्त नाम वेद है। परन्तु स्वामी दयानन्दजी के अनुयायी तथा और भी कई आधुनिक विद्वान ब्राह्मणों को वेद शब्द की परिधि में नहीं रखते। उनके मत में केवल मंत्र भाग को हीं वेद कहना चाहिए। मैं शास्त्रार्थ में नहीं पड़ना चाहता, परन्तु इतना तो निर्विवाद ही है कि ब्राह्मणों के अध्ययन के बिना संहिता भाग के अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता।

आजकल वैदिक वाङ्मय का प्रायः वही अंश पढ़ा जाता है जिसे उपनिषद् कहते हैं। उपनिषद् पर शंकराचार्य आदि के भाष्यों के अतिरिक्त देशी विदेशी बहुत से विद्वानों की टीकायें उपलब्ध हैं और इनके अनुवाद भी सुगमता से मिल जाते हैं। इससे उस व्यक्ति का काम तो चल जाता है जो उन दार्शनिक सिद्धान्तों को जानना चाहता है जिनका प्रतिपादन उपनिषदों में हुआ है परन्तु यदि कोई व्यक्ति उपनिषदों का स्वयं अध्ययन करना चाहे तो उसको पदे पदे ब्राह्मण ग्रन्थों की शरण में जाना होगा। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह मत पुरः स्थापित किया है कि उपनिषद् उस विद्रोह के प्रतीक हैं जो आर्य विद्वत् समाज में किसी समय वैदिक कर्म्मकान्ड के विरुद्ध हुआ था। यदि यह मत मान भी लिया जाय तब भी यह स्थिर सत्य है कि विद्रोह करने वाला भी उस वस्तु से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता जिसके प्रति वह विद्रोह करता है। उपनिषद् ग्रन्थ उसी भाषा में लिखे गये हैं जिसमें वेद मंत्र प्रकट हुये हैं, वाक्य विन्यास उसी ढंग का है, वही महाविरे हैं, वही रूपक हैं। स्थल स्थल पर वैदिक कर्म्मकाण्ड की प्रक्रिया जानने की अपेक्षा होती है और उन सिद्धान्तों के बिना कई प्रसंग नही समझे जा सकते जिनके आधार पर कर्म्मकाण्ड का ढांचा खड़ा है। अतः उपनिषदों के गूढ़ार्थ में प्रवेश करने के लिए भी ब्राह्मणों का ज्ञान आवश्यक है। विरोधी क्या कहता है, इसके बिना जाने उसकी बातों का खंडन करना भी सम्भव नही हैं।

चारों वेदों के==यदि थोड़ी देर के लिए कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद को को पृथक् मान लें तो पांचों संग्रहों के == साथ पृथक् पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। इनमें से कुछ की आजकल अपेक्षया थोड़ी अधिक प्रसिद्धि है, जैसे शुक्ल यजुर्वेद के शतपथब्राह्मण की। परन्तु जब तक सभी मुख्य मुख्य ब्राह्मण ग्रन्थ न देख लिये जांय तब तक ब्राह्मणों का अध्ययन भी अधूरा रहेगा। इस दृष्टि से ऐतरेय ब्राह्मण का बहुत महत्त्व है। यह ऋग्वेद का ब्राह्मण है और महीदास ऐतरेय इसका

आर्षेय है, अर्थात् उन्हीं के द्वारा इसकी प्रसिद्धि हुई है। कोई चाहे तो यों कह सकता है कि उन्होंने ही इसकी रचना की। शूद्रापुत्र ऐतरेय अपने तप के बल से ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे। उन्होंने पृथिवी देवता की उपासना से वेद के नये मंत्रों का आविष्कार किया था। उनके नाम से सम्बद्ध यह ब्राह्मण ग्रन्थ वेद की बहुत से ग्रन्थियों के लिए अनिवार्य कुंजी है।

इसलिए मैं श्री नाथूलाल पाठक की पुस्तक "ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन" का स्वागत करता हूँ। प्रस्तुत पुस्तक में ऐतरेय ब्राह्मण तो अध्ययन का मुख्य विषय है ही, स्थल स्थल पर दूसरे ग्रन्थों से भी अवतरण दिये गये है और उन सन्दर्भों की ओर संकेत किया गया है जिनके देखने से अर्थ का विशद स्पष्टीकरण हो सकता है। मेरा ऐसा विश्वास है कि इस विषय का अध्ययन करने वालों को इस पुस्तक से बड़ी सहायता मिलेगी। अभी में पुस्तक का थोड़ा ही अंश देख पाया हूँ परन्तु ऐसी आशा करता हूँ कि शेषांश भी उसी मर्यादा के अनुरूप होगा जो पूर्वांश में देख पड़ता है।

सम्पूर्णानन्द

राज भवन
जयपुर
मार्च १७, १९६६

प्रस्तावना

१. वेद संसार के साहित्य में प्राचीनतम कृतियां हैं। भागीरथ प्रयत्न और दीर्घकालव्यापी खोजों द्वारा भी अभी तक ऋग्वेद से प्राचीनतर कोई और रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। चित्रलेख आदि भी इससे अर्वाचीन हैं। उन्हें इससे प्राचीनतर मानने की प्रवृत्ति अनेकशः दिखाई पड़ती है, परन्तु वह वैज्ञानिक दृष्टि से मान्य नहीं है। केवल भाषा की दृष्टि से ही विचार करें। ऋग्वेद की भाषा का विकास एकाक्षर प्रारूप से हुआ है। इसमें एकाक्षर पद तो मिलते ही हैं, साथ ही एकाक्षर पदों से बह्वक्षर पदों के विकास के भी अनेकों उदाहरण मिलते हैं। यहां उस स्थिति के भी अवशेष मिलते हैं जिसमें संज्ञा या क्रिया या सर्वनाम—एकाक्षर या बह्वक्षर पूरे वाक्य का भाव देते हैं। यहां संज्ञा और क्रिया में सत्त्व और भाव दोनों समकोटि हैं। नामों में भी भाव की प्रधानता कहीं-कहीं मिल जाती है। इसीलिए उसका व्याख्यान भाष्यकारों को क्रिया द्वारा करना पड़ा है। इसी भाषा में एक पद बने हुए वाक्यों के भी अवशेष हैं। धातुओं की उत्पत्ति और विकास का भी अनुमान इस भाषा के अध्ययन से सरलता से हो सकता है। इसमें संसार के समस्त भाषा परिवारों की विशेषताएं पर्याप्त मात्रा में मिल जाती हैं। अभी इस भाषा में संज्ञा और क्रिया आदि के अर्थों में स्थिरता नहीं आ पाई है। निपात और उपसर्ग भी संज्ञा और क्रिया का काम करते हैं। ऋग्वेद की भाषा के इस स्वरूप के सदृश भाषा का स्वरूप अन्य प्राचीन लेखों में अभी सुप्रतिपादित नहीं है। न अभी इस भाषा की प्रारूप एकाक्षर भाषा का कोई ग्रन्थ मिल पाया है। भाषा का यह स्वरूप मंत्रों को समझने में एक विकट समस्या उत्पन्न कर देता है।

२. वैदिक साहित्य ने मंत्रस्थ ज्ञान को वेद कहा है और उसका स्वरूप विलक्षण बताया है। वेद सर्वहुत यज्ञ पुरुष से उत्पन्न हुआ लोक कल्याणकारी ईश्वर का कथन, कर्म का स्रोत, तप, आयु और प्राण आदि का देने वाला और विश्वरूप है। वह शर्म का प्रदाता और देवों के निवास स्थान परम व्योम में स्थित है। वह वर्धनशील, परमात्मा का प्रकाशक और मनुष्य को प्रजापति की सन्तान बनाने वाला है। उसके अध्ययन और मनन से सब पापों से छुटकारा मिल जाता है। उस में समस्त सत्य ज्ञान का भण्डार है। उसका स्वरूप सत्य, हिंसारहित और प्रीतिजनक है। उस का जगत् के समस्त यज्ञमय भाव, स्थिति और पदार्थों से तादात्म्य है। वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित वेद का यह स्वरूप बहुत विस्तृत, व्यापक और विस्मयावह है। वेद ही समस्त जगत् का स्रोत है और शब्दब्रह्म है।

३. भाषा, स्वरूप और महिमाओं के कारण परिवर्तनशील परिस्थितियों में वेद का अवबोध कठिन होजाना स्वाभाविक ही था। परिणामतः वैदिक ऋषियों ने मंत्रकाल में ही वेदार्थ की प्रक्रिया को जन्म दे कर विकसित किया है। वहां यह प्रक्रिया पुनरुक्त अंशों में सविशेष मिलती है। अन्ब वर्णनों, शब्द प्रयोगों आदि में भी यह लक्षित होती है। शाखा संहिताओं में यह प्रक्रिया कुछ अधिक मात्रा में मिलती है। यहां ब्राह्मणों की विनियोग परम्परा की भी झांकियां मिलने लगतीं हैं।

४. वेदार्थ की इस प्रक्रिया का विस्तार ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है। वेद का मूल आधार यज्ञ है। पुरुष या परमात्मा से लेकर जीव और प्रकृति के परमाणु तक यज्ञ हैं। इस जगत् में कुछ भी ऐसा नहीं जो यज्ञ न हो, देव न हो। ये यज्ञ और देव वैदिक विज्ञान के मूल बीज हैं और इन के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान वेदार्थ की कुंजी है। ब्राह्मण ग्रन्थों का लक्ष्य इन दोनों कुंजियों के प्रयोग को सरल बनाना है।

५. ब्राह्मण काल तक वेदविषयक इन यज्ञ और देव का पर्याप्त विवेचन हो चुका था। यज्ञ और ब्रह्माण्ड का तादात्मय किया गया और सृष्टि में होने वाली प्रक्रियाओं के परिचायक यज्ञों का विस्तृत विवेचन किया गया। इस यज्ञ विस्तार का आधार मन्त्र ही हैं। ये ब्राह्मणकारों की अपनीं कल्पना पर आश्रित नहीं हैं। यहां वैदिक मूल लेखों का व्याख्यान मात्र प्रस्तुत किया गया है। इस व्याख्यान के संदर्भ में ही अनेकों वैदिक विषयो पर विचार किया गया है, भाषा के एकाक्षर रूप की झांकियां दी गई हैं, शब्द के व्यापक अर्थों के प्रतिपादक वेदों के मन्त्रों और उनके पदों के व्यापक और अनन्त स्वरूप, विषयो और अर्थों का अप्रत्यक्ष रूप से कथन किया गया है। एक स्थल पर तो इस तथ्य को इन्द्र के आख्यान द्वारा स्पष्टभी कहा गया हैं।

५. इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदार्थ को समझने के लिए महान् और विविध सामग्री भरी पड़ी है, जिस के आधार पर मन्त्रों का आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक व्याख्यान किया जा सकता है। ये तीनों अर्थ अधियज्ञ में भी अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस सामग्री में निरुक्त से भी अधिक निर्वचन और पर्याय-योजना मिलती है।

७. वेद से सम्बन्धित कुछ अन्य समस्याओं पर भी यहां प्रकाश मिलता है। यज्ञ के समस्त कर्मों को मन्त्र बोल कर किया जाता है। कुछ स्थल ऐसे प्रतीत होते है, जहां कर्म और उसके लिए प्रयुक्त मन्त्र के अर्थ में वैषम्य प्रतीत होता है। ब्राह्मण ग्रन्थ इस वैषम्य को स्वीकार नहीं करते हैं और दोनों में पूर्ण समन्वय मानते हैं।

८. इस काल तक मन्त्रों के साथ ऋषि और छन्दों के नामों का भी सम्बन्ध जुड़ गया था। ब्राह्मणों ने इन दोनों ही प्रकार के अनेक विध और रहस्यात्मक अर्थ और विवेचन किए हैं। सामान्यत. आज ऋषियों को मन्त्ररचयिता और छन्दों को मन्त्रों का अक्षर परिमाण माना जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों की सामग्री इसी स्थिति को यथावत् स्वीकार नही करती है। उनका वेदार्थ में उपयोग और उन्हें वेदार्थ विषयक परिभाषाएं मानती ज्ञात होती है।

९. वेदार्थ की इतनी विशाल, विविध, प्रामाणिक और उपयोगी सामग्री के कोष होने पर भी ब्राह्मणग्रन्थों के अध्ययन की घोर उपेक्षा की गई है। मैक्समूलर ने इन्हें पागलों का प्रलाप, अरोचक और भद्दा आदि कहकर इनके प्रति विराग उत्पन्न कर दिया। ब्राह्मणों की विचारधारा और सामग्री भाषाविज्ञान और धर्मविज्ञान आदि पर आश्रित तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली की कसौटी पर पूरी उतरती नहीं मालूम पड़ी। साथ ही एक और मान्यता भी मैक्समूलर आदि पाश्चात्य वेदमनीषियों ने प्रस्तुत की कि वेदकाल में मनुष्य अभी अपनी आदिम अवस्था में था। उसे विज्ञान का वैज्ञानिक परिचय नहीं था। उसकी सभ्यता और ज्ञान आदिम जातियों के सदृश ही हो सकते थे। अतः वेदमन्त्रों में ब्राह्मणों लेखों के आधार पर उत्कृष्ट ज्ञान और विज्ञान की सत्ता बताना अवैज्ञानिक और शशविषाणवत् है। ब्राह्मणग्रन्थों के लेख इस मान्यता के विरुद्ध जाते हैं। पाश्चात्य मनीषियों ने धार्मिक और राजनैतिक दृष्टियों से भी अपनी इस मान्यता को साग्रह प्रतिपादित किया और इसको पुरातत्त्व, मानवविज्ञान आदि की सहायता से पुष्ट करने का प्रयास किया।

१०. अतः यह स्वाभाविक ही था कि ये पाश्चात्य मनीषी ब्राह्मणग्रन्थों के अध्ययन की उपेक्षा करते और अपने विद्यार्थियों की उनमें अरुचि जागृत करते। इस प्रवृत्ति का अनिवार्य परिणाम सुव्यक्त है। पाश्चात्यों के द्वारा वेदाध्ययन के पुनरुद्धार के पश्चात् संहिताओं के समान ब्राह्मणों का व्यापक अध्ययन नहीं किया गया है, न उनकी सामग्री का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है और न मन्त्रों और ब्राह्मणों के लेखों में सम्बन्ध का विवेचन किया गया है। पाश्चात्य परम्परा पठित भारतीय विद्वानों ने भी इस ओर समुचित ध्यान नहीं दिया है। हाग, कीथ और कैलण्ड आदि ने कुछ ब्राह्मणग्रन्थों के और उनके अंशो के अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद मात्र किए गए हैं। उनकी बहिरंग परीक्षा भी की गई है।

११. पिछली शताब्दी में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सर्वप्रथम ब्राह्मणों की उपयोगिता और उनके वेदार्थ से घनिष्ट सम्बन्ध और वैदिक विज्ञान के ज्ञान के लिए अनिवार्यता का डिण्डिम घोष किया और उनके उपयोग का क्रियात्मक रूप भी अपने भाषणों, लेखों और वेदव्याख्यानों में प्रस्तुत किया। स्वामीजी का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा और बहुत से विद्वानों ने उनकी वेदार्थ शैली को अपनाया और ब्राह्मणों

का अध्ययन भी किया। परन्तु इस परम्परा में कोई उल्लेख्य कार्य आज तक प्रकाश में नहीं आया है। पं० बुद्धदेव ने शतपथब्राह्मण में एक पथ अवश्य लिखा। तथा पं० भगवद्दत्त और हंसराज आदि ने उनके आधार पर वेदविद्या का निदर्शन कराया।

१२. स्वामी दयानन्द के युग में ही पं० मधुसूदन जी ने ब्राह्मणों के विज्ञान पर आश्रित वेदविद्या के कुछ विवेचन प्रस्तुत किए। इनकी परम्परा में पं० मोतीलाल ने शतपथब्राह्मण का विज्ञान भाष्य प्रस्तुत किया, जिसमें सार से कहीं अधिक शब्द विस्तार पाया जाता है। परन्तु इस परम्परा में भी ब्राह्मणों का विश्लेषणात्मक और वेदार्थविषयक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इनसे अनुभूति लेकर वेद के मन्त्रों विषयों और कुछ परिभाषाओं का व्याख्यान किया है।

१३. ब्राह्मणग्रन्थों और उनकी सामग्री के समुचित और वैज्ञानिक अध्ययन के प्रति यह घोर उपेक्षा प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को खटकती थी। अतः समयक्रम से उसकी ओर ध्यान जाना आवश्यक था। इसका श्री गणेश डा० फतहसिंह ने अपनी दी वैदिक ऐटिमोलोजी में ब्राह्मणों के निर्वचनों की भाषा वैज्ञानिक समीक्षा प्रस्तुत कर किया। परन्तु उस धारा का आगे विकास न हो पाया।

१४. आर्यसमाज और ऋषिदयानन्द के वेदभाष्यों के साथ सम्पर्क से दयानन्द की वेदविषयक विचारधारा की समीक्षा की प्रवृत्ति जागृत होने पर दयानन्द की वेदभाष्य पद्धति की उपादेयता के मूल्यांकन में हमने ब्राह्मणों के विश्लेषणात्मक अध्ययन और वेदार्थ में इस सामग्री के उपयोग की विस्तृत योजना कल्पित की और इस अध्ययन के लिए उपयुक्त पात्रों की आवश्यकता अनुभव की। भगवत्कृपा से जयपुर आने के कुछ काल बाद ही डा० नाथूलाल पाठक ने शोधकार्य में रुचि व्यक्त की और कुछ विचारविमर्श के पश्चात् उन्होंने राजस्थान विश्वविद्यालय की पी० एच० डी० उपाधि के लिए वैदिक युग की ह्रासकालीन और अल्प सामग्री सम्पन्न होने पर पर भी हमारे सुझाव पर ऐतरेयब्राह्मण का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। डा० पाठक की प्रस्तुत कृति इसी सतत, सावधान, जागरूक और परिश्रमपूर्ण अध्ययन का परिणाम है।

१५. डा० पाठक ने इस कृति में ऐतरेय ब्राह्मण के विषयों का विश्लेषणात्मक अध्ययन नौ अध्यायों में प्रस्तुत किया है। पहले अध्याय में आप ने ऐतरेय ब्राह्मणकार द्वारा कर्मकाण्ड में विनियुक्त मन्त्रों की समीक्षा करते हुए ब्राह्मणकार की इस प्रतिज्ञा को यथार्थ बताया है कि मन्त्रों और कर्मकाण्ड में समन्वय है। इस प्रतिपादन में आपने बहुत से मन्त्रों के विवेचन सहित अर्थ प्रस्तुत किए हैं। इन अर्थों का आधार ऐतरेयकार के लेख हैं। आवश्यकतानुसार दूसरे भाष्यों से भी सहायता ली गई है। अनेक बार ये अर्थ सायण आदि से भिन्न हैं।

१६. दो अध्यायों में ऐतरेयब्राह्मण में उपलब्ध वैदिक पदों के पर्याय-समीकरणों और निर्वचनों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अगले पांच अध्यायों में वैदिक छन्दों, आख्यानों, ऋषियों, पुरोहित और देवताओं सम्बन्धी ऐतरेयकार के विचारों की समीक्षा की गई है। ग्रन्थ का पर्यवसान ब्रह्मपरिमर के प्रतिपादन से किया गया है। इस समस्त अध्ययन की सहायक बहुत सी सामग्री चित्रों और दो परिशिष्टों में दी है। अपने इस अध्ययन में डा० नाथूलाल पाठक ने ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध वेदार्थ सामग्री का पर्याप्त व्यापक अध्ययन प्रस्तुत किया है। आपने ब्राह्मणों के अध्ययन को एक नई दिशा और धारा दिखाई है और उसका मार्ग प्रशस्त किया है। इस धारा में आपका यह सर्वप्रथम सारभूत कार्य होने से चिरस्थायी और प्रेरणा का स्रोत रहेगा।

१७. डा० नाथूलाल पाठक ने अपने अध्ययन में औचित्य का सर्वत्र ध्यान रक्खा है। इसमें आपने आधुनिक वेदाध्ययन पद्धति का यथास्थिति आश्रय लिया है और उसका ब्राह्मणकार की शैली से समन्वय किया है। ग्रन्थनिर्माण में आपने विशाल वैदिक वाङ्मय का उपयोग किया है, और अपनी पुष्टि में उससे उद्धरण भी दिए हैं। निरुक्त, व्याकरण और अन्य ब्राह्मण इनके प्रमुख आधार हैं। डा० पाठक अपने विचार प्रवाह में सर्वत्र उदार, समीक्षक और वैदुष्यमय हैं। उनमें संकीर्णता, पक्षपात और दुराग्रह नहीं है। आपका निष्कर्ष है कि यह ब्राह्मण मन्त्रार्थ के परिज्ञान के लिए नहीं रचा गया है। इसमें प्रदर्शित विनियोगों से मुख्यतः याज्ञिकसारी वेदार्थशैली का ज्ञान प्राप्त होता है पर्यायों का विधान यज्ञक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए हुआ है। इसके सभी निर्वचन यज्ञ की पारिभाषिक शब्दावलि के अन्तर्गत आ जाते हैं। छन्दों का विकास यज्ञानुष्ठानों के लिए हुआ है। ऋषि और देवताओं के वे सहचर हैं और दिव्य शक्ति सम्पन्न हैं।

१८. डा० नाथूलाल पाठक की इस विद्वत्तापूर्ण और मार्गप्रदर्शक अनुपम और गौरव की पात्र रचना को वेदजगत् के सम्मुख प्रस्तुत होते देखकर मुझे महान् हर्ष हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि डा० पाठक वेद भगवान् की आराधना में इसी प्रकार सदा तत्पर रहेंगे। इस ग्रन्थ से उनके द्वारा निर्दिष्ट कठिन, दुर्गम और परिश्रमसाध्य धारा पर प्रत्येक ब्राह्मणग्रन्थ का अध्ययन प्रस्तुत करने में शोधविद्यार्थियों को प्रेरणा मिलेगी और आधुनिक वेदाध्ययन में एक नया मोड़ आजायगा। इस अध्ययन के पूरा होने पर ही ब्राह्मणग्रन्थों के पर्यायों और वैदिक परिभाषाओं का समुचित व्याख्यान सम्भव हो सकेगा। तथा वेदाध्ययन में आधुनिक भाषा वैज्ञानिक तुलनात्मक शैली का उचित स्थान निश्चित हो सकेगा।

आर–२ विश्वविद्यालय पुरी, सुधीर कुमार गुप्त

जयपुर

लेखकीय निवेदन

ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में विद्वानों की भिन्न-भिन्न धारणायें हैं। कुछ भारतीय विद्वान् इनको अपौरुषेय वेद कहकर पुकारते हैं। कतिपय विद्वान् इनको मानव चेतना का सर्वोच्च परिणाम बतलाते हैं। उनकी दृष्टि में ये ग्रन्थ आर्यों के धर्म और संस्कृति के प्राण स्वरूप हैं। इनमें यत्र तत्र बिखरे हुए बीजों द्वारा ही कालान्तर में भारतीय संस्कृति का विशाल वृक्ष अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ है। उपनिषद् ग्रन्थों को भी इन्हीं का अवान्तर भाग माना गया है।

पाश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर का कहना हैं कि "भारतीय साहित्य के विद्यार्थी को ब्राह्मण कितने ही रुचिकर प्रतीत हों, किन्तु साधारण पाठक की चित्त-वृत्ति इनके अध्ययन में बहुत ही कम रम पाती है। इनका बहुत सा भाग निरा बकवास है। बकवास भी हीन कोटि का बुद्धिवादी बकवास।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ब्राह्मणों से अनुभूति लेकर वैदिक पदों का आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत करते हैं। डा० फतहसिंह ने ब्राह्मणों में प्राप्त निर्वचनों का अध्ययन किया है। आर्यसमाज भी इनके आधार पर वेदमन्त्रों का अर्थ करना उचित समझता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तो इनका पद-पद पर आश्रय लिया है। डा० सुधीरकुमार गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध में ब्राह्मणों की वेद-भाष्य पद्धति पर एक विस्तृत अध्ययन लिखा है, जिसमें इनकी उपयोगिता प्रदर्शित की है।

उपर्युक्त विभिन्न एवं परस्पर विरोधी विचार-शृंखलाओं के अध्ययन से ब्राह्मणो के यथार्थ स्वरूप को जानने की एक आकुल जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इस जिज्ञासा की निवृत्ति ही इस शोध-प्रबन्ध का एकमात्र लक्ष्य या उद्देश्य है।

ब्राह्मणों के अध्ययन का महत्त्व इसलिए भी विशेष है कि इनमें वेदार्थ के लिए पुष्कल सामग्री भरी पड़ी है। वेदों के व्याख्यापरक ग्रन्थों के रूप में इनकी सत्ता प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। यही नहीं, इन ग्रन्थों में ही सर्वप्रथम आर्यमनीषियों ने अपने वेदार्थ विषयक चिन्तन को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है। इतना होने पर भी अब तक इन ग्रन्थों के विस्तृत अध्ययन की ओर विद्वानों की दृष्टि नहीं गई है।

प्रत्येक वेद के अपने ब्राह्मण हैं। ऋग्वेद ही वेदों में प्रथम गिना जाता है। उसके दो ब्राह्मण हैं—ऐतरेय और कौषीतकि। कौषीतकि ब्राह्मण ऐतरेय से विशेष

भिन्न नहीं है। अतः प्राचीनतम वेद के प्रथम ब्राह्मण को ही अध्ययन के लिए चुना गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण महिदास ऐतरेय की रचना है। इसमें चालीस अध्याय हैं। पांच अध्यायों को मिलाकर एक पंचिका कही गई है। प्रत्येक अध्याय में कण्डिकाओं की कल्पना है। पूरे ब्राह्मण में आठ पंचिकायें तथा दो सौ पचासी कण्डिकायें हैं। यह ब्राह्मण यज्ञ में होतृ नामक ऋत्विज् के विविध कार्य-कलाप का विवरण प्रस्तुत करता है। प्रथम दो पंचिकाओं में अग्निष्टोम का उल्लेख हुआ है। अग्निष्टोम ही सोमयागों की प्रकृति है। सोमयाग के सम्पूर्ण विधि-विधानों का निर्देशन ऐतरेय-कार को अभीष्ट नहीं है। इस ब्राह्मण में यज्ञ का आरम्भ दीक्षणीय इष्टि से किया गया है। सामान्यतया यज्ञ का प्रथम कर्म ऋत्विज्-वरण माना गया है। दीक्षणीय, प्रायणीय, प्रवर्ग्य तथा पशुइष्टि का विवरण प्रथम दो पंचिकाओं के अन्तर्गत आ जाता है। तृतीय व चतुर्थ पंचिका में प्रातः सवन, माध्यन्दिनसवन तथा सायं सवन के समय प्रयुज्यमान शस्त्रों का वर्णन मिलता है। साथ ही अग्निष्टोम की विकृतियों—उक्थ्य, अतिरात्र, तथा षोडशी यागों का भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाता है। पंचम में द्वादशाह तथा षष्ठ में कई सप्ताह तक चलने वाले सोम यागों में होता और उसके सहायक ऋत्विजों के कार्यों का पर्याप्त विवेचन किया गया है। सप्तम पंचिका का प्रधान विषय राजसूय यज्ञ है। इसी प्रसंग में शुनः शेप का विख्यात आख्यान भी दिया गया है। अष्टम पंचिका में ऐन्द्रमहाभिषेक तथा उसी के आधार पर चक्रवर्ती नरेशों के महाभिषेक की चर्चा की गई है।

इस प्रकार यद्यपि इस ब्राह्मण में यज्ञ प्रक्रिया और ऐतिहासिक तत्त्वों का भी पर्याप्त विवेचन हुआ हैं, तथापि उनका उस रूप में अध्ययन करना यहां अभिप्रेत नहीं है। इन विषयों का वेदार्थ और उसकी प्रक्रिया से जितना सम्बन्ध है, उतना ही अध्ययन यहा विभिन्न स्थलों पर प्रस्तुत किया गया है।

डॉ० ए० बी० कीथ ने आँग्ल अनुवाद के साथ ऋग्वेद के दोनों ब्राह्मणों में प्रस्तुत विषय के साम्य और वैषम्य का विवरण लिखा है। इनसे पूर्व मार्टिन हाग ने एक विस्तृत भूमिका के साथ ऐतरेय ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करवाया है। पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अपनी भूमिका के साथ हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। पंडित सत्यव्रत सामश्रमी का 'ऐतरेयालोचनम्' नामक संस्कृत ग्रन्थ निकला था, जिसमें इस ब्राह्मण का भौगोलिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। डा० मंगलदेव शास्त्री ने ऐतरेय और कौषीतकि पर्यालोचन में कतिपय विषयों से सम्बन्धित मूल सामग्री का संक्षिप्त संकलन दिया है। श्री हंसराज ने वैदिक कोष में अन्य ब्राह्मणों के पर्यायों के साथ इस ब्राह्मण के भी कुछ पर्याय संकलित किये हैं। परन्तु इसमें से किसी भी ऐतरेयब्राह्मण की सामग्री की वेदार्थ सम्बन्धी उपयोगिता या

अनुपयोगिता का सविस्तर या संक्षिप्त वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया गया है। ऐतरेय-ब्राह्मण की विषय सामग्री का इस दृष्टि से विस्तृत विवेचन देश या विदेश में अन्यत्र भी देखने में नहीं आ सका है। प्रस्तुत प्रबन्ध में ऐतरेयब्राह्मण की विविध सामग्री का अध्ययन करते हुए वेदार्थ में उसकी उपयोगिता का निर्धारण कर उक्त अभाव की पूर्ति करने का प्रयास किया गया है।

अस्तु, प्रस्तुत प्रबन्ध की मौलिकता को भलीप्रकार समझने के लिए प्रबन्ध के विभिन्न अध्यायों का सारांश देना उपयोगी होगा।

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत कर्म की अवतारणा करते हुए उसमें मन्त्रों के विनियोग की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। सभी कर्म ब्राह्मणों में सर्व-प्रथम मन्त्रों का विनियोग मिलता है। ऐतरेयकार ने विनियोग स्थापन के एकमात्र आधार–'रूपसमृद्धि भाव' पर प्रकाश डालते हुए क्रियमाण कर्म तथा उसके लिए उच्चारित मन्त्र के सामंजस्य की अनुभूति कराई है। रूपसमृद्धि का अनेकशः उल्लेख ऐतरेयब्राह्मण को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है। ब्राह्मणकार रूपसमृद्धि का कथन तीन प्रकार से करते हैं। कहीं वे रूपसमृद्धि की पूरी परिभाषा देते हैं, कहीं आंशिक परि-भाषा देते हैं और कहीं रूपसमृद्धि पद का उल्लेखमात्र कर देते हैं। विनियुक्त मन्त्रों में रूपसमृद्धि की सामान्य विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए बतलाया गया है कि रूप-समृद्धि प्रायः मन्त्रगत क्रिया तथा यज्ञ कर्म के साम्य के आधार पर होती है। ब्राह्मणकार मन्त्र में अर्थान्तर और विषयान्तर होने पर भी विनियोग द्वारा अन्य कर्म में मन्त्र को विनियुक्त करके रूपसमृद्धि का दिग्दर्शन करा देते हैं। कई बार एक मन्त्र को विभिन्न यज्ञ क्रियाओं के साथ विनियुक्त करके कर्मानुसार रूपसमृद्धि का आभास कराते हैं। कहीं कहीं ब्राह्मणकार ने क्रिया का अप्रत्यक्ष रूप से वर्णन करने वाले मन्त्रगत पदों में रूपसमृद्धि का विधान किया है।

इसके पश्चात् ऐतरेयब्राह्मण में रूपसमृद्धि प्रदर्शन के लिए चुने गये कर्मों की सूची प्रस्तुत की गई है। मन्त्रों के व्याख्यानों के आधार पर ब्राह्मणकार ने रूप-समृद्धि का प्रदर्शन छै प्रकार से किया है—मन्त्र का पूरा व्याख्यान देकर प्रतिपादित रूपसमृद्धि, मन्त्र के आंशिक व्याख्यान द्वारा रूपसमृद्धि, मन्त्रगत शब्दों के व्याख्यान द्वारा निर्दिष्ट रूपसमृद्धि, शब्द साम्य के आधार पर संकेतित रूपसमृद्धि, अवभासित रूपसमृद्धि और प्रस्फुट रूपसमृद्धि। रूपसमृद्धि के इस वर्गीकरण के अनुसार रूपसमृद्ध मन्त्रों का अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है। व्याख्यान मन्त्रों की सूची देते हुए इसी अध्याय में उनका ऐतरेयब्राह्मणकार को अभीष्ट व्याख्यान उपयुक्त विवेचन के साथ प्रस्तुत किया गया है। जिन मन्त्रों का ऐतरेयकार को सायणानुसारी अर्थ अभिप्रेत है, सामान्यतः उनका व्याख्यान नहीं दिया गया है।

अध्याय के अन्त में रूपसमृद्धि के प्रतिपादन से मन्त्रार्थ पर जो प्रकाश पड़ता

लेखकीय निवेदन

ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में विद्वानों की भिन्न-भिन्न धारणायें हैं। कुछ भारतीय विद्वान् इनको अपौरुषेय वेद कहकर पुकारते हैं। कतिपय विद्वान् इनको मानव चेतना का सर्वोच्च परिणाम बतलाते हैं। उनकी दृष्टि में ये ग्रन्थ आर्यों के धर्म और संस्कृति के प्राण स्वरूप हैं। इनमें यत्र तत्र बिखरे हुए बीजों द्वारा ही कालान्तर में भारतीय संस्कृति का विशाल वृक्ष अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ है। उपनिषद् ग्रन्थों को भी इन्हीं का अवान्तर भाग माना गया है।

पाश्चात्य विद्वानों में मैक्समूलर का कहना हैं कि "भारतीय साहित्य के विद्यार्थी को ब्राह्मण कितने ही रुचिकर प्रतीत हों, किन्तु साधारण पाठक की चित्त-वृत्ति इनके अध्ययन में बहुत ही कम रम पाती है। इनका बहुत सा भाग निरी बकवास है। बकवास भी हीन कोटि का बुद्धिवादी बकवास।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ब्राह्मणों से अनुभूति लेकर वैदिक पदों का आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत करते हैं। डा० फतहसिंह ने ब्राह्मणों में प्राप्त निर्वचनों का अध्ययन किया है। आर्यसमाज भी इनके आधार पर वेदमन्त्रों का अर्थ करना उचित समझता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तो इनका पद-पद पर आश्रय लिया है। डा० सुधीरकुमार गुप्त ने अपने शोध-प्रबन्ध में ब्राह्मणों की वेद-भाष्य पद्धति पर एक विस्तृत अध्ययन लिखा है, जिसमें इनकी उपयोगिता प्रदर्शित की है।

उपर्युक्त विभिन्न एवं परस्पर विरोधी विचार-शृंखलाओं के अध्ययन से ब्राह्मणो के यथार्थ स्वरूप को जानने की एक आकुल जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इस जिज्ञासा की निवृत्ति ही इस शोध-प्रबन्ध का एकमात्र लक्ष्य या उद्देश्य है।

ब्राह्मणों के अध्ययन का महत्त्व इसलिए भी विशेष है कि इनमें वेदार्थ के लिए पुष्कल सामग्री भरी पड़ी है। वेदों के व्याख्यापरक ग्रन्थों के रूप में इनकी सत्ता प्रायः सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। यही नहीं, इन ग्रन्थों में ही सर्वप्रथम आर्यमनीषियों ने अपने वेदार्थ विषयक चिन्तन को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है। इतना होने पर भी अब तक इन ग्रन्थों के विस्तृत अध्ययन की ओर विद्वानों की दृष्टि नहीं गई है।

प्रत्येक वेद के अपने ब्राह्मण हैं। ऋग्वेद ही वेदों में प्रथम गिना जाता है। उसके दो ब्राह्मण हैं—ऐतरेय और कौषीतकि। कौषीतकि ब्राह्मण ऐतरेय से विशेष

भिन्न नहीं है। अतः प्राचीनतम वेद के प्रथम ब्राह्मण को ही अध्ययन के लिए चुना गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण महिदास ऐतरेय की रचना है। इसमें चालीस अध्याय हैं। पांच अध्यायों को मिलाकर एक पंचिका कही गई है। प्रत्येक अध्याय में कण्डिकाओं की कल्पना है। पूरे ब्राह्मण में आठ पंचिकायें तथा दो सौ पचासी कण्डिकायें हैं। यह ब्राह्मण यज्ञ में होतृ नामक ऋत्विज् के विविधि कार्य-कलाप का विवरण प्रस्तुत करता है। प्रथम दो पंचिकाओं में अग्निष्टोम का उल्लेख हुआ है। अग्निष्टोम ही सोमयागों की प्रकृति है। सोमयाग के सम्पूर्ण विधि-विधानों का निर्देशन ऐतरेय-कार को अभीष्ट नहीं है। इस ब्राह्मण में यज्ञ का आरम्भ दीक्षणीय इष्टि से किया गया है। सामान्यतया यज्ञ का प्रथम कर्म ऋत्विज्-वरण माना गया है। दीक्षणीय, प्रायणीय, प्रवर्ग्य तथा पशुइष्टि का विवरण प्रथम दो पंचिकाओं के अन्तर्गत आ जाता है। तृतीय व चतुर्थ पंचिका में प्रातः सवन, माध्यन्दिनसवन तथा सायं सवन के समय प्रयुज्यमान शस्त्रों का वर्णन मिलता है। साथ ही अग्निष्टोम की विकृतियों-उक्थ्य, अतिरात्र, तथा षोडशी यागों का भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाता है। पंचम में द्वादशाह तथा षष्ठ में कई सप्ताह तक चलने वाले सोम यागों में होता और उसके सहायक ऋत्विजों के कार्यों का पर्याप्त विवेचन किया गया है। सप्तम पंचिका का प्रधान विषय राजसूय यज्ञ है। इसी प्रसंग में शुनः शेप का विख्यात आख्यान भी दिया गया है। अष्टम पंचिका में ऐन्द्रमहाभिषेक तथा उसी के आधार पर चक्रवर्ती नरेशों के महाभिषेक की चर्चा की गई है।

इस प्रकार यद्यपि इस ब्राह्मण में यज्ञ प्रक्रिया और ऐतिहासिक तत्त्वों का भी पर्याप्त विवेचन हुआ हैं, तथापि उनका उस रूप में अध्ययन करना यहां अभिप्रेत नहीं है। इन विषयों का वेदार्थ और उसकी प्रक्रिया से जितना सम्बन्ध है, उतना ही अध्ययन यहा विभिन्न स्थलों पर प्रस्तुत किया गया है।

डॉ० ए० बी० कीथ ने आँग्ल अनुवाद के साथ ऋग्वेद के दोनों ब्राह्मणों में प्रस्तुत विषय के साम्य और वैषम्य का विवरण लिखा है। इनसे पूर्व मार्टिन हाग ने एक विस्तृत भूमिका के साथ ऐतरेय ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करवाया है। पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अपनी भूमिका के साथ हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। पंडित सत्यव्रत सामश्रमी का 'ऐतरेयालोचनम्' नामक संस्कृत ग्रन्थ निकला था, जिसमें इस ब्राह्मण का भौगोलिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। डा० मंगलदेव शास्त्री ने ऐतरेय और कौषीतकि पर्यालोचन में कतिपय विषयों से सम्बन्धित मूल सामग्री का संक्षिप्त संकलन दिया है। श्री हंसराज ने वैदिक कोष में अन्य ब्राह्मणों के पर्यायों के साथ इस ब्राह्मण के भी कुछ पर्याय संकलित किये हैं। परन्तु इसमें से किसी भी ऐतरेयब्राह्मण की सामग्री की वेदार्थ सम्बन्धी उपयोगिता या

अनुपयोगिता का सविस्तर या संक्षिप्त वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया गया है। ऐतरेय-ब्राह्मण की विषय सामग्री का इस दृष्टि से विस्तृत विवेचन देश या विदेश में अन्यत्र भी देखने में नहीं आ सका है। प्रस्तुत प्रबन्ध में ऐतरेयब्राह्मण की विविध सामग्री का अध्ययन करते हुए वेदार्थ में उसकी उपयोगिता का निर्धारण कर उक्त अभाव की पूर्ति करने का प्रयास किया गया है।

अस्तु, प्रस्तुत प्रबन्ध की मौलिकता को भलीप्रकार समझने के लिए प्रबन्ध के विभिन्न अध्यायों का सारांश देना उपयोगी होगा।

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत कर्म की अवतारणा करते हुए उसमें मन्त्रों के विनियोग की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। सभी कर्म ब्राह्मणों में सर्व-प्रथम मन्त्रों का विनियोग मिलता है। ऐतरेयकार ने विनियोग स्थापन के एकमात्र आधार–'रूपसमृद्धि भाव' पर प्रकाश डालते हुए क्रियमाण कर्म तथा उसके लिए उच्चारित मन्त्र के सामंजस्य की अनुभूति कराई है। रूपसमृद्धि का अनेकशः उल्लेख ऐतरेयब्राह्मण को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है। ब्राह्मणकार रूपसमृद्धि का कथन तीन प्रकार से करते हैं। कहीं वे रूपसमृद्धि की पूरी परिभाषा देते हैं, कहीं आंशिक परि-भाषा देते हैं और कहीं रूपसमृद्धि पद का उल्लेखमात्र कर देते हैं। विनियुक्त मन्त्रों में रूपसमृद्धि की सामान्य विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए बतलाया गया है कि रूप-समृद्धि प्रायः मन्त्रगत क्रिया तथा यज्ञ कर्म के साम्य के आधार पर होती है। ब्राह्मणकार मन्त्र में अर्थान्तर और विषयान्तर होने पर भी विनियोग द्वारा अन्य कर्म में मन्त्र को विनियुक्त करके रूपसमृद्धि का दिग्दर्शन करा देते हैं। कई बार एक मन्त्र को विभिन्न यज्ञ क्रियाओं के साथ विनियुक्त करके कर्मानुसार रूपसमृद्धि का आभास कराते हैं। कहीं कहीं ब्राह्मणकार ने क्रिया का अप्रत्यक्ष रूप से वर्णन करने वाले मन्त्रगत पदों में रूपसमृद्धि का विधान किया है।

इसके पश्चात् ऐतरेयब्राह्मण में रूपसमृद्धि प्रदर्शन के लिए चुने गये कर्मों की सूची प्रस्तुत की गई है। मन्त्रों के व्याख्यानों के आधार पर ब्राह्मणकार ने रूप-समृद्धि का प्रदर्शन छः प्रकार से किया है—मन्त्र का पूरा व्याख्यान देकर प्रतिपादित रूपसमृद्धि, मन्त्र के आंशिक व्याख्यान द्वारा रूपसमृद्धि, मन्त्रगत शब्दों के व्याख्यान द्वारा निर्दिष्ट रूपसमृद्धि, शब्द साम्य के आधार पर संकेतित रूपसमृद्धि, अवभासित रूपसमृद्धि और प्रस्फुट रूपसमृद्धि। रूपसमृद्धि के इस वर्गीकरण के अनुसार रूपसमृद्ध मन्त्रों का अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है। व्याख्यान मन्त्रों की सूची देते हुए इसी अध्याय में उनका ऐतरेयब्राह्मणकार को अभीष्ट व्याख्यान उपयुक्त विवेचन के साथ प्रस्तुत किया गया है। जिन मन्त्रों का ऐतरेयकार को सायणानुसारी अर्थ अभिप्रेत है, सामान्यतः उनका व्याख्यान नहीं दिया गया है।

अध्याय के अन्त में रूपसमृद्धि के प्रतिपादन से मन्त्रार्थ पर जो प्रकाश पड़ता

है, उसका उल्लेख किया गया है। यहां मन्त्रार्थ पद्धति में देवताओं, ऋषियों और छन्दों में सामंजस्य है। समस्त देवों का पारस्परिक तादात्म्य है। देवतानामों के सामान्य अर्थ भी हैं। वैदिक पदों के अपने विशिष्ट अर्थ भी हैं। मन्त्रार्थ में वाग्ब्रह्म का योग भी अभिप्रेत है। ब्राह्मण में सामान्यतः याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ शैली का आभास मिलता है।

द्वितीय अध्याय में ब्राह्मण में आये हुए समस्त पर्यायों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यज्ञ, यज्ञोपकरण एवं यज्ञ की विभिन्न क्रियाओं में, विनियुक्त मंत्रों में आये हुये विशिष्ट पदों के अर्थ को हृदयंगम कराने के लिये ब्राह्मण में पर्यायवाची पदों का विधान मिलता है। पर्यायों के विषय में मैक्समूलर आदि विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए ब्राह्मणकार द्वारा पर्यायों के प्रदर्शन की विभिन्न शैलियों पर प्रकाश डाला गया है।

पर्यायों के निर्माण की स्थिति पर विचार करते हुए बतलाया गया है कि भाषा विज्ञान के सिद्धान्त इस विषय में लागू होते प्रतीत नहीं होते। श्री भगवद्दत्त द्वारा दिये गए पर्यायों के निर्माण के आधार भी वस्तु स्थिति को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर पाते हैं। अतः स्वतन्त्र परीक्षण के अनुसार ऐतरेयब्राह्मण के पर्यायों के आधार खोजे गए हैं। ये आधार जन्य-जनक भाव, विशेषण-विशेष्य भाव, साध्य-साधन साम्य, आधाराधेय भाव, तात्कर्म्य सम्बन्ध, परम्परा सम्बन्ध, समानगुणधर्म सम्बन्ध और सादृश्य भाव हैं। इनकी विस्तृत चर्चा की गई है। इस के पश्चात् ऐतरेयब्राह्मण में पर्याय पदों का दस शीर्षकों में वर्गीकरण कर उनका अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। निष्कर्ष में यह कहा गया है कि वेद के यज्ञ मूलक अर्थ करने में पर्यायों से पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

तृतीय अध्याय में ऐतरेयब्राह्मण की निर्वचन परम्परा पर प्रकाश डाला गया है। यह निर्वचन परंपरा शाखा संहिताओं द्वारा ब्राह्मणों में पर्याप्त रूप से विकसित हुई है। ऐतरेयब्राह्मण में निरुक्ति प्रदर्शक तीन शैलियों को दर्शाते हुए निरुक्त पदों को यज्ञनाम, शस्त्रस्तोम, यज्ञ के दिन विशेष, यज्ञीय धर्म व उपकरण, प्राकृतिक पदार्थ तथा प्रकीर्ण वर्गों में रखा गया है।

निर्वचनों का अकारादिक्रम से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ऐतरेयकार का मुख्य लक्ष्य निरुक्त पदों के अर्थ की यज्ञक्रिया के साथ सार्थकता बतलाना रहा है। पदों के निर्वचन के लिये तीन आधार अपनाये गये हैं। धातु के अर्थ के आधार पर, दो नामों के मेल से तथा तस्येदम् अथवा तस्यविकारः तद्धित के आधार पर निर्वचन प्रस्तुत हुये हैं। निर्वचनों की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मणकार जिन पदार्थों द्वारा कर्मों की सार्थकता बतलाते हैं,

उनके लिए प्रयुक्त क्रिया पदों में निरुक्ति के संकेत मिल जाते हैं । निर्वचनों पर यज्ञ की छाप है । प्रायः तीन चौथाई निर्वचन व्याख्यानात्मक हैं । अध्याय के अन्त में ऐतरेयकार द्वारा प्रदर्शित विशेष पदच्छेद का भी उल्लेख कर दिया गया है ।

चतुर्थ अध्याय में सर्वप्रथम ब्राह्मण में छंद कल्पना तथा यज्ञानुष्ठानों में छंदों का महत्त्व दिखाया गया है । छंद यज्ञ का एक आवश्यक तत्त्व माना गया है । छंदों का गाथेय चरित्र, देवों में छंदों का स्थान, विभिन्न पदार्थों एवं प्राणियों के सहचर रूप में छंद, उनका लाक्षणिक चित्रण और श्रेणीक्रम बतलाकर उनकी महिमा का आभास कराया गया है । इसके पश्चात् छन्दों के सरक्षण, भौतिक पदार्थों की प्राप्ति में सहायता, मनुष्यों का उन्नयन, कामनाओं का वर्षण आदि विभिन्न कार्यों पर प्रकाश डालते हुए उनके द्वारा सृष्टि का विवरण प्रस्तुत किया गया है । ब्राह्मणकार छदों को अलौकिक रूप में चित्रण करते हैं । ब्राह्मण में वर्णित प्रमुख छंदों को दिखाकर उनका विस्तृत व्यष्टिगत निरूपण प्रस्तुत किया है ।

इसी अध्याय के अन्तर्गत ब्राह्मण में तथा वैदिक वाङ्मय में प्रदर्शित छंद पद के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए उसके दार्शनिक अर्थ 'मूलतत्त्व' का प्रतिपादन किया है । वेदार्थ में छन्दों की उपयोगिता का उल्लेख करते हुई षड्.जादि स्वरों से छदों की उपयोगिता का सम्बन्ध दिखाया गया है ।

पंचम अध्याय में ऐतरेयब्राह्मण के आख्यानों का अध्ययन प्रस्तुत हुआ है । आख्यानों का मुख्य उद्देश्य याज्ञिक सिद्धान्तों को हृदयंगम कराना रहा है । यज्ञकर्म की प्रेरणा देने का कार्य भी इनके द्वारा सम्पन्न हुआ है । ब्राह्मण के आख्यानों को देवता सम्बन्धी, छंद सम्बन्धी, इतिवृत्तात्मक तथा प्रकीर्ण वर्गों में बांटकर उनका विस्तृत अध्ययन किया है ।ऐतरेयकार को आख्यानों के सूक्ष्म और स्थूल दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं । ब्राह्मण में प्रदत्तआख्यानों का वर्गीकरण करके इनके दोनों अर्थों पर प्रकाश डाला गया है ।शुनः शेप का आख्यान इस ब्राह्मण की विशेषता है । उसका विस्तृत अध्ययन इस अध्याय में कर दिया गया है ।

आख्यान प्रायः रूपकात्मक हैं । इनमें बड़ी गम्भीर और तात्त्विक बातों का संकेत मिलता है । आख्यानों में प्राप्त विविध वर्णनों द्वारा तात्कालिक समाज और संस्कृति का सुचारु रूप से अध्ययन किया जा सकता है ।

षष्ट अध्याय में ऋषि के स्वरूप का विवेचन किया गया है । ब्राह्मणकार ने ऋषियों को मन्त्रकर्ता और सूक्तद्रष्टा कहकर स्मरण किया है । ब्राह्मण में वर्णित समस्त ऋषिनामों की सूची भी साथ ही दे दी गई है । ऋषियों के मन्त्रकर्त्ता और सूक्तद्रष्टा रूपों का विवेचन करते हुए कहा गया है कि ऋषि प्राणवाचक भी हैं तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों के द्योतक भी हैं ।

ब्राह्मणकार ने कुछ सूक्तों के ऋषियों का निर्देश करते हुए सूक्त में विद्यमान विषय का भी संकेत किया है। इस प्रकार के उल्लेखों द्वारा वेदार्थ के संकेत भी इनमें प्राप्त हो जाते हैं। ऋषियों का सामान्य स्मरण उन्हें प्राणवाची सिद्ध करता हैं तथा यज्ञविधियों के आविष्कर्ता और पौरोहित्य कर्म के सम्पादक के रूप में उनका स्मरण ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में होता है।

सप्तम अध्याय में पुरोहित के स्वरूप का कथन किया गया है। पुरोहित को वैश्वानराग्नि का रूप माना गया है। वह निरा हाड़मांस का पुतला न समझा जाकर साक्षात् अग्नि स्वरूप समझा गया है। ब्राह्मणकार ने पुरोहित की आवश्यकता पर बड़ा बल दिया है। पुरोहित के बिना यज्ञ कर्म की सम्पन्नता सिद्ध नहीं होती। इसी अध्याय में पुरोहित का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए उसकी संघटन और विघटन की शक्ति का कथन किया गया है।

इसके अनन्तर पुरोहित शब्द के अर्थ, योग्यता आदि पर प्रकाश डाला गया है। पुरोहित में पांच विघ्नकारक शक्तियों का उल्लेख करते हुए उनकी शांति के उपायों का निर्देश किया गया है।

अष्टम अध्याय में ब्राह्मणकार द्वारा प्रदर्शित देवों के सामान्य स्वरूप को दिखलाते हुये देवतत्त्व का विश्लेषण किया है। देवों के निश्चित स्वरूप का वर्णन ब्राह्मण में नहीं मिलता। उनको कहीं विविध प्राकृतिक दृश्यों के रूप में चित्रित किया गया है तो कहीं शरीरस्थ इन्द्रियशक्ति के रूप में उन्हें देखा गया है।

ब्राह्मणकार द्वारा प्रदर्शित एक उल्लेखनीय बात यह है कि देवताओं में कर्म की प्रधानता है। वे कर्म के द्वारा ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बन सकते हैं। ऐतरेयब्राह्मण में तैंतीस देवताओं की कल्पना पर जो प्रकाश डाला गया है, उसका विश्लेषण भी यहां दे दिया गया है। सोमपा तथा असोमपा देवताओं की कल्पना भी इस ब्राह्मण में मिलती है।

देवतावाची शब्दों को यज्ञवाची शब्दों से मिलाने पर सभी देवताओं का अन्तर्भाव यज्ञ में हो जाता है। इसी अध्याय में देवताओं की आपेक्षिक महत्ता लेकर बहुस्तुत, अल्पस्तुत तथा अत्यल्पस्तुत वर्गों में ब्राह्मणोल्लिखित देवों को बांटकर उनका विश्लेषण दे दिया है। अध्याय के अन्त में प्रसंगवश असुरों का उल्लेख भी कर दिया गया है।

नवम अध्याय में ब्रह्मपरिमर क्रिया का उल्लेख करते हुए उपसंहारात्मक अवेक्षण दिया है। इसमें बताया है कि आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साम्य के आधार पर ही यज्ञों की कल्पना की गई है। याज्ञिक प्रक्रियानुसार किया गया

वेदार्थ वेद का मुख्य अर्थ नहीं है, उसे तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक वेदार्थ को समझने की कुंजीमात्र समझना चाहिये ।

'ब्रह्म परिमर क्रिया' ऐतरेयब्राह्मण की अपनी विशेषता है । यह क्रिया ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में दी गई है। इस पर विचार करने से प्रतीत होता है कि ब्राह्मणकार को कर्म के साथ ज्ञान का समन्वय अभीष्ट है ।

ब्रह्म परिमर क्रिया के स्वरूप का कथन करते हुए इसका विश्लेषण दिया गया है । इसके अन्तर्गत अन्तरिक्ष के सृजन का ही विशेष रूप से विवरण प्रस्तुत हुआ है । इस क्रिया में स्थूल की सूक्ष्म में तथा सूक्ष्म से स्थूल की क्रमशः सृष्टि प्रदर्शित की गई है । इसे हम अनुलोम-प्रतिलोम-विज्ञान के नाम से भी पुकार सकते हैं । ब्रह्मपरिमर के ज्ञान द्वारा ब्राह्मणकार ने ज्ञान यज्ञ की प्रतिष्ठा की है । उन्होंने ग्रन्थ को द्रव्य यज्ञ से प्रारम्भ करके ज्ञानयज्ञ पर समाप्त किया है ।

राजस्थान प्रदेश के राज्यपाल महामहिम डॉ० सम्पूर्णानन्द का वैदिक शोध-क्षेत्र में मूर्धन्य स्थान है । आपकी क्रांतिदर्शिनी प्रतिभा एवं जीवन व्यापिनी साधना से केवल वेद का अर्थ ही स्पष्ट नहीं हुआ, प्रत्युत् हमारी संस्कृति के अनेक गुह्य अभिप्राय तथा उसका अखण्डत्व प्रकाश में आया है । अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी आपने प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका लिखने की जो महती कृपा की है, उसके लिए मैं विनम्रतापूर्वक आभार प्रदर्शन करता हूं ।

यह शोध प्रबन्ध आदरणीय डा० सुधीरकुमार गुप्त के अमूल्य निर्देशन का परिणाम है । उन्हीं की सतत प्रेरणा, मार्गदर्शन व स्नेह पाकर मैं इसे लिख सका हूँ । आपने इस ग्रंथ की प्रस्तावना लिखने का भी कष्ट किया है । मैं अपने पर आपका निश्छल प्रेम पाकर अपने को गौरवान्वित अनुभव करता हूं । श्रद्धेय प्रेमनिधि शास्त्री ने इस प्रबन्ध के लेखन की प्रेरणा और निरन्तर प्रोत्साहन प्रदान किया है । इसके लिए आपका मैं परम कृतज्ञ हूं ।

ग्रंथ के प्रस्तुतीकरण में मैंने डा० सिद्धेश्वर वर्मा, डा० मंगलदेव शास्त्री, डा० सूर्यकान्त, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० एन० एन० चौधरी, डा० फतहसिंह, डा० पी० एल० वैद्य, डा० वेंकटेश्वरम्, डा० आर० एन० दाण्डेकर, डा० के० आर० पोद्दार, श्री सी० जी० काशीकर, पंडित भगवद्दत्त, डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा आदि विद्वानों के ग्रन्थों, लेखों और भाषणों से सहायता और अनुभूति ली है । इन सब महानुभावों का मैं हृदय से आभारी हूं ।

राजस्थान विश्वविद्यालय ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए १०००) का अनुदान दिया है। इस अनुदान से ही इस ग्रन्थ के समारम्भ की कल्पना साकार हो सकी है। उक्त आर्थिक सहायता के लिए मैं राजस्थान विश्वविद्यालय के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

ग्रन्थ का प्रकाशन श्री रोशनलाल जैन द्वारा बड़ी तत्परता के साथ किया गया है। साधन विहीन होते हुए भी श्री जैन ने यह कार्य समय पर समाप्त कर दिया है। अतः आप बधाई के पात्र हैं।

३१८, लाडपुरा, कोटा
बसंत पंचमी सं० २०२२

विनीत—
नाथूलाल पाठक

ऐतरेयब्राह्मण में रूपसमृद्धि

यज्ञ में मंत्रों के विनियोग की आवश्यकता

ऐतरेय, शतपथ, गोपथ आदि कर्म-ब्राह्मणों[1] में विभिन्न कर्मों के सम्पादन के लिये मंत्रों का प्रयोग बतलाया गया है। उदाहरण स्वरूप, ऐतरेयब्राह्मण[2] में मथी जाती हुई अग्नि के लिये 'अभित्वादेव'[4] पदों से तथा शतपथब्राह्मण[3] में दीक्षित को शाला में प्रवेश कराते हुये "या ते धामानि हविषा"[5] पदों से प्रारम्भ होने वाले ऋक्मंत्रों का उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार शौनक ने वृहद्देवता में ऋग्वेद १०-७१.१० का विनियोग बतलाते हुये कहा है—

"इसमें विद्वान् की प्रशंसा की गई है तथा अन्तिम पदों में यज्ञ के अन्तर्गत चारों ऋत्विजों और उनके कर्मों का विनियोग बतलाया गया है"[6] अन्य स्थल पर शौनक कहते हैं—[7]

---

१. भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय संहिता भाष्य १.८.१ की भूमिका में लिखा है- द्विविधं ब्राह्मणम्। कर्मब्राह्मणं कल्पब्राह्मणं चेति। आगे चलकर वे कहते हैं कि कर्मब्राह्मण वह है जो केवल कर्मों का विधान करता है और मंत्रों का विनियोग करता है। कल्पब्राह्मणों में मंत्रों का पाठ मात्र है, विनियोग नहीं। विस्तार के लिये भगवद्दत्त कृत "वैदिक वाङ्मय का इतिहास"-द्वितीय भाग पृष्ठ ४-५ द्रष्टव्य हैं।

२-ऐ० ब्रा० १. १६।

४-ऋ० १-२४. ३।

३-श० ब्रा० २. ३. ४. ३०।

५-ऋ० १-९१ १९।

६-"प्रशस्यते दशम्या तु विद्वानुतमया त्वृचा।
यज्ञे महर्त्विजामाह विनियोगं च कर्मणाम्।"

बृ० दे० ७. ११३।

७-"इन्द्र द्रक्षेऽति विश्वेषाम् उदित्यत्विक्स्तुतिः परम्।
शक्तिप्रकाशनेनैषां विनियोगोऽत्र कीर्त्यते।"

बृ० दे० ८. २०।

"हे इन्द्र, शत्रुओं को मारो"[1] यह सब देवताओं के लिये है। निम्न उद्बोधन ऋत्विजों की स्तुति में है।[2] यहां ऋत्विजों की शक्ति का प्रदर्शन करते हुये इसका विनियोग प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत उद्धरणों से यह विदित होता है कि यज्ञ के प्रधान[3] अथवा आनुषंगिक[4] कर्मसमूह में देवों के आह्वान, उनकी स्तुति, उनसे अभीष्ट फल की याचना आदि के लिये मंत्रों के विनियोग की आवश्यकता होती है।[5]

विनियोग का आधार : रूपसमृद्धि

ऐतरेयब्राह्मणकार ने यज्ञ में क्रियमाण तत्तत् क्रियाकलाप को साक्षात् कहने वाले मंत्र के विनियोग को यज्ञ की समृद्धि (श्रेष्ठता) कहा है। वे रूपसमृद्धि को विनियोग का आधार मानते हैं। उनके अनुसार रूपसमृद्धि का लक्षण निम्न प्रकार है—

"जो रूपसमृद्धि है, वही यज्ञ की समृद्धि है। रूपसमृद्धि वह क्रियमाण कर्म है, जिसका कथन ऋचा द्वारा किया जा रहा हो।"[6]

स्पष्टीकरण के लिये ऐ० ब्रा० १. १६ से अग्नि-स्थापन का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

सोम के आगमन पर जब अग्नि का मन्थन हो चुकता है, तब अग्नि को आहवनीय कुंड में स्थापित किया जाता है। इसके लिये "प्र देवं देववीतये भरता"[7]

१-ऋ० १-१००. १। २-ऋ० १०-१०१. १।

३-ऐ० ब्रा० १. १६ में सोम के आगमन पर अग्नि का मन्थन किया जाता है। अग्नि का मन्थन प्रधान कर्म है।

४-अग्नि मन्थन के प्रसंग में ही ऐ० ब्रा० १. १६ में अग्नि समर्धन तथा दुष्ट (राक्षस)-विनाशन के लिये क्रमशः ऋ० ६-१६. १३-१५ तथा ऋ० १०-११८. १-९ का पाठ किया जाता है।

५-यथा अग्नि के आह्वान के लिये "अग्न आयाहि वीतये" (ऋ० ६-१६. १०) पदों वाले ऋक्मंत्र का विनियोग विहित है (ऐ० ब्रा० ७.६) तथा स्तुति और अभीष्ट प्राप्ति के लिये "सोम यास्ते मयोभुव" (ऋ० १-९१. ९-११) पदों वाले ऋग्वेद के तीन मंत्रों का विनियोग किया गया है (ऐ० ब्रा० १. १३)।

६-एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं
यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।

ऐ० ब्रा० १, ४, १३, १६ इत्यादि।

७-ऋ० ६-१६. ४१।

पदों से प्रारम्भ होने वाली ऋचा का पाठ किया जाता है। इस ऋचा में स्थापन-कर्म का भाव निहित है, अतः अर्थ इस प्रकार है—

"हे अध्वर्युगण, आप लोग (देवम्) द्योतमान्, (वसुवित्तमम्) सोम को प्राप्त कराने वाले अग्नि को (देववीतये) देवों तक जाने के लिये (प्रभरत) आहवनीय अग्नि में स्थापित करो। वह अग्नि (स्वे योनौ) अपने कारण स्थान आहवनीय में (आनिषीदतु) भली प्रकार उपवेशन करे।"

ऐतरेयब्राह्मणकार ने बतलाया है कि यहां आहवनीय में अग्निस्थापन-कर्म का मंत्र द्वारा कथन किया गया है। "आस्वे योनौ निषीदतु" का तात्पर्य है कि जो यह (आहवनीय) अग्नि है, वही इस (सद्योमथित) अग्नि का अपना कारण-स्थान है, मन्त्रार्थ की रूपसमृद्धि के लिये अग्नि के सोमप्रापण और देवों तक गमन का भाव भी ब्राह्मणकार को अभिप्रेत है।

ऐतरेयब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में रूपसमृद्धि का दिग्दर्शन—

चारों वेदों की विभिन्न संहिताओं से सम्बन्धित वैदिक पदानुक्रम कोष[1] के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तैत्तिरीय संहिता[2] को छोड़कर अन्यसंहिताओं में "रूपसमृद्धि" शब्द का उल्लेख नहीं है।

उक्त संहिता के इस स्थल पर भी रूपसमृद्धि का भाव यही है। अग्न्याधान के प्रसंग में सावित्र्याहुति तथा अभ्रिस्वीकरण[3] के प्रसंग में बतलाया गया है-

"अग्नि देवों के पास से निलीन हो गया। उसने वेणु में प्रवेश किया। वह वेणु के सुषिर (छिद्र) रूपी ऊति के पीछे-पीछे चलता रहा। वेणु का सुषिर ही समान योनि होने के कारण अभ्रि है। अग्नि जहां-जहां रहा, वह-वह स्थान कृष्ण होगया। इसी कल्माषी होने में रूपसमृद्धि निहित है।[4]

यहां रूपसमृद्धि को अधिक स्पष्ट करते हुये कहा गया है-"वेणु के मध्य में संचरण करता हुआ अग्नि जिस स्थान पर रहा, वह स्थान जल जाने से काला

१-वै० प० को०-विश्वबन्धु संकलित, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान-पृ० २६८५।

२-तै० सं० ५. १. १. ४।

३-ऊखा के निर्माण के लिये मिट्टी खोदने का काष्ठ-विशेष अभ्रि कहा जाता है-
"अत्रोखां निर्मातुं मृत्खननीया, खननहेतुः काष्ठविशेषोऽभ्रिः।
तै० सं० ५. १. १. ४।

४-"अग्निर्देवेभ्यो निलायत स वेणुं प्राविशत्स एतामूतिमनु
समचरद्वेणोः सुषिरं सुषिराऽभ्रिर्भवति सयोनित्वाय।"
"सयत्र यत्रावसत्तत्कृष्णमभवत्कल्माषी भवति रूपसमृद्ध्यै।"
तै० सं० ५. १. १. ४।

होगया । अतः अग्नि के निवास (आहवनीय) को बताने के लिये अभ्रि को कल्माषी, कृष्णबिन्दु-लांछित बनाना चाहिये । ऐसा होने पर अभ्रि का रूप चित्र-विचित्र हो जायेगा, जिससे रूपसमृद्धि दिखाई देगी । यजमान के द्वारा रूपसमृद्धि इसी प्रकार दिखाई जाती है ।[1]

ब्राह्मणग्रन्थों में केवल गोपथ-ब्राह्मण ही ऐसा ब्राह्मण है, जिसमें ऐतरेयब्राह्मण की रूपसमृद्धि से सम्बन्धित शब्दावलि का अक्षरशः अनुकरण किया गया है । गोपथ-ब्राह्मण में रूपसमृद्धि-प्रदर्शक निम्न वाक्य की दोबार आवृत्ति हुई है–

"एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्मक्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति ।"[2]

उक्त वाक्य में ऐतरेयब्राह्मणोल्लिखित वाक्य से "यजु" शब्द अधिक मिलता है । ऐतरेयब्राह्मणकार ऋचाओं तक ही सीमित हैं, किन्तु गोपथब्राह्मणकार द्वारा इस सीमा को तोड़ दिया गया है । गोपथ में ऋचाओं और यजुषों-दोनों का ग्रहण हुआ है ।

ऐतरेयब्राह्मण में रूपसमृद्धि के प्रदर्शन की शैली

ऐतरेयब्राह्मण में रूपसमृद्धि शब्द कुल मिलाकर तेंतीस बार प्रयुक्त हुआ है । जहां-जहां इस शब्द का प्रयोग किया गया है, वहां-वहां विशेषरूप से रूपसमृद्धि का कथन हुआ है । रूपसमृद्धि का कथन ब्राह्मणकार ने तीन प्रकार से किया है–

क–रूपसमृद्धि की पूरी परिभाषा देते हुये ।

ख–रूपसमृद्धि की अधूरी परिभाषा बतलाते हुये ।

ग–केवल 'रूपसमृद्धि' शब्द का प्रयोग करते हुये ।

क–पहले प्रकार में उन्होंने पूरा वाक्य इस प्रकार दिया है—

(आग्नावैष्णव्यां रूपसमृद्धे "एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्मक्रियमाण-मृगभिवदति । ऐ० ब्रा० १. ४ ।

रूपसमृद्धि–विषयक ऐसे लक्षण–वाक्यों की आवृत्ति ऐतरेय-ब्राह्मण में ग्यारह स्थलों[3] पर हुई है ।

१–"वेणु मध्ये संचरन्नग्निरयस्मिन्यस्मिन्स्थाने वासमकरोत्तत्तत्स्थानं दाहेन-कृष्णमभवत् । अतोऽग्निनिवासं द्योतनायाभ्रिः कल्माषी कृष्णबिन्दुलांछिता कर्तव्या । तथा सत्यभ्रिरूपस्यचित्रत्वात्समृद्धिर्दृश्यते । यजमानस्य च रूपसमृद्धिर्भवति ।"

तै० सं० ५. १. १. ४ ।

२–गो० ब्रा० २. २. ६ तथा २. ४. २ ।

३–ऐ० ब्रा० १.४, १.१३, १.१६, १.१६, १.१७, १.१७, १.२५, १.२८, १.२९, १.३०, तथा २.२ ।

इन स्थलों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि एक स्थल को छोड़कर सभी स्थलों का समावेश प्रथम-पंचिका के अन्तर्गत ही हो गया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतरेयब्राह्मणकार ग्रन्थारम्भ में ही अध्ययनकर्त्ताओं को रूपसमृद्धि समझा देना उचित समझते हैं, अथवा रूपसमृद्धि की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

ख–दूसरी शैली के अनुसार उनका कथन इस प्रकार है—

"यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्।" ऐ० ब्रा० १. १६।

इस प्रकार का कथन ऐतरेयब्राह्मण में पन्द्रह बार[1] हुआ है।

ग–तीसरी शैली के अन्तर्गत–"हविष इति रूपसमृद्धा प्रस्थितस्येति रूपसमृद्धा"- इस प्रकार के वाक्यों में रूपसमृद्ध शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार का उल्लेख सम्पूर्ण ब्राह्मण में सात बार[2] हुआ है।

इन विभिन्न शैलियों में एक बात विशेष रूप से देखने को मिलती है। वह यह है कि एक ही कर्म में प्रयुक्त हुए मंत्रों की रूपसमृद्धि का उल्लेख ब्राह्मण के स्थल-विशेष पर एकाधिक बार हो जाता हैं तथा एक कर्म के मंत्रसमूह में दो शैलियों का उपयोग भी कर लिया जाता है।

उदाहरण के लिये ऐ० ब्रा० १.२८ को लिया जा सकता है। इसमें अग्नि-प्रणयन कृत्य का वर्णन हुआ है। उल्लेख आया है कि यजमान वैश्य हो तो वह जगती छन्द वाला मंत्र बोले। आरम्भ में "अयमिहप्रथमोयायि"[3] मंत्र देकर बतलाया गया है कि यह जगती छन्द वाला मन्त्र है। इसमें विश् शब्द वैश्य का वाची है, अत: रूपसमृद्ध है। इस मंत्र की रूपसमृद्धि का कथन दूसरे प्रकार की शैली द्वारा किया गया है। इस कर्म के अन्त में कहा गया है कि ये आठ ऋचायें रूपसमृद्ध हैं। यद्यपि इन आठ मंत्रों में से ऊपर निर्दिष्ट मंत्र की रूपसमृद्धि का वर्णन पहले किया जा चुका था, फिर भी अधिक स्पष्टता के लिये प्रथम शैली द्वारा भी रूपसमृद्धि का कथन कर दिया गया है।

इसी प्रकार ऐ० ब्रा० २.२ में एक ही कर्म (यूप का उच्छ्रयन) के लिये प्रथम तथा द्वितीय शैली द्वारा रूपसमृद्धि का उल्लेख किया गया है।

विनियुक्त मंत्रों में रूपसमृद्धिः सामान्य विशेषतायें

(अ) ऐतरेयब्राह्मण में रूपसमृद्धि प्रायः मंत्रगत-क्रिया तथा यज्ञ-क्रिया के साम्य के आधार पर प्रदर्शित की गई है।

१–ऐ० ब्रा० १.१६, १.१६, १.१६, १.१६, १.१६, १.१६, १.१६, १.२१, १.२१, १.२२, १.२२, १.२८, २.२, ४.६ तथा ७.३३।

२–ऐ० ब्रा० २.१०, ३.२६, ४.२६, ६.६, ६.१०, ६.११, तथा ६.१२।

३–ऋ० ४-७.१।

उदाहरण के लिये ऐ० ब्रा० १. १६ में अग्नि का मंथन करते समय तीन ऋचाओं का[1] पाठ किया जाता है। ये ऋचायें अग्नि को समृद्ध करने के लिये पढ़ी जाती हैं। इनमें से प्रथम ऋचा में "निरमंथत" क्रिया का अग्नि के मंथन-कर्म से साम्य होने के कारण इसमें रूपसमृद्धि बतलाई गई है।

इसी प्रकार इसी प्रसंग में[2] राक्षसों को मारने वाले, दो एक या अधिक मंत्रों के पाठ से अग्नि उत्पन्न हो जाय तो उत्पत्ति को बतलाने वाली ऋचा[3] को पढ़ा जाता है।

उक्त मंत्र में "अजनि" क्रिया का उत्पत्ति कर्म के साथ समन्वय होने से इसमें रूपसमृद्धि का दिग्दर्शन कराया गया है।

(आ) ऐतरेयब्राह्मणकार मंत्र में अर्थान्तर और विषयान्तर होने पर भी विनियोग द्वारा अन्य कर्म में विनियुक्त करके उसमें रूपसमृद्धि बतला देते हैं। ऐसे स्थलों पर ऐतरेयकार के विनियोगानुसार मन्त्रार्थ करना अभीष्ट है। एवंविध अभीष्ट कतिपय मन्त्रार्थ आगे यथास्थान उपस्थित किये जायेंगे, अन्यथा उनका रूपसमृद्धि-प्रदर्शन असंगत हो जाता है।

इस प्रकार की रूपसमृद्धि दो रूपों में प्रकट होती है—

१—कार्य के स्थान पर कारण की आराधना द्वारा।

२—आधेय के स्थान पर आधार की आराधना द्वारा।

निम्नांकित उद्धरणों से इनका स्पष्टीकरण किया जा रहा है—

ऐ० ब्रा० १. १६ के प्रारम्भ में सोम के आगमन पर अग्नि का मंथन किया जाता है। अध्वर्यु होता से मथी जाती हुई अग्नि के लिये मंत्र पढ़ने को कहता है। इस पर वह अग्नि का मंत्र न पढ़कर सविता का मंत्र पढ़ता है। मंत्र की सार्थकता या रूपसमृद्धि का उल्लेख करते हुये ऐतरेयब्राह्मणकार बतलाते हैं कि सविता सभी उत्पत्तियों का स्वामी है। सविता की प्रेरणा से ही अग्नि मथी जाती है, इसीलिये सविता-विषयक मंत्र पढ़ा जाता है।[5]

उक्त प्रसंग का परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि सविता कारण है तथा अग्नि कार्य। अग्नि के स्थान पर सविता की आराधना कार्य के स्थान पर कारण की आराधना है। अतः यहां जो रूपसमृद्धि दिखाई गई है, वह कारण को कार्य के स्थान पर ग्रहण करके दिखलाई है।

इसी प्रकार अग्निमंथन के इसी प्रसंग में द्यावा-पृथिवी का मंत्र[6] पढ़ा जाता है। द्यावा-पृथिवी का मंत्र मथन की जाती हुई अग्नि के लिये किस प्रकार सार्थक

१-ऋ० ६-१६.१३-१५।
२-ऐ० ब्रा० १. १६।
३-ऋ० १-७४. ३।
४-ऋ० १-२४. ३।
५- ऐ० ब्रा० १. १६।
६-ऋ४-५६ १।

है—इसका उत्तर प्रस्तुत करते हुये ऐतरेयकार ने बतलाया है कि जब अग्नि उत्पन्न हुआ, तब देवों ने उसे द्यौ और पृथिवी के बीच में ग्रहण किया था तथा उन्हीं के बीच उसे पकड़ कर रखा था।[1]

अग्नि आधेय है तथा द्यावापृथिवी आधार है।[2] यहां आधेय के स्थान पर आधार की आराधना करके रूपसमृद्धि का उल्लेख किया गया है।

(इ) कई बार विभिन्न यज्ञ-क्रियाओं के साथ एक ही मंत्र को विनियुक्त किया गया है। यहां कर्मानुसार रूपसमृद्धि अभिप्रेत है। संभवतः ऐसे स्थलों पर ऐतरेयकार उस मंत्र के क्रियानुसारी भिन्न-भिन्न अर्थ करना चाहते हों। यथा—

"अभित्वा देव सविता"[3] —मंत्र ऐतरेयब्राह्मण में तीन विभिन्न क्रियाओं के साथ जुड़ा हुआ है—

(१) ऐ० ब्रा० १. १६ में यह मंत्र मथन की जाती हुई अग्नि के लिये पढ़ा जाता है। इसकी रूपसमृद्धि का कथन ऊपर किया जा चुका है।

(२) ऐ० ब्रा० १. २२ में यह मंत्र प्रवर्ग्य के अन्तिम मन्त्रों में सम्मिलित है और उसे रूपसमृद्ध माना गया है।

(३) ऐ० ब्रा० ५. १७ में इस मंत्र का पाठ सविता के निविद सूक्त के अन्तर्गत किया जाता है। इस मंत्र में आये हुये "अभि" पद को "प्र" का स्थानीय मानकर इसे सातवें दिन का रूप घोषित किया है तथा रूपसमृद्धि बतलाई गई है। ऐ० ब्रा० २. ४० में "प्र" को प्राण का द्योतक माना है तथा ऐ० ब्रा० १. १९ में सविता को प्राण कहा है।

(४) ऐ० ब्रा० ७. १६ में यही मंत्र शुनःशेप-आख्यान में प्रस्तुत हुआ है। वहां इस मंत्र का पाठ करके शुनःशेप सविता के पास जाता है। अग्नि, शुनःशेप को सविता की स्तुति करने को इसलिये कहता है कि सविता प्रसवों (उत्पन्न पदार्थों आदि) का स्वामी है। समर्थ से अर्थात् अधिकारी से कार्यसिद्धि के लिये प्रार्थना नितरां आवश्यक है। यही यहां रूपसमृद्धि है।

(ई) कहीं-कहीं क्रिया का अप्रत्यक्ष रूप से वर्णन करने वाले मंत्रगत शब्दों में रूपसमृद्धि का विधान किया गया है। ऐसे वर्णनों में शब्दों का बड़े दूर का अर्थ खोजकर रखा गया प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये—ऐ० ब्रा० १. १७ में मथिताग्नि को आहवनीय कुंड में स्थापित करने के पश्चात् अतिथि-सोम के आज्य भागों की पुरोनुवाक्यों में "आप्यायस्व समेतु ते"[4] पदों वाली ऋचा का पाठ भी होता हैं।

१—ऐ० ब्रा० १. १६।

२—अग्नि-मंथन कर्म में ऊपर और नीचे दो अरणियां लगाई जाती हैं। ऊपर वाली को उत्तरारणि तथा नीचे वाली को अधरारणि कहते हैं। यहां द्यावापृथिवी को क्रमशः उत्तरारणि और अधरारणि माना गया है।

३—ऋ० १-२४.३।

४—ऋ० १-९१. १६।

इस ऋचा में अतिथि शब्द होने पर ही यह रूपसमृद्ध हो सकती थी, किन्तु ऐतरेयकार ने बतलाया कि यह ऋचा अतिथि के ही लिये है, क्योंकि इसमें "आपीन" अर्थात् पुष्ट होने की ओर संकेत करते हैं।अतिथि-सत्कार करना अतिथि को मानो पुष्ट करना ही है।

इसमें आतिथ्य के द्वारा सिद्ध होने वाली क्रिया का आतिथ्य से ऐक्य बतला दिया गया है। फल को बीज का स्थानी मानकर यहां रूपसमृद्धि प्रदर्शित की है।

(उ) ऐसा भी दृष्टि में आया है कि किसी क्रिया में पदार्थ की आराधना अभीष्ट होते हुये भी देवता-विशेष की स्तुति से सम्बन्धित मंत्र का विनियोग प्रस्तुत किया है। यथा ऐ० ब्रा० १. १३ में सोम-प्रवहण कर्म में सोम की स्तुति न करके वरुण की स्तुति की गई है। यहां ऐतरेयकार ने "सोम" को वरुण देवता से सम्बन्धित बताया है। इसका भाव यह भी हो सकता है कि किसी पदार्थ पर अधिकार रखने वाले देवता-विशेष की प्रार्थना में प्रयुक्त मंत्र उस पदार्थ से सम्बन्धित-कर्म में विनियुक्त किये गये हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में रूपसमृद्धि-प्रदर्शन के लिये चुने गये कर्म—

ऐतरेय ब्राह्मणकार ने विभिन्न कर्मों में प्रयुक्त होने वाले मंत्रों की रूपसमृद्धि का प्रदर्शन किया है। जिन कर्मों में रूपसमृद्धि का उल्लेख मिलता है, वे निम्न प्रकार है—

(१) दीक्षणीय-इष्टि में अग्नि और विष्णु का हविकर्म।[1]

(२) क्रय के पश्चात् प्राचीन वंश की ओर सोम-नयन कर्म।[2]

(३) सोम के आगमन पर अग्नि-मंथन कर्म-[3] इस प्रधान कर्म के अन्तर्गत आहवनीय में सद्योमथित अग्नि की स्थापना आदि आनुषंगिक कर्म भी सम्मिलित हैं।

(४) आतिथ्य-इष्टि।[4]

(५) प्रवर्ग्य-इष्टि।[5] घर्मपात्र पर घृतांजन आदि गौण-कर्म भी इसके अन्तर्गत आजाते हैं।

(६) उपसद्-कृत्य में सामिधेनियों का पाठ।[6]

(७) अग्नि-प्रणयन कृत्य।[7]

(८) हविर्धान-(हव्यशकट) प्रणयन-कृत्य।[8]

१-ऐ० ब्रा० १. ४। २- वही १. १३। ३-वही १. १६।
४-वही १. १७। ५-वही १. १८, १. २१, १. २२।
६-वही १. २५। ७-वही १. २८। ८-वही १. २९।

(९) अग्नि-सोम-प्रणयन-कृत्य ।[1]
(१०) यूपोच्छ्रयण कर्म ।[2]
(११) पशुइष्टि में हविकर्म ।[3]
(१२) सोम-सवन कर्म ।[4]
(१३) अतिरात्र में पर्याय के याज्यों का पाठ ।[5]
(१४) प्रजापति-यज्ञ ।[6]
(१५) सोमचमस-उन्नयनकर्म ।[7]

ऐतरेयब्राह्मणान्तर्गत रूपसमृद्धि-प्रदर्शन में मंत्रों के व्याख्यान

ऐतरेयब्राह्मणकार द्वारा विभिन्न कर्मों[8] में प्रयुक्त मंत्रों की रूपसमृद्धि अनेक प्रकार से प्रदर्शित की गई है। मंत्रों के व्याख्यानों के आधार पर इस ब्राह्मण में रूपसमृद्धि का प्रदर्शन निम्न छै प्रकार से हुआ है—

(त) मंत्र का पूरा व्याख्यान देकर प्रतिपादित रूपसमृद्धि ।
(थ) मंत्र के आंशिक-व्याख्यान द्वारा प्रदर्शित रूपसमृद्धि ।
(द) मंत्रगत शब्दों के व्याख्यान द्वारा निर्दिष्ट रूपसमृद्धि ।
(ध) शब्द-साम्य के आधार पर संकेतित रूपसमृद्धि ।
(न) अवभासित-रूपसमृद्धि ।
(प) प्रस्फुट-रूपसमृद्धि ।

रूपसमृद्धि के इस वर्गीकरण के अनुसार रूपसमृद्ध-मंत्रों का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि इन मन्त्रार्थों में ऐतरेयकार को अभीष्ट, वेदार्थ-प्रक्रिया का आभास मिलता है। इस दृष्टि से सभी वर्गों के मन्त्रार्थों की समीक्षा वान्छनीय है। अतः आगे इन छै प्रकार की रूपसमृद्धियों के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न मंत्रों की सूची देते हुये ऐतरेयकार द्वारा अभीष्ट-अर्थ को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है।

(त) रूपसमृद्धि-प्रदर्शन के प्रथम प्रकार के अन्तर्गत मंत्र का पूरा व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। ऐतरेयकार ने पूरे मंत्र का कहीं शब्दशः, कहीं वाक्यशः, तथा कहीं दोनों ही प्रकार से व्याख्यान करके रूपसमृद्धि समझाई है। जिन मंत्रों का पूरा व्याख्यान दिया गया है उनकी सूची निम्न प्रकार है—

१-ऐ० ब्रा० १. ३०। २-वही २. २। ३-वही २ १०।
४-वही ३. २९। ५-वही ४. ६। ६-वही ४.२६।
७-वही ६. ९, ६. १०, ६, ११, ६. १२ तथा ७. ३३।
८-कर्मों की सूची ऊपर देदी गई है।

क्रम संख्या	मंत्र संकेत	ब्राह्मण संकेत	मंत्र-प्रतीक
(१)	तै० सं० १. २. ३. ३	ऐ० ब्रा० १. १३	भद्रादभिश्रेयः प्रेहि०
(२)	ऋ० १०. ७१. १०	....	सर्वे नंदंति यशसा०
(३)	- ४. ५३. ७	....	आगन् देव ऋतुभि०
(४)	- १. ६१. १६	....	या ते धामानि हविषा०
(५)	- ८. ४२. ३	... ...	इमां धियं शिक्षमाण०
(६)	- ६. १६. ४२	.... १. १६	आ जातं जातवेदसि०
(७)	- ८. ४३. १४	... ...	त्वं ह्यग्ने अग्निना०
(८)	- १. १६४. ५०	....	यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः०
(९)	- ३. २९. ४	.... १. २८	इलायास्त्वा पदे वयं०
(१०)	- ३. २९, ८	....	सीद होतःस्व उ लोके०
(११)	- १०. १३. २	... १. २९	यमे इव यतमाने यदैतं०
(१२)	- ३. ८. ३	.... २. २	उच्छ्रयस्व वनस्पते०
(१३)	- ३. ८. १	....	अंजन्ति त्वामध्वरे०
(१४)	- ३. ८. २	... .	समिद्धस्य श्रयमाणः०
(१५)	- १. ३६ १३	....	ऊर्ध्व ऊ षुणऊतयं०
(१६)	- १. ३६. १४	....	ऊर्ध्वो नः पासंहसो०
(१७)	- ३. ८. ४	....	युवा सुवासाः परिवीत०
(१८)	- ३. ८. ५	....	जातो जायते सुदिनत्वे०

इन सब ही ऋचाओं का क्रमशः अध्ययन नीचे प्रस्तुत किया जाता है। प्रतिपद वहां इनको उद्धृत नहीं किया गया है।

(१) सोम को खरीदकर लाने के पश्चात् उसे प्राचीन वंश की ओर ले जाते हैं। सोमनयन के लिये होता मत्रों का पाठ करता है। प्रथम मंत्र के पाठ द्वारा सोम से प्राचीन वंश की ओर जाने की प्रार्थना की जाती है। ऐतरेयब्राह्मण में इस सम्पूर्ण मंत्र का व्याख्यान इस प्रकार दिया गया है—

हे सोम, (भद्रात्) भूलोकरूप उस क्रय-प्रदेश से (श्रेयः) स्वर्गलोक-स्थानीय इस प्राचीनवंश प्रदेश को (अभि) अभिलक्ष्य करके (प्रेहि) शीघ्रता से जाओ। गमन करते हुये तुम्हारे आगे (बृहस्पतिः) ब्रह्मा पुरोगव-कर्म का सम्पादन करे। इस (वरम्) देवयजन के (पृथिव्या) पृथिवी सम्बन्धी स्थान से (ईम्) इस सोम को (आ अवस्य) ऊपर उठाओ। हे सोम, (सर्ववीरः) सर्वशक्तिमान् होकर (शत्रून्) यजमान का अहित करने वाले पापी शत्रुओं को (आरे कृणुहि) नीचे गिरादो।

ऐतरेयकार के मत में इस मंत्र को पढ़कर होता यजमान को स्वर्गलोक (अर्थात्-सुखमय अवस्था) को प्राप्त करा देता है । ब्रह्मा द्वारा सम्पन्न कर्म क्षीण नहीं होता है । यजमान अपने द्वेषी-पापी शत्रुओं को नीचा दिखा देता है ।

(२) होता सोम को प्राचीनवंश में ले जाते समय पांचवे स्थान पर 'सर्वे नंदंति यशसा' मंत्र का पाठ करता है । इस मंत्र में सोम के आगमन के प्रभाव का वर्णन किया जारहा है । ऐतरेयकार के अनुसार अर्थ इस प्रकार है-

(सर्वे) जिनको यज्ञ में प्राप्ति होगी तथा जिनको कुछ भी न मिलेगा-वे सब (सखायः) समान ज्ञान वाले मनुष्य (सभासाहेन) सभा को जीतने वाले ब्राह्मणों के (सख्या) सखारूप (आगतेन यशसा) यश की ओर आते हुये सोम के कारण (नन्दन्ति) हर्षित होते हैं । यह सोम (किल्विष स्पृत्) सामर्थ्य और श्रेष्ठता प्राप्त करके भी मिथ्याभिमान के कारण जो पापी हो जाते हैं, उनके पाप को दूर करने वाला है, (पितुषणि) अन्नदान या दक्षिणा देने वाला है तथा (अरंहितो-भवति वाजिनाय) वृद्धावस्था पर्यन्त इन्द्रियों की शक्ति को प्रदान करने वाला है ।

संभवतः 'किल्विष' का भाव' श्रेष्ठ और समर्थ व्यक्ति' अभिप्रेत है । जो होता या अध्वर्यु ध्यानपूर्वक काम नहीं करता, वह किल्विष (श्रेष्ठ) नहीं होता है और यह मंत्र उसकी रक्षा नहीं करता है । सायण तथा अन्य अनुवादकों ने लौकिक किल्विष की दृष्टि में अपना अर्थ प्रस्तुत किया है । अनुवाद में उन्हीं का अर्थ दिया गया है ।

इस मंत्र के पाठ से यजमान सबमें समर्थ और श्रेष्ठ हो जाता है । सोम उसकी पालना करता है ।

(३) सोम के प्राचीनवंश स्थान में आजाने पर इस मांगलिक ऋचा का पाठ किया जाता है । इसमें सोम राजा से आशीष मांगी गई है । व्याख्यान इस प्रकार है-

(आगन् देव) सोम राजा यहां आगया है । (ऋतुभिः) वह अपने राजभ्राता ऋतुओं के साथ (क्षयं वर्धतु) हमारे घर को समृद्ध करे । (दधातु नः सविता सुप्रजामिषम्) सब प्राणियों का उत्पादक सोम हमें संतान सहित अन्न प्रदान करे । (सः) वह सोम (क्षयामिः अहभिश्च) रात और दिन (नः जिन्वतु) हमारे ऊपर प्रसन्न हो तथा (प्रजावन्तम्) अपत्यसहित (रयिम्) धन (अस्मै) हमें (समिन्वतु) प्रदान करे ।

ऋग्वेद में यह मंत्र सविता के लिये आया है । ऐतरेयब्राह्मण में यह सोम के आगमन का द्योतक है । प्रतीत होता है कि ब्राह्मणकार सोम और सविता में अभेद मानते हैं । सविता के समान सोम भी सभी उत्पत्तियों का स्वामी माना गया प्रतीत होता है । साथ ही दोनों-पद √ सु प्रसवे से निष्पन्न हैं ।

कौषीतकिब्राह्मण में खरीदे हुये सोम को विष्णु का रूप माना है-'तद्यदेवेदं क्रीतो विशतीव तदु हास्य (सोमस्य) वैष्णवं रूपम्'।[1]

१-कौ. ब्रा. ८. २ ।

पहले सोम और वरुण को एक बताया जा चुका है। जैमिनीयउपनिषद् ब्राह्मण[1] में सविता और वरुण को एक बताया है। दोनों समीकरणों के द्वारा सोम और सविता पर्याय बन जाते हैं।

(४) सोमागमन के इस उपर्युक्त प्रसंग में सोम का अपने घरों में आह्वान किया जारहा है। सोम से घरों में आने की प्रार्थना करने के लिये इस मंत्र का पाठ किया जाता है-

हे सोम, (या ते धामानि) जो आपके तेज (हविषा) हवि के द्वारा (यजन्ति) यजन करते हैं, (ता ते विश्वा) आपके वे सब तेज (यज्ञं परिभूरस्तु)[2] यज्ञ के चारों ओर व्याप्त हो जावें। (गयस्फानः) गायों के संवर्धन एवं (प्रतरणः) रक्षण करने वाले (सुवीरः) उत्तमवीर तथा (अवीरहा) हमारी वीर संतानों को न मारने वाले आप (दुर्यान्) परिचर्या-वैकल्य से भयभीत हमारे घरों में (प्रचर) आओ।

इस मंत्र-पाठ का उद्देश्य (क्रिया आदि में वैकल्य के कारण) क्रुद्ध राजा सोम को अपने अनुकूल करना है। इसके पाठ से राजा सोम शान्ति पूर्वक अनुकूल हो जाता है और वह न यजमान की सन्तान को नष्ट करता है, न उसके पशुओं को।

(५) सोम के प्राचीनवंश-नयन के अनुकूल रूपसमृद्ध मंत्रों के उच्चारण-कर्म को वरुण देवता विषयक मंत्र द्वारा समाप्त करते हैं। ऐतरेयब्राह्मणकार में वारुणी-ऋचा के ग्रहण का कारण बतलाते हुये कहा है कि जब तक सोम (वस्त्र में) बंधा रहता है तथा प्राचीनवंश के विभिन्नस्थलों पर लेजाया जाता है, तब तक वह वरुण देवता का होता है। ब्राह्मणकार के अनुसार मंत्र का अर्थ इस प्रकार है-

हे वरुण, (शिक्षमाणस्य) यज्ञ करने वाले यजमान की (इमांधियम्) इस बुद्धि, (क्रतुम्) वीर्य तथा (दक्षम्) प्रज्ञान को (सम् शिशाधि)[3] तीक्ष्ण करो। (यया) जिससे (सुतर्माणम्) अच्छी तरह पार करने वाली (नावम्) यक्ष, कृष्णाजिन तथा वाणीरूपी नाव का (अधिरुहेम) आश्रय लेकर-(विश्वा) सम्पूर्ण (दुरिता) दुष्कर्मों के (अति तरेम) पार चले जावें।

यहां ऐतरेयकार ने नाव के तीन अर्थ दिये हैं-यज्ञ, कृष्णाजिन और वाक्। अन्यत्र कृष्णाजिन को ब्रह्म, [4] यज्ञ, [5] ऋक्साम का रूप, [6] प्रत्यक्ष ब्रह्मवर्चस्[7] सुकृत की योनि[8] आदि कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतरेयकार ने इन सबका

१- जै. उ. ४. २७. ३। २- परिभूः यहां एक बचन है।
३- √ शि निशाने का रूप है। ४- कौ० ब्रा० ४. ११। ५- श० ब्रा० ३. २. १. ८. २८: ६. ४. १. ६। ६-तै०ब्रा० २. ७. ३. ३। ७- तां०ब्रा०१७. ११.८। ८-श०ब्रा०६. ४. २. ६।

पर्यवसान वाक् में मानकर यहां सुतर्मानौः का आत्यन्तिक व्याख्यान वाक् दिया है। वाक् का यह रूप सुविदित है।[1]

वरुणपद √ वृ आच्छादने से बनता हैं। यह बन्धनकर्म का द्योतक है। वरुण स्वयं सबको अपने नियमों में बांधे हुये हैं। अतः यहां वरुण को बंधे हुये सोम का शासक कहा है। दोनों का एक भाव होने से विनियोग रूपसमृद्ध होगया है।

ऐतरेयब्राह्मणकार ने यहां पर छन्द की दृष्टि से भी रूपसमृद्धि मानी है। इस मंत्र का छन्द त्रिष्टुप् है! उसे सोम का अपना छन्द कहा गया है। ऋग्वेद के एक स्थल पर सोम का छन्द अनुष्टुप् माना है।[2] त्रिष्टुप् को इन्द्र का छन्द कहा गया है।[3] यहां वरुण के छन्द का उल्लेख नहीं है। कौषीतकि[4] तथा गोपथ[5] में इन्द्र को वरुण कहा गया है। संभवतः यहां वरुणरूप होने (आच्छादित होने) से वरुण (इन्द्र) के छन्द त्रिष्टुप् को सोम का छन्द बताया है। सायण के अनुसार त्रिष्टुप् को सोम का अपना छन्द इसलिये कहा है कि त्रिष्टुप् द्युलोक में सोम लेने गया था।

यह मंत्र कर्म के अपने देवता और अपने छन्द का है। वरुण और सोम के तादात्म्य और उनके छन्द का विवेचन ऊपर किया जा चुका है।[6]

(६) आहवनीय अग्नि में सद्योमथित अग्नि की स्थापना करते हुये इस मंत्र का पाठ किया जाता है। इसमें-अध्वर्युगणों को सद्योजात अग्नि की विशेषता बतलाते हुये आहवनीय अग्नि में स्थापित करने की प्रेरणा दी गई है-

हे अध्वर्युगण, (जातम्) सद्यप्रादुर्भूत (प्रियम्) प्रिय (अतिथिम्) अतिथि और (गृहपतिम्) गृहपति अग्नि को (जातवेदसि) उत्पन्न हुई इस अग्नि के ज्ञाता (स्योने) तथा सुखरूप आहवनीय अग्नि में (आ शिशीत) भली प्रकार या शांतिपूर्वक स्थापित करो।

इससे पूर्व वाले मंत्र के व्याख्यान में ऐतरेयकार आहवनीय को सद्योजात अग्नि का उत्पत्ति स्थान बतला चुके हैं।

(७) मथिताग्नि को आहवनीय में स्थापित करते समय अग्नि के इस मंत्र का पाठ किया जाता है। सद्योत्पन्न अग्नि आहवनीय के द्वारा दीप्त होता है-यह भाव इस मंत्र में बतलाया गया है। ऐतरेयकार द्वारा इसका व्याख्यान प्रस्तुत करते हुये दोनों अग्नियों के सम्बन्ध की ओर भी संकेत किया गया है-

हे सद्योमथित अग्नि, (त्वम्) तुम (विप्र) मेधावी (सन्) साधु और (सखा) सखा हो। तुम (विप्रेण) मेधावी (सता) साधु तथा (सख्या) सखा (अग्निना) आहवनीय अग्नि के द्वारा (समिध्यसे) प्रदीप्त होते हो।

१-देखो वै० कौ० वै० ए० और वै० द० में वाक् का विवेचन तथा वै० ला० २ में ऋ० १०. १२५ का अध्ययन। २-ऋ० १०-१३०. ४।
३-ऋ० १० १३०. ५। ४-कौ० ब्रा० ५. ४। ५-गो० ब्रा० २. १. २२।
६-देखो पृष्ठ २७।

ऐतरेयकार ने सद्योमथित अग्नि को आहवनीय अग्नि का सखा इसलिये माना, हो सकता है कि दोनों के गुण समान हैं (समान स्थानमिति सखा)। साथ ही आहवनीय अग्नि सद्योमथित अग्नि को प्रदीप्त करने के कारण उसकी उपकारक है। सन् और सत्ता का भाव 'विद्यमान', 'सत्तावान्' भी लिया जा सकता है।

(८) इस मंत्र के द्वारा अग्नि के स्थापन कर्म की समाप्ति की जाती है, अतः यह इस क्रिया का अन्तिम मंत्र है। ऐतरेयब्राह्मणकार ने इसका व्याख्यान इस प्रकार किया है—

(देवाः) आदित्यों और अंगिरसों ने (यज्ञेन) आहवनीय अग्नि से (यज्ञम्) मथिताग्नि को (अयजन्त) संगत किया।[1] उनके (तानि धर्माणि) वे अग्नि स्थापन आदि कर्मानुष्ठान (प्रथमानि) पूर्व से ही (आसन्) विद्यमान थे (अथवा प्रमुख होगये— स्वर्ग प्राप्ति के साधक होगये)। (ते ह) वे सब (महिमानः) महिमाशाली (नाकम्) उस स्वर्ग को (सचन्त) प्राप्त होगये, (यत्र) जहां (पूर्वे) पहले से ही (साध्याःदेवाः) छन्द (सन्ति) विद्यमान हैं।[2]

ताण्ड्य-ब्राह्मण के अनुसार साध्याः नामक देव मध्यन्दिन सवन के साथ स्वर्ग लोक को प्राप्त हुये थे।[3] अन्यत्र उन्हें देवों से पूर्व विद्यमान बताया है। शतसंवत्सर सत्रायण से वे स्वर्ग लोक को गये।[4] अतः उन्हें देवों के स्वर्गगमन से पूर्व वहां विद्यमान बताया गया है।

ऋग्वेद में[5] सब ओर फैले हुये सौ देवकर्मों वाले, स्वर्गलोक में किये गये यज्ञ की प्रमा, प्रतिमा आदि बताते हुये छन्दों का वर्णन किया गया है। सप्त दिव्य-ऋषियों ने छन्दों आदि से (स्वर्गलोक में) यज्ञ सम्पन्न किया। सम्भवतः इस दृष्टि से ब्राह्मणकार ने साध्या देवाः को छन्द माना हो।

डा० सुधीर कुमार गुप्त ने साध्यादेवाः का अर्थ "प्राणरूप सृजक-शक्तियां" किया है।[6] डा० फतहसिंह ने दिखाया है कि छन्दस् सृष्टि की कारक सृजक शक्ति वाक् ही है। इससे निकले पदार्थ-प्रकृति, प्राकृतिक-पदार्थ, तीनों लोक, सातों छन्द आदि भी छन्दस् हैं।[7] ब्राह्मणकार को यह भाव भी अभिप्रेत हो सकता है।

१–तु० क० √यज् का संगतिकरण अर्थ। प्रकरण अग्निस्थापन का होने से ऐतरेयकार को यही अर्थ अभिप्रेत है। २–तु० क० वे० ला० १ में मंत्र ३७ का अध्ययन।

३–तां० ब्रा० ८.३.५. : ४. ६।

४–वही २५.८.२। ५–ऋ० १०.१३०।

६–वै० ला० (१), २८.७.(२)।

७–वै० ए० पृ० २६१ : वै० द० में छन्द का विवेचन भी देखें। आगे छन्दों पर अध्याय ४ भी देखें।

(९) जब अग्नि-प्रणयन कृत्य में अग्नि को उत्तरवेदी में ले जाते हैं, तब उसकी प्रार्थना में इस मंत्र का पाठ किया जाता है। इसमें हव्यवाहक अग्नि को उक्त स्थान पर रखते हुये कहा जाता है—

(जातवेद) हे जातप्रज्ञ (अग्ने) अग्नि, (वयम्) अध्वर्यु आदि हम (त्वा) तुमको (पृथिव्या) पृथिवी के (अधिनामा) मध्यस्थान (इलायास्पदे) उत्तरवेदी की नाभि में (हव्याय) हव्य के (वोल्हलवे) वहन करने के लिये (निधीमहि) स्थापित करते हैं।

(१०) अग्नि-प्रणयन कृत्य के अन्तर्गत अग्नि को उत्तरवेदी के मध्य में स्थापित करते हुये अग्नि से प्रार्थना की जाती है। इसके लिये "सीदहोत: स्व उ लोके"-मंत्र का पाठ किया जाता है। ऐतरेयकार के अनुसार इस मंत्र का अर्थ निम्नप्रकार है—

हे (होतः) देवों के आह्वाता अग्नि, (स्वे लोके) अपने स्थान उत्तरवेदी की नाभि में, (सीद) उपवेशन कीजिये। (चिकित्वान्) हे ज्ञानवान् अग्नि, (यज्ञम्) यजमान को (सुकृतस्य योनौ) उत्तमलोक में अर्थात् पुण्यकर्मों के स्थान में (सादय) स्थापित करो। (देवावीः) देवों के समीप जाने वाले तुम (हविषा) पुरोडाश आदि के साथ (देवान्) देवताओं को (यजासि) संगत करते हो। (अग्ने) हे अग्नि, (यजमाने) यजमान में (बृहत्) अत्यधिक शक्तिशाली (वयः) प्राणों की (धाः) स्थापना करो।

"देवावीः" को सायण ने √वी कामना करने से निष्पन्न माना है। दयानन्द सरस्वती ने इसे √अव् रक्षा करना से सिद्ध किया है। अग्नि देवों के पास हवि ले जाता है। पहले उसके उत्तरवेदी में स्थापन का प्रयोजन हवि वहन बताया है। इस दृष्टि से "देवावीः" और "यजासि" के अनुवादगत अर्थ ही ऐतरेयकार को विवक्षित रहे होंगे। इस दृष्टि से "होतः" का अर्थ "होमनिष्पादक" भी किया जा सकता है।

(११) हविर्धान-शकटों को ले जाते समय "यमे इव यतमाने" मंत्र का पाठ किया जाता है। ऐतरेयकार ने इसका पूरा व्याख्यान प्रस्तुत किया है। अर्थ इस प्रकार है—

(यमे इव) सहोत्पन्न दो जुड़वा बहिनों के समान (यतमाने यदैतम्) परस्पर परस्पर हविर्धान स्थान की ओर चलने का प्रयत्न करते हुये (वाम्) तुम दोनों को (देवयन्तः) देवपूजक (मानुषाः) मनुष्य (प्रभरन्) होमद्रव्यों से परिपूर्ण करते हैं। तुम (स्वमु) अपने (लोकम्) स्थान को (विदाने) जानकर (आसीदतम्) उसमें रहो। उसके पश्चात् (नः) हमारे (इन्देव) सोम के लिये (स्वासस्थे) शोभनस्थान को बनाओ।

"विदाने" विशेषणवत् भी अभिप्रेत हो सकता है।

(१२) यज्ञ में यूप को उठाते हुये इस मंत्र का पाठ किया जाता हैं। इसमें यूप को सम्बोधन करके उससे उन्नत होने की प्रार्थना की जाती हैं। ब्राह्मणकार ने

ऋचा के पूर्वार्थ में "पृथिव्यावर्ष्य" अर्थात् यूप के लिये उत्खननस्थल तथा उत्तरार्ध में आशीर्वाद का भाव प्रदर्शित किया है। उनके अनुसार ऋचा का अर्थ इस प्रकार है—

(वनस्पते) हे यूप, (पृथिव्यावर्ष्यन्) उस स्थान पर जहां ऋत्विजों ने तुम्हें गाड़ने के लिये गड्ढा खोदा है, (अर्थात् पृथिवी के उत्तम यज्ञ प्रदेश में) (उच्छ्रयस्व) उन्नत होओ। (सुमिती) सुन्दर स्थापना द्वारा (मीयमान:) स्थापित किये जाते हुये तुम, (यज्ञवाहसे) यज्ञनिर्वाहक यजमान को (वर्चोधाः) धन प्रदान करो।

शतपथब्राह्मण और तैत्तिरीयब्राह्मण में "वर्चस्" को "हिरण्य" कहा गया है।[1] सायण ने दीप्ति अर्थ माना है। प्रथम ऋचा में भी धन के लिये भावना प्रकाशित की गई है।

(१३) यूप को गाड़ने से पूर्व उस पर घी का अंजन किया जाता । इस घृत मले जाते हुये यूप के द्वारा इष्ट कार्यो की सिद्धि के लिये निर्दिष्ट मंत्र द्वारा प्रार्थना की जाती है। अत: इस मंत्र में घृत के अंजन का तथा अभीष्ट की याचना का भाव निहित है। ब्राह्मणकार के अनुसार इसका अर्थ निम्न प्रकार बनता है—

(वनस्पते) खदिर, बैल्व और पलाश से निर्मित हे यूप, (अध्वरे) यज्ञ में (देवयन्तः) देवों के अभिलाषी अध्वर्यु लोग (दैव्येन मधुना) घी से (त्वाम्) तुमको (अंजन्ति) चुपड़ते हैं-मलते हैं। (यत्) चाहे तुम (ऊर्ध्वस्तिष्ठाः) उन्नत भाव से रहो (यद्वा) अथवा (मातुरस्याः) मातृ-भूत पृथिवी की (उपस्थे) गोद में (क्षयः) लेटे रहो। (इह) इस यज्ञ में हमें (द्रविणा) धन (धत्तात्) दो।

(१४) यूप पर घृत मलने तथा यूप को उठाने के कर्म में कुल मिलाकर सात मंत्रों का विनियोग किया गया है। इनमें से दो[2] का व्याख्यान दिया जा चुका है। अब यज्ञ की समृद्धि के लिये प्रदर्शित पांच मंत्रों का व्याख्यान क्रमशः इस प्रकार है-

अग्नि के सामने खड़े किये जाते हुये यूप की स्तुति में "समिद्धस्य श्रयमाण:" मंत्र पढ़ा जाता है।

हे यूप, (समिद्धस्य) समिद्ध आहवनीय अग्नि की (पुरस्तात्)पूर्व दिशा में (श्रयमाणः) वर्तमान होकर (अजरम्) जरारहित, (सुवीरम्) शोभन अपत्ययुक्त (व्रस) अन्न (वन्वान) प्रदान करते हुये, (अस्मद्) हमारे (अमतिम्) भूख रूपी पाप को (आरे) दूर (बाधमानः) करते हुये (महते) महत् (सौभगाय) सौभाग्य या सम्पत्ति के लिये (उच्छ्रयस्व) उन्नत होओ।

१-श० ब्रा० ३. २. ४. ९, तै० ब्रा० १. ८. ६. १, डा० एस० के० गुप्त, ए न्यू इण्टरप्रैटेशन ऑफ अवे० १. १४, जे० जी० आर० आई० १७. १-२ पृष्ठ ८२ में वर्च: पर टिप्पणी भी देखें।

२-ऋ० ३- ८. १ तथा ३-८. ३।

(१५) उन्नत हुये यूप की प्रार्थना में इस मंत्र का पाठ किया जाता है। खड़े हुये यूप द्वारा अभीष्ट सिद्धि के लिये आह्वान का भाव इसमें व्यक्त हुआ है–

हे यूप, (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (सविता देवो न) सविता देव के समान (ऊर्ध्व) उन्नत (तिष्ठ) बनो। (ऊर्ध्वः) उन्नत होकर (वाजस्य) अन्न के (सविता) दाता हो जाओ, (यत्) क्योंकि (वाघद्भिः-अंजिभिः) छन्दों के द्वारा हम यजमान (विह्वयामहे) तुम्हारा आह्वान करते हैं–'मेरे यज्ञ में आओ,- मेरे यज्ञ में आओ' ऐसा कहते हैं।

ऐतरेयकार ने 'वाघद्भिः अंजिभिः' का सम्मिलित अर्थ 'छन्द' दिया है। सायण ने पृथक्-पृथक् अंजिभिः का ऋतु की अभिव्यंजक वाणियां और वाघद्भिः का ऋतु के अनुष्ठान का भार वहन करने वाले ऋत्विक् अर्थ प्रस्तुत किया है। मार्टिन हाग ने अपने अनुवाद में 'अंजिभिः' का अर्थ घृत को यूप पर चुपड़ने वाले ऋत्विज् तथा 'वाघद्भिः' का 'कई प्रकार' अथवा 'छन्द' अर्थ किया है। कीथ ने 'अंजिभिः वाघद्भिः' का अर्थ कुशल गायक लिया है।[1]

(१६) अपने अभीष्ट कर्मों की सफलता के लिये तथा पाप से संरक्षण पाने के लिये यूप की स्तुति में मंत्र-पाठ किया गया है। ऐतरेयकार के अनुसार मंत्र का व्याख्यान निम्न प्रकार बनता है–

हे यूप, (ऊर्ध्व) अग्नि के सामने उन्नत होकर तुम (नः) हमें (केतुना) ज्ञान द्वारा (अंहसः) पाप से (निपाहि) पूर्णरूपेण बचाओ। (विश्वम्) सम्पूर्ण (अत्रिणम्) पापियों के समूह को (संदह) भली प्रकार जलाओ। (नः) हमको (चरथाय) संसार में विचरण के लिये तथा (जीव से) दीर्घ जीवन के लिये (ऊर्ध्वान्) उन्नत (कृधी) बनाओ। (नः) हमारी (दुवः) परिचर्या से (देवेषु) देवों को (विदा) विदित करादो।

केतु का अर्थ सर एम० मोनियर विलियम्ज़ ने प्रकाश या दीप्ति भी दिया है। सम्भवतः ऐतरेयकार को यहां 'कर्म' यूपोच्छ्रयण और यूपांजन की ओर निर्देशन अभिप्रेत हो।

(१७) ऐतरेयब्राह्मणकार ने ऋग्वेद के ३—८. ४ मंत्र से यूप के आराधन कर्म की समाप्ति की है। इसका व्याख्यान निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है—

जो यूप (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ (श्रेयान्) कल्याणकारी (भवति) दृष्टिगत होता है। (स उ) वह ही (परिवीतः) शरीरों से घिरे हुये (युवा सुवासाः) प्राण के

१–दी ऐतरेयब्राह्मण आफ दी ऋग्वेद (१) मार्टिन हाग पृ० ५१–तथा ऋग्वेदिक ब्राह्मणाज–(कीथ) पृ० १३५।

समान (आगात्) आया है (अर्थात् ऊपर खड़ा किया गया है)। (तम्) इस प्रकार के यूप को (धीरासः) प्राज्ञ (कवयः) अनूचान लोग (स्वाध्यः) भली प्रकार ध्यान युक्त होकर (मनसा) हृदय से (देवयन्तः) देवों की इच्छा करते हुये (उन्नयन्ति) उन्नत करते हैं।

विभिन्न प्रकरणों में भाष्यकारों ने इस मंत्र के भिन्न-भिन्न अर्थ प्रस्तुत किये हैं तथा ऐतरेयकार ने यहां यूप पक्ष में इसका व्याख्यान दिया है।

(१८) ऐतरेयब्राह्मण में यूप के सम्वर्धन, शुद्धिकरण तथा देवों से यूप का परिचय कराने के लिये 'जातो जायते' मंत्र का पाठ किया है। इस मंत्र के तीन भागों में ये तीनों भाव विद्यमान हैं। ब्राह्मणकार के अनुसार अर्थ निम्न प्रतीत होता है—

(जातः) पृथिवी पर (वृक्षरूप से) उत्पन्न यूप (समर्यै) मनुष्यों से युक्त अर्थात् मानवी (विदथे) यज्ञ में (आ वर्धमानः) अच्छी तरह बढ़ाया जाता हुआ (अन्हाम्) दिनों को (सुदिनत्वे) सुदिन (जायते) करता है।

(अपसः) कर्मनिष्ठ और (धीराः) प्रज्ञावान् पुरुष (मनीषा) बुद्धि के द्वारा उस यूप को (पुनन्ति) प्रक्षालनादि कर्म से पवित्र करते हैं। (देवयाः) देवों का याजक (विप्रः) मेधावी होता (वाचम्) यूप विषयक मंत्र का (उदियर्त्ति) उच्चारण करता है अर्थात् देवों को यूप के विषय में निवेदन करता है।

जातः का 'यूप रूप में गाड़ा गया' भाव भी अभिप्रेत हो सकता है।

(थ)मंत्र के आंशिक व्याख्यान द्वारा प्रदर्शित रूपसमृद्धि में मंत्रों के आंशिक भागों का अर्थ देकर भाव समझाया गया है। जिन मंत्रों का आंशिक व्याख्यान प्रस्तुत किया है, उनकी सूची निम्न प्रकार है—

क्रम संख्या	मंत्र संकेत	ब्राह्मण संकेत	मंत्र प्रतीक
(१)	आ. श्रौ. ४. २	ऐ. ब्रा. १. ४	अग्निमुखं प्रथमो देवतानाम्०
(२)	....	....	अग्निश्चविष्णो तप०
(३)	ऋ. १—२४. ३	.... १.१६	अभित्वा देव सवितरि०
(४)	— १. २२. १३	....	महीद्यौः पृथिवी च न०
(५)	— ६. १६. ४०	....	आयं हस्तेन खादिनम्०
(६)	— ६. १६. ४१	....	प्र देव देववीतयेभरता०
(७)	— ८. ८४. ८	....	तं. मर्जयन्त सुक्रतु पुरः०
(८)	— १०. १७६. ३	.... १.२८	अयमष्य प्र देवयुर्होता०
(९)	— १०. १७६. ४	....	अयमग्निरुष्यत्यमृतात्०

(१०) –	६.१५.१६	....	अग्ने विश्वेभिः स्वनीक०
(११) –	२.९.१	....	निहोता होतृषदने०
(१२) –	२.९.२	....	त्वं दूतस्त्वमन: परस्पाः०
(१३) –	१०.१३.१	.... १.२९	युजे वां ब्रह्म पूर्व्यम्०
(१४) ऋ०	२.४१.१९	ऐ० ब्रा० १.२९	प्रेतां यज्ञस्य शम्भुवा०
(१५) –	२.४१.२०	....	द्यावानः पृथिवी इमम्
(१६) –	२.४१.२१	... .	आ वामपस्थमदुहा देवाः०
(१७) –	५.८१,२	....	विश्वा रूपाणि प्रति०
(१८) –	१.८३.३	....	अधि द्वयोरदधा उक्थ्ययम्०
(१९) अ०वे०	७.१४.३ अथवा आ०श्रौ० ४. १०	.... १. ३०	सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे०

उपर्युक्त सूची–क्रम से इन मंत्रों का अर्थ निम्न प्रकार समझाया गया है–

(१) दीक्षा संस्कार के पश्चात् दीक्षणीय–इष्टि का विधान किया गया है। इस कर्म के द्वारा यजमान को देवताओं द्वारा दीक्षा–प्रदान कराने के लिये पुरोनुवाक्या और याज्या मंत्रों में अग्नि और विष्णु से प्रार्थना की जाती है। ऐतरेयकार के अनुसार अग्नि और विष्णु देवों के दीक्षापाल हैं। वे दीक्षा के स्वामी हैं। जब अग्नि और विष्णु को हवि दी जाती है, तब ये दोनों दीक्षा के स्वामी प्रसन्न होकर दीक्षा प्रदान करते हैं। इन दोनों निर्दिष्ट ऋचाओं का अर्थ निम्न प्रकार से बनता है।

(अग्निः) अग्नि (संगतानाम्) एकत्र हुये (देवतानाम्) सम्पूर्ण देवताओं का (मुखम्) मुख है, (प्रथमः) वह प्रथम है इसी प्रकार विष्णु भी सम्पूर्ण देवों का मुख है, वह (उत्तमः) ऊंचा या अंतिम (आसीत्) है। वे दोनों अग्नि और विष्णु (देवान्) देवताओं को (परिग्रह्य) साथ लेकर (यजमानाय) यजमान को (दीक्षयेत्) दीक्षा दें। (इदम् हविः) यह हवि उन दोनों के लिये है। वे (नः) हमारे समीप (आगच्छतम्) आवें।

ऐतरेयब्राह्मणकार ने ग्रन्थारम्भ में ही अग्नि को देवताओं में 'अवमः' तथा विष्णु को 'परमः' कहा है। इन दोनों के बीच में सभी देवताओं का अन्तर्भाव मान लिया गया है।[1]

(२) दूसरे मंत्र (याज्या) का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है–

१– मार्टिन हाग ने अपने अनुवाद में इस पर विस्तृत टिप्पणी दी है, वह द्रष्टव्य है।

(अग्निः) अग्नि (च) और (विष्णो) विष्णु देवों ! आप (तपः) तप और (उत्तमम्) श्रेष्ठ (महः) तेज हैं। (शक्रा) हे समर्थ देवों, (दीक्षापालाय) उस दीक्षा ग्रहण करने वाले यजमान की (वनतम् हि) कामना करो। आप दोनों अग्नि और विष्णु (यज्ञियैः) पूजनीय (विश्वेदेवैः) सम्पूर्ण या विश्वदेवताओं से (संविदानौ) परस्पर मिलकर (अस्मै) इस (यजमानाय) यजमान को (दीक्षाम्) दीक्षा (धत्तम्) प्रदान करें।

ये मंत्र ऋग्वेद में नहीं मिलते। आश्वलायन श्रौतसूत्र [1] से ये लिये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मंत्र ऋग्वेद की किसी अनुपलब्ध शाखा के रहे हों अथवा मंत्रों के विनियोग उस काल के हों, जिस काल में सब मंत्र एक ही स्थल पर एकत्र हों तथा उनका विभिन्न संहिताओं में अवतरण न हुआ हो।

दीक्षापाल यद्यपि अग्नि और विष्णु को कहा गया है, तथापि यहां वह यजमान का द्योतक है, क्योंकि दीक्षाग्रहण भी दीक्षापालन है। चौथे पाद की दृष्टि में भी यही अर्थ संगत मालूम पड़ता है।

'शक्रा' यहाँ अग्नि और विष्णु के लिये प्रयुक्त हुआ है। दोनों को दीक्षादान में समर्थ होने के कारण (√शक् से) 'शक्र' कहा गया प्रतीत होता है।

अग्नि तप है और विष्णु महः (तेज) अभिप्रेत होता है। विष्णु को यज्ञ[2] और यज्ञ को[3] देवों का महः कहा भी गया है।

इन दोनों मन्त्रों का छन्द त्रिष्टुप् होने के कारण भी इन्हें रूपसमृद्ध माना गया है, क्योंकि त्रिष्टुप् ओज, इन्द्रियों की शक्ति[4] और आत्मबल[5] का द्योतक है। ये मंत्र भी यजमान को इन्द्रियत्व प्रदान करते हैं–

'सेन्द्रियत्वाय' [6] ऋग्वेद [7] में त्रिष्टुप् को इन्द्र से सम्बद्ध किया गया है।

(३) सोम राजा के आगमन पर अग्नि का मंथन किया जाता है। इस मंथन की जाती हुई अग्नि से इष्ट कार्यों की सिद्धि के लिये 'अभित्वादेव सवितः' मंत्र द्वारा प्रार्थना की जाती है। अतः इस मंत्र में ये दोनों भाव–अग्निमंथन और प्रार्थना निहित हैं। ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार सब उत्पत्तियों के ईश सविता की प्रेरणा से अग्नि मथी जाती है। अतः अग्नि मंथन में सावित्री ऋचा का पाठ किया जाता है। अर्थ निम्न प्रकार बनता है–

१– आ० श्रौ० ४.२। २– कौ० ब्रा० ४. २, १८. ४, १४ : श० ब्रा० १. ६. ३. ६ आदि। ३– श० ब्रा० १. ६. १. ११।

४– ऐ० ब्रा० १. ५, २८. : ८ ५– 'ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप्'। २–श० ब्रा० ८. ६. २. ३–आत्मा त्रिष्टुप्। ६–ऐ० ब्रा० १. ४। ७– ऋ० १०. १३०. ५।

(सदावन्) सर्वदा रक्षक (देव. सवितः) हे सविता देव, (वार्याणाम्) कमनीय सभी उत्पत्तियों के (ईशानम्) स्वामी आपसे (अर्थात् आप की प्रेरणा से), (भागम्) सेवन करने योग्य अग्नि की उत्पत्ति की (अभि) सब ओर से अर्थात् पूर्ण रूप से (ईमहे) इच्छा करते हैं।

√याच् के योग में दो कर्म होते हैं। अतः यांचार्थक √ ई के योग से ईशानम् में भी द्वितीया आई है।

ऐतरेयब्राह्मण में यह मंत्र अन्यत्र भी तीन स्थलों पर विनियुक्त हुआ है। इस पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है।[1]

शतपथब्राह्मण[2] में इस ऋचा के द्वारा यजमान के अभिवान् होने का उल्लेख हुआ है। क्या यहां 'अभि' को पृथक पाद मानकर[3] (अभि= अ-भि=विगत-भी) निर्भय अर्थ तो अभिप्रेत नहीं ?

(४) जब अग्नि उत्पन्न हुई तो देवों ने उसे द्युलोक और पृथिवी लोक से ग्रहण किया तथा वहीं धारण किया। इसलिये 'मही द्यौः' मंत्र का भी पाठ मंथन की जाती हुई अग्नि के लिये किया जाता है-

(मही) विस्तृत (द्यौः) द्युलोक (च) और (पृथिवी) पृथिवी (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ का (मिमिक्षताम्) अवलोकन करें। (भरीमभिः) अग्नि के धारण-पोषण द्वारा (नः) हमको (पिपृताम्) पूर्ण करें।

ऐतरेयब्राह्मणकार ने 'मही द्यौः पृथिवी च न' मंत्र प्रतीक दिया है। मार्टिन हाग तथा गंगाप्रसाद उपाध्याय ने इस मंत्र प्रतीक से ऋग्वेद का ४-५६.१ मंत्र ग्रहण किया है। वास्तव में यह मंत्र प्रतीक ऋग्वेद १-२२.१३ का है। सायण ने इसी मंत्र का संकेत दिया है। मार्टिन हाग द्वारा गृहीत मंत्र की प्रतीक में 'च न' पद नहीं है।

उक्त मंत्र में 'मिमिक्षताम्' क्रिया पद √मिष अवलोकन से लिया गया प्रतीत होता है। सायण ने इसे √ मेह् सेचन से बना हुआ माना है। 'भरीमभिः' पद √भृज् धारण-पोषण से बना हुआ दिखाई देता है, क्योंकि इससे अर्थ की संगति भी बैठ जाती है।

(५) मथनोत्पन्न अग्नि को अध्वर्युगण अपने हाथ में धारण करते हैं। इस अवसर पर धारण-कर्म को प्रदर्शित करने वाले (ऋक्) मंत्र का पाठ किया जाता है। ऐतरेयकार ने इसका व्याख्यान इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

---

१-देखो विनियुक्त मंत्रों में रूपसमृद्धि के अन्तर्गत (ई) खण्ड में पृ० ९-१०।

२-श० ब्रा० १३. ५, १, ११ ३- तु०क० यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक् जै० पू० मी०।

(अयम्) इस (खादिनम्) हवि आदि के भक्षक तथा (विशाम्) मनुष्यों के (स्वध्वरम्) शोभन यज्ञ के निष्पादक (अग्निम्) अग्नि को अध्वर्यु गण (शिशुम् जातम्) सद्योजात शिशु के (न) समान (हस्ते) हाथ में (आ विभ्रति) धारण करते हैं।

जो अग्नि मंथन से प्रथम उत्पन्न होता है, वह शिशु के सदृश है। 'न' शब्द स्वीकृति के अर्थ में उपमा को प्रदर्शित करने वाला माना गया है। 'न' को पदपूरण निपात भी माना जा सकता है। अग्नि उत्पन्न होते ही अरणियों को-अपने माता-पिता को क्षीण कर देता है। शिशु का भी यही गुण है–

'श्यति तनुकरोति पित्रोः शरीरमिति शिशुः'।[1]

(६) अग्नि उत्पन्न हो जाने के पश्चात् उसे आहवनीय कुण्ड में डाला जाता है। इस कर्म के लिये मंत्र का पाठ किया जाता है, जिसमें सद्योमथित अग्नि से उसके अपने स्थान आहवनीय अग्नि में बैठने की प्रार्थना की गई है–

हे अध्वर्यु गण, (देवम्) द्योतमान अथवा प्रकाश-युक्त तथा (वसुवित्तमम्) धनों को प्राप्त कराने वाले अग्नि को (देववीतये) देवताओं को हवि ग्रहण कराने के लिये (प्र भरत) आहवनीय अग्नि में छोड़ो। वह अग्नि (स्वे योनौ) अपने (योनि) स्थान आहवनीय अग्नि में (आ निषीदतु) भलीप्रकार उपवेशन करे।

ऐतरेयकार ने 'स्वे योनौ' का अर्थ स्पष्ट करते हुये बतलाया है कि यह (आहवनीय) अग्नि ही (सद्योमथित) अग्नि की योनि है। यहां ब्राह्मणकार 'योनि' को √ यु मिश्रणे से मान रहे हैं–मिलने, संगत होने का स्थान।

(७) 'तं मर्जयन्त' से प्रारम्भ होने वाला यह मंत्र मथिताग्नि की आहवनीय अग्नि में स्थापना करते समय पढ़ा जाता है। मथिताग्नि की प्रशंसा इस मंत्र में वर्णित हुई है। ऐतरेयकार के अनुसार इसका अर्थ निम्न प्रकार समझ में आता है–

(सुक्रतुम्) शोभनप्रज्ञ, (आजिषु) संग्रामों में (पुरोयावानम्) आगे बढ़ने वाले (वाजिनम्) बलशाली (तम्) उस निर्मथित-अग्नि को यजमान (स्वेषु क्षयेषु) आहवनीय अग्नि रूपी अपने घर में (मर्जयन्त) सुशोभित करते हैं।

अग्नि पुरोहित है। यहां इस बात को पुरोयावन् पद से व्यक्त किया है। अग्नि के संग्राम यज्ञ ही हैं। आजि पद √ अज् जाना से बनता है। अग्निदेवों के लिये हवि पहुंचाने के लिये यज्ञ में जाता है, और सब देवों को लाने के कारण 'पुरोयावन्' है। पुरोयावनम् में लुप्तोपमा भी मानी जा सकती है।

१– देखो उ० को० १. २० पर दयानन्द भाष्य।

(८) सोमक्रय के समय वाणी मौन धारण कर लेती है। वही वाणी अग्नि-प्रणयन कृत्य के समय दूसरे मंत्र के उच्चारण के साथ मौन का त्याग कर देती है। अतः इस दूसरे मंत्र में अग्निप्रणयन और वाणी के छोड़ने का भाव विद्यमान रहना चाहिये। ऐतरेयब्राह्मणकार के अनुसार इस मंत्र का अर्थ निम्न प्रकार होगा-

(अयम् स्य उ) यह वह वाणी (रूप अग्नि), जो पहले गन्धर्वों के पास थी, अब प्रकट हो गई है। (देवयुः) देवताओं का संगमक (होता) तथा देवताओं का आह्वाता वह (अग्नि) अब (रथोन) रथ के समान (यज्ञाय) यज्ञ के लिये (प्रनीयते) ले जाया जाता है। (योः) देवताओं के समीप हवि वहन करने वाला (घृणीवान्) दीप्तिमान् अग्नि (अभिवृत्तः) ऋत्विज् और यजमानों से घिरा हुआ (त्मना) स्वयं (चेतति) सम्यक् प्रकार से देवों को हवि देना जानता है।

ऐतरेयकार 'अयमुष्यः' को एक पृथक् वाक्य मानते हैं। और उसमें वाणी का अपना कथन बतलाते हैं। वाणियां अग्नि को धारण करती हैं।[1] वाक् को अग्नि कहा गया है।[2] इस मंत्र का छन्द अनुष्टुप् है, जिसे वाक् का पर्याय माना है। अतः ऐतरेयकार इस मंत्रांश को एक पृथक् वाक्य मानते हैं।

यह मन्त्रांश मन्त्र के प्रारम्भ में पूर्णरूपेण पृथक् है। ऐतरेयकार छन्दो-नाम के अर्थ के आधार पर अनेक बार रूपसमृद्धि का प्रदर्शन करते हैं। डा० एस० के० गुप्त छन्दोनाम को भी मन्त्र के विषय का द्योतक पद बताते हैं। इस दृष्टि से यह अंश वाणी का द्योतक माना जा सकता है।

परन्तु एक मंत्र में दो विषयों का समावेश कुछ अटपटा सा लगता है। अर्थ मे भी अध्याहार करना पड़ता है। अतः इस मंत्रांश को भी यदि 'देवयुः होता' का विशेषण मानकर अग्नि को वाक् और मथित अग्नि दोनों का पर्याय से वाचक मानलें, तो स्थिति कुछ संगत मानी जा सकती है।

(९) अग्नि-प्रणयन कृत्य में अग्नि की प्रार्थना के लिये मंत्र का पाठ किया जाता है। अग्नि यजमान को अमृतत्व प्रदान करता है तथा उसके जीवन की रक्षा करता है। इस भाव के द्योतक उक्त मंत्र का अर्थ इस प्रकार बनता है-

(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (ऊरुष्यति) यजमान की रक्षा करता है और (अमृतात् जन्मनः इव) मानो अमृत की योनि से यजमान को अमरता प्रदान करता है। यह (सहसश्चित्) बलशालियों में (सहीयान्) अधिक बलवान् या शक्तिशाली है। यह (देवः) अग्निदेव हमारे (जीवातवे) जीवन के लिये (कृतः) बनाया गया है।

१- ऋ० ३-१. ६, १०-१२५. १। २-गो० ब्रा० २. ४. ११ आदि

यहां 'इव' को पदपूरण मानकर 'अमृतात् जन्मनः' में (ल्यब्लोप में) पंचमी मानकर यह योजना भी की जा सकती है–

'अमरजन्म प्रदान करके यह अग्नि यजमान की रक्षा करती है।'

(१०) अग्नि-प्रणयन कृत्य में अग्नि को उत्तरवेदी के मध्यस्थान में स्थापित करते हुये उससे यजमान को यज्ञ प्राप्त कराने की प्रार्थना की गई है। मंत्र का अर्थ इस प्रकार है–

(स्वनीक) हे शोभनमुख वाले (अग्ने) अग्नि, (विश्वेभिः) सम्पूर्ण (देवैः) देवताओं के साथ (प्रथमः) सब में अग्रगण्य तुम, (ऊर्णावन्तम्) ऊन से भरी हुई (कुलायिनम्) देवदारु की लकड़ियों की परिधियों, गुग्गुल, ऊन तथा सुगन्धितांजन से निर्मित घोंसले के सदृश (घृतवन्तम्) घृतसंयुक्त (योनिम्) उत्तरवेदी के मध्य में (सीद) अवस्थान करो। (सवित्रे) हव्य के प्रेरक या दाता (यजमानाय) यजमान के लिये (यज्ञम्) यज्ञ को (साधु) सरलरीति से (नय) प्रतिष्ठित करो।

'कुलायिनम्' का अर्थ ऐतरेयकार ने 'कुलायमिव' ह्येतद्यज्ञे 'क्रियते' दिया है। ये इसे 'कुलाय' से नामधातु मानते प्रतीत होते हैं। सायण ने अपने भाष्य में ऐतरेयकार के एतद्विषयक लेख का भाव स्पष्ट करते हुये लिखा है कि जैसे पक्षी तिनकों, लकड़ियों (सुगन्धित घास, धागों) आदि से नीड़ बनाते हैं, वैसे ही पेतुदारु आदि यज्ञ-सामग्री वहां घोंसले का कार्य कर रही थी।

इस मंत्र के उच्चारण से ऋत्विज् यजमान को सीधा यज्ञ में बिठा देता है। अतः ऐतरेयकार की दृष्टि में यहां प्रार्थना के स्थान संकल्प अथवा क्रियमाण का कथन किया गया हो सकता है।

ऐतरेयब्राह्मण का मुद्रितपाठ 'सनीक' है। ऋग्वेदीय पाठ 'स्वनीक' है। ऊपर अनुवाद में ऋग्वेदीय पाठ ही अपनाया गया है।

(११) उत्तरवेदी के मध्य में अग्नि को स्थापित करते हुये सातवें मंत्र द्वारा कहा है कि–

(होता) देवताओं का आह्वाता, (विदानः) विद्वान्, (त्वेषः) प्रज्वलित, (दीदिवान) दीप्तिमान् (सुदक्षः) प्रकृष्ट बलशाली, (अदब्धव्रतप्रमतिः) अप्रतिहत कर्म-वाला, अत्यधिक बुद्धिशाली, (वसिष्ठः) देवों में श्रेष्ठ, (सहस्रंभरः) नानाविधरूपधारक, (शुचिजिह्वः) विशुद्ध ज्वाल-शिखा वाला (अग्निः) अग्नि (होतृषदने) उत्तरवेदी की नाभि में (नि असदत्) भली प्रकार बैठे।

अग्नि को 'अदब्धव्रतप्रमति' होने के कारण वसिष्ठ कहा गया हो सकता है।

अग्नि को 'सहस्त्रंभर' इसलिये कहा गया है कि वह एक होने पर भी अनेक स्थानों पर ले जाया जाता है। 'विहरन्ति' को 'एकं' सद्विप्रा बहुधा वदन्ति की दृष्टि में, 'कहते हैं' का वाचक भी मान सकते हैं।

(१२) अग्नि-प्रणयन के समाप्ति मंत्र-'त्वं दूतस्त्वमुनः' में अग्नि की प्रार्थना की गई है। अग्नि देवों का रक्षक है। वह अपनी और यजमान आदि सबकी रक्षा करता है। इसी भाव को प्रदर्शित करते हुये ऐतरेयकार ने उक्त मंत्र का आंशिक व्यख्यान प्रस्तुत किया है-

(वृषभ) अभीष्टवर्षक (अग्ने) हे अग्नि, (त्वम् दूतः) तुम देवदूत हो, (त्वम्) तुम ही (नः) हमारे (परस्पाः) परम पालक हो, तुम (वस्यः) धनों को (आ प्रणेता) सब ओर से लाने वाले हो। (अप्रयुच्छन्) प्रमादशून्य तथा (दीधत्) दीप्तिशाली और (गोपा) देवरक्षक तुम (नः) हमारे (तोकस्य तने) और हमारे पुत्र और पौत्रों के (तनूनाम्) शरीरों को (बोधि) जानो।

'तनूनाम्' में कर्म में षष्ठी है। पदकार ने 'परस्पाः' को अवगृहीत किया है। इसमें अग्नि के दो विशेषण भी माने जा सकते हैं। अवग्रह की दृष्टि से यह कर्मधारय प्रमास है। अतः इसका अर्थ 'पश्चासौ पाश्च'-उत्कृष्ट पालक लेना उचित होगा। सायण का भी यही भाव है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सब ओर से पार करने और रक्षा करने वाला' अर्थ किया है।

(१३) अध्वर्यु हविर्धानों को लेजाने के लिये यथोचित मंत्र का पाठ करता है। इस मंत्र-पाठ द्वारा वह हविर्धानों को ब्रह्म से युक्त करता है। मंत्र का अर्थ इस प्रकार है-

हे हविर्धानों, (वाम्) तुमको मैं (पूर्व्यम्) सर्वप्रथम उत्पन्न (ब्रह्म) ब्रह्म से और (नमोभिः) अन्न आदि से (युजे) युक्त करता हूं। (पथ्येव सूरेः) जिस प्रकार स्तोता की कल्याण-कारिणी आहुति विविध देवों के समीप पहुंचती है, उसी प्रकार मेरा यह (श्लोकः) शब्द (वि एतु) सब देवों के समीप पहुँचे। (ये) जो (अमृतस्य पुत्राः) अमर पुत्र, (दिव्यानि धामानि) दिव्य धामों में (तस्थुः) निवास करते हैं, वे (विश्वे) सब (आश्रृण्न्तु) सुनें।

ऐतरेयकार लिखते हैं कि देवों ने हविर्धानों को 'ब्रह्मन्' से युक्त किया था। अतः इस मंत्र को पढ़कर होता भी हविर्धानों को ब्रह्मन् से युक्त कर देता है और उन्हें सुरक्षित कर देता है क्योंकि ब्रह्मन् से युक्त होकर कोई कष्ट नहीं होता है।

मंत्रगत 'श्लोकः' और 'श्रृण्वन्तु' की दृष्टि में यहां ऐतरेयकार को 'ब्रह्मन्' का अर्थ 'प्रार्थना' मंत्र और वाणी अभिप्रेत प्रतीत होता है। ऐतरेय आरण्यक में वाग्ब्रह्म का भी कथन हुआ है।

१-देखो "निहोता होतृषदने०" का व्याख्यान ऐ० ब्रा०

(१४) हविर्धानों को उत्तरवेदी के पश्चिमी भाग में ले जाते समय द्यावापृथिवी सम्बन्धी तीन ऋचाओं का पाठ किया जाता है। द्यावा-पृथिवी देवों के दो हविर्धान हैं। जो हवि दी जाती है, वह सब द्यावा-पृथिवी के बीच में विद्यमान है। इस कारण 'प्रेतां यज्ञस्य' आदि मंत्रों का पाठ बताया गया है। क्रमशः इनका अर्थ इस प्रकार है–

(यज्ञस्य) यज्ञ के (शंभुवा) सुखसम्पादक द्यावा और पृथिवी रूपी हविर्धानों, (प्र इताम्) उत्तरवेदी की ओर शीघ्रता से जाओ। (युवाम्) हम तुम्हारी (आ वृणीमहे) प्रार्थना करते हैं, (च) तथा (हव्यवाहनम्) हव्यवाहक (अग्निम्) अग्नि की (इत्) भी (आवृणीमहे) प्रार्थना करते हैं।

(१५) (द्यावापृथिवी) द्यावा और पृथिवी रूपी हविर्धान (सिध्रम्) स्वर्गादि के साधक तथा (दिविस्पृशम्) सौर देवों की ओर जाने वाले (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) को (अद्य) आज (देवेषु) देवों के समीप (यच्छताम्) ले जायें।

(१६) (अद्रुहा) शत्रुताशून्य द्यावापृथिवी रूपी हविर्धान, (वाम्) तुम दोनों के (उपस्थम्) समीप (अद्य) आज (इह) इस यज्ञ में (सोमपीतये) सोमपान के लिये (यज्ञियाः देवाः) यज्ञार्ह-देवगण (आ सीदन्तु) बैठें।

इन मंत्रों का वैकल्पिक देवता 'हविर्धाने' भी दिया गया है। ऐतरेयब्राह्मणकार सम्भवतः इससे परिचित न थे। उनके काल में इनका देवता 'द्यावापृथिवी' ही माना जाता था।

(१७) हविर्धानों को लेजाते समय उनके बीच में एक दर्भ की माला बांधी जाती है, जिसे रराटी कहते हैं। रराटी श्वेत सी-काली सी होने के कारण मानो विश्वरूप होती है। इस बात का जानकार विद्वान् यदि रराटी के विश्वरूप को ध्यान में रखकर उसकी ओर देखता हुआ मंत्र का पाठ करे तो उसको और यजमान को विश्वरूप प्राप्त हो जाता है। अतः रराटी की ओर देखता हुआ होता कहता है–

(कविः) विद्वान् सविता (विश्वा) समस्त (श्वेत और कृष्ण आदि) (रूपाणि) रूपों को (प्रतिमुंचते) धारण करता है। वह (द्विपदे) मनुष्यों और (चतुष्पदे) पशुओं के (भद्रम्) गमनादिविशयक कल्याण को (प्रावासीत्) उत्पन्न करता है। (वरेण्यः) वरणीय (सविता) प्रेरक सविता (ऋत्विज और यजमान के लिये) (नाकम्) विश्वरूपी स्वर्ग को (अख्यत्) प्रकाशित करता है। वह (उषसः) उषा के (प्रयाणम्) चले जाने के (अनु)पश्चात् (विराजति) प्रकाशित होता है।

इस मंत्र का देवता सविता है, छन्द जगती है और श्यावाश्व आत्रेय ऋषि है।

(१८) हविर्धानों (शकटद्वय) को लेजाते समय उनको दो अलग-अलग वस्त्रों से आच्छादित किया जाता है। उसके पश्चात् एक तीसरे वस्त्र से दोनों को ढँकते हैं।

यज्ञकर्म में दोनों हविर्धान पूजे जाते हैं तथा मंत्र द्वारा यजमान को आशीर्वाद दिया जाता है। ये सब भाव होता द्वारा पठित इस मंत्र में आगये हैं। ब्राह्मणकार के अनुसार इसका अर्थ निम्न प्रकार बनता है।

हे इन्द्र, तुम (द्वयोः) दोनों हविर्धानों के (अधि) ऊपर (अदधाः) तृतीय आवरण डालते हो। (उक्थम् वचः) यज्ञकर्म सम्पन्न करते हो, (यतस्रुचा) हवि के लिये उठाये स्रुकवाले तथा (मिथुना) परस्पर मिले हुये ये हविर्धान (सपर्यतः) पूजे जाते हैं। (असंयत्तः) शान्त होता (ते) तुम्हारे (व्रते) व्रतका (क्षेति) आचरण करता है तथा (पुष्यति) प्रजा और पशु द्वारा समृद्धि प्राप्त करता है। (सुन्वते) सोमाभिषव करने वाले (यजमानाय) यजमान को (भद्रा) कल्याणकारी (शक्तिः) शक्ति का लाभ हो।

सायण भाष्य में लिखा है कि हविर्धान–शकटों पर सोम रखने के लिये घर के रूप का एक आच्छादन किया जाता है। इसे छदि कहते हैं। दोनों शकटों में मिलाकर दो छदियाँ होती हैं। इन दोनों के ऊपर एक और (अन्य) छदि बनाई जाती है। ।'अधि द्वयोरधाः'' में इन्हीं तीनों की ओर संकेत है।

ऐतरेयकार ने ''उक्थ्यं वचः'' का अर्थ 'यज्ञियकर्म' दिया है। क्योंकि उसी से यज्ञ को समृद्ध किया जाता है बिना कर्म के यज्ञ व्यर्थ है।

''यतस्रुचा'' को तृतीयान्त बहुव्रीहि मानकर इसका अर्थ ऋत्विक् या निर्देशक भी लिया जा सकता है।

(१९) अग्नि और सोम के प्रणयनकर्म में सवितृ मंत्र पढा जाता है, क्योंकि सब प्रसवों के स्वामी सविता द्वारा उत्पन्न या प्रेरित जन ही अग्नि और सोम दोनों का प्रणयन करते हैं—

(देव सवितः) हे सविता देव, (प्रथमाय) इस श्रेष्ठ अथवा प्रथम यज्ञ कार्य में प्रवृत्त (पित्रे) पालक (अस्मै) इस यजमान के लिये (वर्ष्माणम्) कर्मों के सेचक अग्नि को तथा (वरिमाणम्) महिमाशाली सोम को (सावीः हि) प्रेरित ही कीजिये। (अथ) इसके पश्चात् (दिवःदिवः) प्रतिदिन (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (भूरि) अत्यधिक रूप में (पश्वः) देवों के पशु अग्नि और सोम के (वार्याणि) कमनीय दानों की (आसुवा) प्रेरणा करते रहिये।

ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार[1] अग्नि देवों का पशु है–''अग्निर्हि देवानां पशुः'' तथा कौषीतकि ब्राह्मण[2] में सोम को भी (सोम एवैष प्रत्यक्षं यत्पशुः) पशु कहा गया है।

१- ऐ०ब्रा० १.१५। २– कौ०ब्रा० १२.६।

वर्ष्माणम्—√वृष् सेचने से मनिन् प्रत्यय करके बनता है। वर्षति कर्मसु शक्तिं सिंचति (अथवा–देवेभ्यः कामान्) स वर्ष्मा।[1]

वरिमाणम् को सायण ने उरुत्व का द्योतक माना है। इसे √वृ का रूप भी माना जा सकता है।

(द) मंत्रगत शब्दों के व्याख्यान द्वारा निर्दिष्ट रूपसमृद्धि-इस वर्ग में वे स्थल आते हैं, जहां मंत्र में आये हुये एक शब्द या वाक्य द्वारा ही कर्म विशेष में प्रयुक्त समस्त मंत्रसमूह की रूपसमृद्धि का दिग्दर्शन करा दिया गया है। इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाले मंत्रों की सूची निम्न प्रकार है—

क्रम संख्या	मंत्र संकेत	ब्राह्मण संकेत	मंत्र प्रतीक
(१)	ऋ०६– १६. १३	ऐ०ब्रा० १.१६	त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा०
(२)	– ६– १६. १४	....	तमु त्वा दध्यङ्०.
(३)	– ६– १६. १५	....	तमु त्वा पाथ्यो वृषा०
(४)	– १– ७४. ३	....	उत ब्रुवन्तु जन्तव०
(५)	– ८– ४४. १	.... १.१७	समिधाग्निं दुवस्यत घृतैः०
(६)	– १– ९१. १६	....	आप्यायस्व समेतु ते०
(७)	– १– ९१. १८	.... ७. ३३	सं ते पयांसि समु यन्तु वाजः०
(८)	– १०– १. ५	.... १. १७	होतारं चित्ररथमध्वरस्य०
(९)	– ७–८.४	....	प्र प्रायमग्निर्भरतस्य०
(१०)	– ५–४३.७	.... १.१९	अंजन्ति यं प्रथयन्तो न विप्राः०

ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार इसका अर्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है-

१- सोम के आगमन पर अग्नि-मंथन कर्म में तीन मंत्रों का पाठ बताया गया है। इन मंत्रों में से पहले मंत्र में 'अथर्वा ने मंथन किया'–'अथर्वा निरमंथत' पदों के आजाने से प्रधान कर्म के साथ इन मंत्रों के अर्थ का समन्वय होजाता है, अतः रूपसमृद्धि बनी रहती है। ऐतरेयब्राह्मण में अन्य स्थलों की भांति यहां भी यह माना है कि इन मंत्रों का देवता अग्नि है और उसका छन्द गायत्री है। अतः अग्निमन्थन कर्म में इन मंत्रों का पाठ परम समृद्ध है।

ऐतरेयब्राह्मणकार ने इन मंत्रों का व्याख्यान प्रस्तुत नहीं किया है। ऐतरेयब्राह्मण की दूसरी पंचिका के दूसरे खंड में ऋ० १–३६. १३ का जो व्याख्यान

१-देखो उ० को० २.९.७।

प्रस्तुत हुआ है, उसमें 'वाघद्भिः'[1] शब्द के अर्थ-संकेत द्वारा प्रथम मंत्र का निम्न अर्थ बनता प्रतीत होता है-

(अग्ने) हे अग्नि, (त्वाम्) तुमको (विश्वस्य वाघतः) सबके स्तुतिगायक (अथर्वा) अथर्वा ने (मूर्ध्नः) मस्तक के सदृश श्रेष्ठ (पुष्करात् अधि) जलों के ऊपर (निरमन्थत) मथन करके प्रकट किया है ।

शतपथ ब्राह्मण [2] में इसका व्याख्यान देते हुये 'अथर्वा' का 'प्राण' तथा' वाधतः विश्वस्य का 'इस सब कुछ' अर्थ किया गया है। शतपथ का व्याख्यान ऋग्वेद [3] के अनुसार प्रतीत होता है । उसमें तदेक नाम देवों का एक असु (प्राण) था । उसने जब जलों का विकास किया, तब उनमें अग्नि उत्पन्न हुई । इसी जल से सब पदार्थ उत्पन्न हुये माने हैं ।

सायण और आधुनिकों ने अथर्वा तथा अगले मंत्रों के दध्यङ् और वृषा को ऋषि-विशेषों का नाम माना है । डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा ने अपने शोध प्रबन्ध में इस मान्यता पर सन्देह व्यक्त करते हुये सायण आदि से भिन्न मान्यता रखी है ।[4]

इस मंत्र का छन्द गायत्री है, जिसका अर्थ प्राण[5] भी हो सकता है। ब्राह्मणकार संभवतः 'स्वेन छन्दसा समर्धयति' कहकर इस अर्थ की ओर निर्देश कर रहे हों ।

२- हे अग्नि, (अथर्वणः पुत्रः) अथर्वा के पुत्र (दध्यङ्-ऋषिः) दध्यङ्-ने (वृत्रहणम्) पापो के विनाशक तथा (पुरंदरम्) पदार्थों[6] को ध्वस्त करने वाले (त्वा) तुमको (ईधे) समुज्ज्वलित किया है ।

शतपथब्राह्मण [7] के अनुसार इस मंत्र में 'अथर्वा' का अर्थ प्राण है तथा प्राण के पुत्र दध्यङ् का अर्थ वाणी लिया गया है । ऐतरेयकार इस विषय में मौन हैं ।

३- तीसरे मंत्र का अर्थ-

१- ऐतरेयकार ने 'वाघद्भिः अंजिभिः' का सम्मिलित अर्थ छन्द किया है । इनका अलग अलग अर्थ लेने पर स्तुतिगायक स्निग्धता अर्थात् प्रशंसा करने वाले=छंद। इसी अध्याय के पृ० २३ पर भी देखें ।

२- श० ब्रा० ६.४.२.२ । ३- ऋ० १०,१२१.७, १०.१२९ भी देखें ।

४- राजस्थान-विश्व-विद्यालय द्वारा स्वीकृत उनका शोध प्रबन्ध 'ऋग्वेद के ऋषि' देखें । ५- प्राणो वै गायत्र्यः-कौ० ब्रा० १५.२ । ६- पुरम् का अर्थ शरीर या नगर है । अतः शरीरधारी मूर्तपदार्थ अर्थ लिया गया है ।

७-श०ब्रा० ६.४.२.२-४ ।

हे अग्नि, (पाथ्यो वृषा) पाथ्य वृषा ने (दस्युहन्तम्) प्रलयकालीन अन्धकार[1] के विघातक (-रणे-रणे) प्रत्येक युद्ध में (धनंजयम्) धन को जीतने वाले (तम् उ त्वा) उसी पूर्वस्तुत तुमको (समीधे) समुद्दीपित किया है।

शतपथ के अनुसार 'पाथ्य वृषा' का अर्थ मन लिया गया है। जब तदेक के मन में सिसृक्षा उत्पन्न होती है, तब वह अपनी कामना रूपी, मनके प्रथनशील अग्नि से जलों को गतिमान कर प्रलयकालीन अन्धकार का नाशकर जीवों को आनन्ददायक प्रत्येक सृष्टि-कर्म से (रणे-√रम् से) कमनीय स्थितियां उत्पन्न करता है।[2] इस सृष्टि का मूल कारण वाक्सूक्त में वाक् को बताया गया है।[3] यह वाक् जलों में गति आने पर उत्पन्न हुआ शब्द ही है।

मंत्रों में आये हुये 'पुरन्दरम्' 'दस्युहन्तम्' 'रणे-रणे' और 'धनंजयम्' का शतपथकार ने कोई व्याख्यान नहीं दिया है। आधुनिकों ने इन्हें 'नगरों का ध्वंसक,' 'राक्षसों का हन्ता, प्रत्येक युद्ध और धनों को जीतने वाला' समझा है। सृष्टि-सम्बन्धी प्रकरण में इनका लाक्षणिक अर्थ लेकर ही संगति बिठाई जा सकती है।

४– अग्नि को मथते समय यदि नैमित्तिक राक्षसघ्नी एक या दो ऋचाओं के पढ़ने पर अग्नि उत्पन्न होजाय, उस समय उत्पन्न-अग्नि के योग्य निम्नलिखित मंत्र का पाठ किया जाता है। इस मंत्र में अग्नि के उत्पन्न होने का कथन होने से यह ऋचा अभिरूप है–

(वृत्रहा) चिरोत्पत्तिकारक (विघ्नरूप) राक्षसों को मारने वाला तथा (रणे-रणे) प्रत्येक युद्ध में (धनंजयः) धन को जीतने वाला अग्नि (उत् अजनि) उत्पन्न होगया है। अतः (जन्तवः) सभी प्राणी (उत ब्रुवन्तु) इसकी स्तुति करें।

पिछले मंत्र में 'रणे-रणे' आदि पर दी हुई टिप्पणी यहां भी चरितार्थ हो सकती है। प्रकरण में अग्नि का रण-प्रतिरोधक, राक्षसवत् उसकी उत्पत्ति में बाधक भाव अरणियों के गीले होने आदि में पाया जाता है। अतः 'रण' का अर्थ यहां 'अरणियों का घर्षण' अथवा यज्ञ किया जा सकता है, तथा 'धन' हव्यपदार्थों और अरणी का वाचक अभिप्रेत हो सकता है।

५– आहवनीयाग्नि में मथिताग्नि की स्थापना के पश्चात् होता आज्य भागों के दो पुरोनुवाक्य पढ़ता है। पहले में मथिताग्नि को आहवनीय अग्नि का अतिथि मानकर उसका वर्णन किया गया है। दूसरी पुरोनुवाक्या ऋचा में सोम को अतिथि मानकर वर्णन प्रस्तुत किया है। ऐतरेयब्राह्मणकार के संकेतानुसार इनका अर्थ निम्नप्रकार बनता है–

१–देखो वे०ला० १.१०.३। २– ऋ० १०.१२९।

३–ऋ० १०. १२५, वे०ला २ भी देखें।

प्रथम पुरोनुवाक्या में ऋत्विजों को सम्बोधन करते हुये कहा गया है–

हे ऋत्विजों, (अतिथिम्) अतिथिरूप अग्नि की (समिधा) समिधा द्वारा (दुवस्यत) परिचर्या करो। (घृतैः) घृत के द्वारा (बोधयत) उस अग्नि को प्रबुद्ध करो। (अस्मिन्) इसमें (हव्या) आहुति या हवि (जुहोतन) डालो।

६– दूसरा पुरोनुवाक्य सोम को सम्बोधित करके कहा गया है। इस मंत्र में सोमरूपी अतिथि को वृष्ण्य और वाज प्राप्त कराया गया है। इनकी प्राप्ति से वह आपीन (पुष्ट) होता है। अर्थ निम्नप्रकार किया जा सकता हैं–

हे सोम, (आप्यायस्व) अतिथि होने के नाते तुम आपीन (पुष्ट) हो जाओ। (ते) तुम्हें (विश्वतः) सब ओर से (वृष्ण्यम्) वृष्यत्व प्रदान करने वाले अथवा शक्ति-वर्धक पदार्थ (समेतु) सहज ही प्राप्त हों। तुम (वाजस्य) वाज अथवा अन्न के (संङ्थे) साथ (भव) हो जाओ अर्थात् तुम्हें अन्न प्राप्त हो।

ऐतरेयब्राह्मणकार ने चमसपूरण कर्म में भी इस मंत्र का विनियोग प्रस्तुत किया है।[1] एक ही मंत्र को प्रसंगानुसार विनियुक्त करने से अर्थ में अन्तर पड़ना स्वाभाविक है।

यजमान सोमपान के लिये अपने चमस उठाता है तथा चमस की स्तुति में यही मंत्र पढ़ता है। यहां भी 'आप्यायस्व' शब्द से रूपसमृद्धि को दिखाया गया है। चमस के साथ इसका अर्थ निम्नप्रकार बनता है–

हे सोम, (आप्यायस्व) इस चमस को पूर्णरूप से भरदो। (ते) तुम्हें (विश्वतः) चारों ओर से (वृष्ण्यम्) शक्ति (सम् एतु) सहज ही प्राप्त हो। शेष अर्थ पूर्ववत् ही समझना चाहिये।

७– इसी मंत्र के साथ चमस–पूरण कर्म के लिये दूसरा मंत्र भी दिया गया है। इसमें भी 'आप्यायमान्' शब्द के आजाने से रूपसमृद्धि दिखाई गई है। यहां भी वही चमस के भरने का भाव निहित है। मंत्र का अर्थ निम्न प्रकार हो सकता है–

हे सोम, (अभिमातिषाहः) शत्रुनाशक (ते) तुममें (पयांसि) क्षीरादि रस, (वाजाः) हविलक्षण अन्न, (वृष्ण्यानि) वृष्यत्वकारी अन्य पदार्थ (सम् यन्तु) पूर्ण रूप से आवें। तुम (अमृताय) हमारे अमरत्व के लिये (आप्यायमान) प्याले में भरते हुये (दिवि) स्वर्ग में (उत्तमानि) उत्कृष्ट (श्रवांसि) अन्न को (धिष्व) धारण करो।

८– तथा ९– आतिथ्य-इष्टि के अन्तर्गत स्विष्टकृत् के दो संयाज्य मंत्र पढ़े जाते हैं। इनमें उस अग्नि की स्तुति की जाती है, जो अतिथि है। इन दोनों मंत्रों में

१– ऐ० ब्रा० ७.३३।

अतिथि शब्द पड़ा है। ऐतरेयकार ने इन दोनों को अतिथि सम्बन्धी ऋचायें कहकर इनकी रूपसमृद्धि का संकेत किया है। इन दोनों मंत्रों का सायणीय व्याख्यान ही ब्राह्मणकार को अभीष्ट प्रतीत होता है।

१०- प्रवर्ग्य-इष्टि में महावीर नामक हव्यपात्र को अग्नि के ऊपर स्थापित करते समय घृत के अंजन कर्म में 'अंजन्ति' शब्द के प्रयोग से रूपसमृद्ध यह मंत्र पढ़ा जाता है-

(न) मानों (प्रथयन्तः) कर्म का विस्तार करते हुये (विप्राः) ऋत्विज् आदि (वपावन्तम्) पीन काय (यम्) जिस हव्यपात्र को (अग्निना) अग्नि से (तपन्तः) तपाते हुये (अंजन्ति) घृत से मलते हैं। वह (घर्मः) हव्यपात्र (पितुः) पिता की (उपसि) गोद में (श्रेष्ठः) प्रियतम (पुत्रः) पुत्र के (न) समान (अग्निम्) अग्नि के (ऋतयन्) अनुकूल हेता हुआ (असादि) स्थापित हुआ है।[1]

यहां अंजन क्रिया में विस्तारकर्म की सम्भावना व्यक्त की गई है। सायण ने प्रथम 'न' को अब का और दूसरे 'न' को उपमा का वाचक माना है।

'ऋतयन्' का अर्थ सायण के मत में 'यज्ञ की इच्छा करता हुआ' है। उपमा में घर्म के अग्नि पर स्थापना को पुत्र का पिता की गोद में बैठना बताया है। अतः अनुवाद में अग्नि की अनुकूलता का भाव लिया गया है। यह पद √ ऋ से निष्पन्न 'ऋत' से नामधातु है।

सायण, रामगोविन्द त्रिवेदी आदि [2] ने 'वपावन्तम् न' का अर्थ (वपा) चर्बी से प्रवृद्ध पशु के समान बतलाया है। यहां 'वपावन्त' का अर्थ मोटी चादर का बना हुआ प्रतीत होता है। घर्म (हव्यपात्र) प्रायः मोटी चादर के बने हुये होते थे, जिससे उनका निचला भाग अग्नि द्वारा शीघ्र न जलाया जा सके। अनुवाद में पीन अर्थ दिया गया है, क्योंकि वपावान् को लोक में पीन माना जाता है।

(ध) शब्द या शब्दों के साम्य के आधार पर ऐतरेयब्राह्मणकार ने जो रूपसमृद्धि प्रकट की है, उसमें मंत्रगत शब्दों में निर्दिष्ट कर्म का संकेत प्राप्त हो जाने के कारण उन्हें कर्म के अनुरूप मान लिया गया है। इन मंत्रों की सूची इस प्रकार है-

क्रम संख्या मत्र सकेत	ब्राह्मण संकेत	मत्र—प्रतीक
(१) ऋ० ५-७६ (पूरासूक्त)	ऐ० ब्रा० १. २१	आभात्यग्निरुषसामनीकं०
(२) - १. ११२	....	ईडे द्यावा पृथिवी पूर्वचि०
(३) - ७.१५.१-३	.... १.२५	उपसद्याय मीलहुष आस्ये०

१- तु० क० तै० आ० ५.१.५। २- ऋ०सा०भा०पृ० ८५५ तथा ऋ० हि०अ० (रामगोविन्दत्रिवेदीकृत) पृ० ५९९-संस्करण १९५४।

(४)	ऋ० २.६.१-३	ऐ० ब्रा० १.२५	इमां मे अग्ने समिध०
(५)	- ४.७.१	.... १.२८	अयमिह प्रथमो धायि०
(६)	- ७.५१.२	.... ३.३९	आदित्यासो अदि्तिः०
(७)	आ०श्रौ० ५.१८	....	दमूना देव.सविता वरेण्यः०
(८)	ऋ० १.१६ (पूरासूक्त)	.... ६.६	आत्वा वहंतु हरयः०
(९)	- ८.३८.७	.... ६.१०	प्रातर्याविभिरागत देवेभिः०
(१०)	- ७.२१ (पूरासूक्त)	.... ६.११	असावि देवं गो ऋजीकमंधः०
(११)	- ४.३५	.... ६,१२	इहोपयात शवसो नपातः०

उक्त मंत्र-सूची में पांच पूरे सूक्तों का संकेत है। अर्थ प्रस्तुत करते हुये इन सूक्तों के प्रथम मंत्रों को ही ग्रहण किया गया है।

१- प्रवर्ग्य-इष्टि के लिये ब्राह्मणकार ने ऋग्वेद के पांचवे मंडल के ७६ वें सूक्त को विनियुक्त किया है। इसमें प्रथम मंत्र के चतुर्थपाद में 'पीपिवांसम् अश्विना घर्ममच्छ' वाक्य को यज्ञ का अभिरूप कहकर रूपसमृद्धि प्रदर्शित की है। यह पांच ऋचाओं वाला सूक्त अश्विनी की स्तुति में पढ़ा जाता है। उनका प्रवर्ग्य में आह्वान किया गया है। प्रथम मंत्र का अर्थ इस प्रकार बनता है-

(उषसाम् अनीकम्) उषा का मुख अथवा उषाकाल में प्रबुध्यमान (अग्निः) अग्नि (आभाति) दीप्त होता है। (विप्राणाम्) मेघावी स्तोताओं के (देवस्याः) देवाभिलाषी (वाचः) स्तोत्र (उत् अस्थुः) उद्गीत होते हैं। (रथ्या) हे रथाघिपति (अश्विनौ) अश्विदय, तुम दोनों (नूनम्) आज (इह) इस (पीपिवांसम्) सोमरस से पूर्ण-समृद्ध (घर्मम्) प्रवर्ग्य यज्ञ (अच्छ) को अभिलक्ष्य करके (अर्वांचा) हमारी ओर (यातम्) आगमन करो।

इस सूक्त के पांचों मंत्रों में प्रथम मंत्र के चतुर्थ पाद को लेकर रूपसमृद्धि बतलाई गई है। इसी प्रकार शेष चारों मंत्रों का अर्थ लगाया जा सकता है। विस्तार भय से यहां केवल एक ही मंत्र का अर्थ दिया गया है।

'पीपिवांसम्' को 'पुष्ठ अंगों वाला' का वाचक माना गया प्रतीत होता है। प्रवर्ग्य सोमरस से समृद्ध होता है, अतः अनुवाद की वैसी योजना की गई है।

इस सूक्त का छन्द त्रिष्टुप् है। ऐतरेयकार मानते हैं कि त्रिष्टुप् 'वीर्य' का वाचक है। अतः इस सूक्त के पाठ से प्रवर्ग्य में वीर्य-शक्ति का आधान कर दिया जाता है (जिससे वह समर्थ हो जाता है)।

अश्विनौ नासत्य हैं, जिन्हें यास्क ने नासिका से उत्पन्न बताया है। नासिका से प्राण और अपान उत्पन्न होते हैं। ये दोनों एक ही वायु के दो रूप हैं। प्राण ही रेतस्

है ।[1] वीर्य और रेतस् पर्याय हैं । सम्भवतः इस प्रकार अश्विनौ को 'वीर्य' का वाचक मानकर उन्हें यजमान या प्रवर्ग्य की ओर आने के लिये कहा गया है । यह आह्वान ही यजमान और प्रवर्ग्य में वीर्य का स्थापन है । सूक्त के शेष चार मंत्रों से भी ऐतरेयकार कौ ऐसा ही भाव अभिप्रेत है । वहां शंभविष्ठा, शन्तम् आदि पदों से भी ऐसी ही भावना ग्रहण की गई प्रतीत होती है ।

२- प्रवर्ग्य (यज्ञ) की समृद्धि के लिये तथा प्रवर्ग्य रूपी यज्ञपुरुष को पशु आदि धारण कराने के लिये ऐतरेयकार ने ऋग्वेद के इस सूक्त का विनियोग दिया है । इस पूरे सूक्त को रूपसमृद्ध इसलिये बतलाया गया है कि इसमें 'अग्नि, धर्म, सुरुचं' शब्द आये हैं । सूक्त[2] के प्रथम मंत्र का अर्थ इस प्रकार है-

मैं (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिवी की (पूर्वचित्तये) अन्य सब ऋत्विज्-यजमानों से पूर्व, प्रज्ञापन के लिये (ईडे) स्तुति करता हूं । (यामन्) अश्विद्वय के आजाने पर मैं (धर्मन्-सुरुचम् अग्निम्) शोभन कान्ति से युक्त अग्नि की (इष्टये) प्रवर्ग्य के लिये (ईडे) स्तुति करता हूं । हे अश्विनौ, (भरे) संग्राम में (अंशाय) अपना भाग पाने के लिये (याभिः) जिन (ऊतिभिः) उपायों के द्वारा (कारम्) शख को (जिन्वथः) बजाते हो, (ताभिः) उन सब उपायों के साथ (आगतम्) आओ ।

द्यावापृथिवी अश्विनौ के वाचक हैं ।[3] उन्हें ही यहां सम्बोधित किया गया है । अश्विनौ प्राण हैं । प्राण ही पशु हैं । छन्द जगती है । पशु जागत हैं । अतः इस सूक्त पाठ से प्रवर्ग्य और यजमान में पशुओं का आधान कर दिया जाता है ।

भरे, अंशाय और कारम् इस मंत्र के विचारणीय स्थल हैं । इनका सायण-भाष्य सन्तोषप्रद प्रतीत नहीं होता । संभवतः इनका भाव 'संसार के व्यस्त जीवन में लाभ आदि की प्राप्ति के निमित्त कार्य करने वाला पुरुष' हो ।

ऐतरेयकार 'वपु' को पशु मानते हैं ।[4] अश्विनौ की रक्षा से रक्षितों में कान्ति आ जाती है । अतः उनमें पशुओं का आधान होजाना माना गया हो सकता है । इस सूक्त में अश्विनौ जिन-जिन कामनाओं के पूरक बताये गये हैं, उन सब कामनाओं की प्राप्ति इस सूक्त के पाठ से हो जाती है ।

३- उपसद् कृत्य में सामिधेनी ऋचाओं का पाठ किया जाता है। तीन सामिधेनी पूर्वान्ह में तथा तीन सामिधेनी ऋचायें अपरान्ह में पढ़ी जाती हैं ।[5] अग्नि-

---

१- ऐ०ब्रा० २. ३८ ।

२- ऋग्वेद के प्रथम मंडल के इस ११२ वें सूक्त में २५ मंत्र हैं, विस्तार भय से केवल प्रथम मंत्र का ही अर्थ किया गया है । ३-नि० १२.१, ऋ० १.११२ पर सा० भा० देखें । ४- ऐ०ब्रा० ५.६ । ५- पूर्वान्ह की सामिधेनियों ऋ० ७.१५. १-३ हैं तथा अपरान्ह की सामिधेनियों २.६.१-३ हैं ।

समिन्धन का कार्य सामिधेनियों द्वारा सम्पन्न होता है । इन ऋचाओं के प्रथम मंत्रों में उपसद् (कृत्य के साधक या सेवन) शब्द के आजाने से क्रिया के साथ इनकी अनुरूपता बतलाई गई है । अर्थ निम्न प्रकार है–

हे अध्वर्यु लोगों, (यः) जो अग्नि (नः) हमारे (नेदिष्ठम्) अत्यधिक समीप (आप्यम्) विद्यमान है, उस (उपसद्याय) उपसद्–कृत्य के साधक तथा (मीडहुषे) कामनाओं के वर्षक अग्नि के लिये उसके (आस्ये) मुख में (हविः) हव्य (जुहुत) दो ।

४– अपरान्ह में पठित ऋचाओं में से प्रथम ऋचा में उपसद् शब्द विद्यमान है, अतः अर्थ इस प्रकार बनता है–

(अग्ने) हे अग्नि, (मे) मेरी (इमाम्) इस (समिधम्) सम्यक् प्रकाशमान (उपसदम्) उपसद–क्रिया का (वनेः) उपभोग करो । (इमाः) मेरी इन (गिरः) स्तुतियों को (उ) भी (सुश्रुधि) ध्यानपूर्वक सुनो ।

समिधम् को काष्ठ आदि 'इध्म' का वाचक भी लिया जा सकता है ।

५– अग्नि–प्रणयन अर्थात् अग्नि को उत्तरवेदी में ले जाते समय कर्म की समृद्धि के लिये वर्णानुसार मंत्र बोलने का निर्देश करते हुये ऐतरेयब्राह्मणकार वैश्यों और पशुओं की द्योतक जागती छन्द वाली ऋचाओं का, वैश्य यजमान के निमित्त पाठ बतलाते हैं–

(अप्नवानः) कर्मपरायण (भृगवः) भृगुओं ने (वनेषु) कमनीय (विशे–विशे) पशुओं में (चित्रम्) दर्शमीय या विचित्र (विभवम् यम्) तथा महान् अथवा ऐश्वर्यशाली जिस अग्नि को (विरुरुचु) प्रदीप्त किया था, (अयम्) यह वही (होता) देवों का आह्वानकर्त्ता (यजिष्ठः) याज्ञिक श्रेष्ठ (अध्वरेषु) यज्ञों में (ईड्यः) स्तुति–भाजन, (प्रथमः) देवों में मुख्य अग्नि (धातृभिः) यज्ञ सम्पादकों के द्वारा (धायि) संस्थापित हुये हैं ।

इस मंत्र में 'विश्' शब्द के साम्य पर रूपसमृद्धि दिखलाई गई है । अन्यत्र विश् का अर्थ प्रजा लिया गया है ।[1] 'अप्नवानः' प्रथमा बहुवचनान्त है । राजानः के समान इसका रूप है तथा भृगवः का विशेषण है ।

भृगु का सामान्य अर्थ तेजस्वी पुरुष भी लिया जा सकता है । भृगुओं का भृगुत्व, तेज और तप में बताया गया है ।[2] ऐतरेयब्राह्मणकार ने भृगु की उत्पत्ति प्रजापति के द्वारा बतलाई है ।[3]

१– ऋ०सा०भा० पृ० ५३६ । २– गो०ब्रा० १.१.३. वै०को० पृ० ३८४ ।
३– ऐ०ब्रा० ३.३४ ।

वनेषु बहुवचनान्त है और आम्रेडित विशे-विशे के सामस्त्य-द्योतन की दृष्टि में विशे-विशे का विशेषण प्रतीत होता है। शतपथब्राह्मण के मत में पशु दैव्य-विश् हैं।[1] सम्भवतः ऐतरेयकार यहां विश् को पशुवाची मान रहे हैं। उन्होंने इस मंत्र के पाठ से यजमान को पशुओं से समृद्ध करने के कारण इसकों प्रकरण में रूपसमृद्ध माना प्रतीत होता है-'जागतो वै वैश्यो जागताः पशवः पशुभिरेवैनं तत्समर्धयति'।[2]

६- तृतीय सवन का रूप ऐतरेयब्राह्मणकार के अनुसार मदवाला है। इस सवन के आरम्भ में आदित्यग्रह होता है। इसके याज्य मंत्र [3] में 'मद' शब्द के आजाने से यह रूपसमृद्ध है। सायणीय-सरणि पर ही यहां इस मंत्र का अर्थ अभिप्रेत प्रतीत होता है। इसमें आदित्यों और अदिति की तृप्ति का वर्णन है। अतः इस मंत्र का विनियोग क्रियानुसारी है।

७- इसीप्रसंग में 'दमूना देवः सविता वरेण्यः' मंत्र में भी मद शब्द के आजाने से इसे तृतीय सवन का रूप बतलाकर रूपसमृद्धि प्रदर्शित की हे। यह ऋचा ऋग्वेद में नहीं आई है। इसे आश्वलायन ने अपने सूत्र में पढ़ा है।

इसी प्रकार षोडशी यज्ञ में पर्यायों के याज्य-मंत्र पढ़े जाते हैं। इन याज्य मंत्रों में अन्ध, पीत, और मद शब्द अवश्य होते हैं।[4] पं गंगाप्रसाद के अनुसार ये याज्य मंत्र पांच गिनाये हैं, जिनके संकेत पादटिप्पणी में दिये गये हैं।[5]

इन मंत्रों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि इनमें अन्धकार, पान या मादन में से एक या अधिक के वाचक पद मिलते हैं। 'अन्धस्- पद अन्न वाची है, परन्तु ऐतरेयकार उसे अन्धकारवाची मान रहे हैं। ऐतरेयकार ने इन मंत्रों को न उद्धृत किया है और न इनके सम्बन्ध में कुछ अधिक कहा है। सम्भवतः उनकी दृष्टि में सायण से मिलता-जुलता कोई अर्थ रहा हो।

८- प्रातः सवन में जब चमसों को सोम से भरते हैं, उस समय मैत्रावरुण के द्वारा ऋग्वेद के प्रथम मंडल का १६वाँ सूक्त पढ़ा जाता है। यह नौ मंत्रों वाला पूरा सूक्त वृषन्, पीत, सुत, और मद शब्दों से युक्त है अर्थात् सोम के निचोड़ने, पान करने, उसके द्वारा मद युक्त होने तथा उसके द्वारा वृष्यत्व-प्राप्ति के भाव इस सूक्त में मिलने से यह पूरा सूक्त रूपसमृद्ध है :

इन मंत्रों का देवता इन्द्र है जो यज्ञ का पर्याय है, और छन्द गायत्री है जो प्रातः सवन का वाचक हैं। अतः इस सूक्त में प्रातः सवन के यज्ञ का वर्णन आदि है।

१- दैव्यो वाऽ एता विशो यत्पशवः श०ब्रा० ३.७.३.९ २- ऐ०ब्रा० १.२८। ३- ऋ० ७-५१.२। ४- ऐ०ब्रा० ४.६। ५- ऋ० २.१४.१, ६.४४.१४, १०.१० .४२, ६.४०. १ तथा २.१९ १।

इस सूक्त में नौ मंत्र होने के कारण मध्यदिन सवन के मंत्रों से एक मंत्र कम है। यह न्यूनता साभिप्राय है। इसमें एक मंत्र जोड़कर मध्यंदिन के दस मंत्र पूरे किये जाते हैं, जैसे लोक में न्यून (= स्त्रीयोनि) में वीर्य स्थापना किया जाता है।

ऐतरेयकार के इस लेख और इस सूक्त से उसके सम्बन्ध का भाव सुस्पष्ट नहीं। इन्द्र सृष्टिकर्मों से सम्बद्ध होने के कारण 'तदेकम्' का वाचक हो सकता है, जो आपस् में कामरूप प्रथम रेतः का आधान करता है। क्या ऐतरेयकार का इस ओर संकेत तो नहीं है ? यदि ऐसा माना जाये तो इस सूक्त के मंत्रों के सायणादि द्वारा प्रस्तुत अर्थों में पर्याप्त अन्तर करना पड़ेगा। दयानन्द-भाष्य के अनुवाद में कहीं-कहीं ऐसी झलक-सी दिखाई पड़ती ज्ञात होती है।

९- प्रातः सवन में पढ़े जाने वाले अच्छावाक् के मंत्र में 'इन्द्राग्नी' पद होने से इसकी रूपसमृद्धि बतलाई गई है। यह मंत्र इन्द्र की प्रशंसा में है। इसमें इन्द्र शब्द प्रत्यक्ष रूप में आगया है। अतः ऐतरेयकार के मत में इसका इन्द्र-प्रमुख अर्थ है। प्रातः सवन की याज्याओं का प्राधान्येन स्तुत देवता इन्द्र है, गौण रूप से तत्तद्देवता भी स्तुत्य हैं। इन याज्याओं का छन्द गायत्री है, जो अग्नि का है। अतः ये सब मंत्र आग्नेय हैं। इस मंत्र में तो अग्नि का भी नाम साक्षात् पड़ा हुआ है।

इन लेखों से ऐतरेयकार सब देवों को इन्द्र का रूप मानते प्रतीत होते हैं। ऋग्वेद में देवों के एक असु का उल्लेख भी मिलता है, और उसके साथ अग्नि का भी।[1]

१०- माध्यन्दिन सवन में सोम को प्यालों में भरकर उठाते हैं। उस समय ऋग्वेद के सातवें मण्डल का २१ वां सूक्त पढ़ा जाता है। इसमें भी वृष्यत्व, पान, मद और सुत के भाव व्यक्त होने के कारण यह कर्म के अनुरूप है।

क्योंकि माध्यन्दिन सवन मद्वत् है। इसमें देवता मानों आनन्दित होते हैं।

ये सब ऋचायें इन्द्र की हैं। इन्द्र यज्ञ है। इनका छन्द त्रिष्टुप् है, जो माध्यन्दिन सवन का वाचक है। अतः ये ऋचायें माध्यन्दिन सवन के यज्ञ की विधायक हैं। ऐतरेयकार को इसी दृष्टि से इनका अर्थ अभिप्रेत प्रतीत होता है।

११- तृतीय सवन में अध्वर्यु के द्वारा प्रेषित मैत्रावरुण सोम-चमस के उन्नयन के लिये ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल का ३५ वां सूक्त पढ़ता है। उसमें वृषन् पान, सवन तथा मादन के भाव व्यक्त होने से यह सूक्त कर्म के अनुरूप माना गया है।

सर्वानुक्रमणी के अनुसार इन्द्र ऋचाओं का देवता 'ऋभवः' दिया है। ऐतरेयकार इन्द्र और ऋभु को देवता मानते हैं। सूक्त के केवल सातवें मंत्र में इन्द्र का वर्णन आया है,

---

१- ऋ० १०-१२१. ७ देखें।

वहां उसे भी देवता माना जा सकता है। ऐतरेयकार यहां इन्द्र को प्रमुख देवता मानते हैं और तीसरे सवन में अमर बने हुये मर्त्य ऋभुओं के भाग का अधिकारी होने के कारण (इन्द्र के) पवमान स्तोत्रों को ऋभु के भी कहा जाता है।

तृतीय सवन का छन्द जगती है। इस सवन में सोमरस समाप्त हो जाता है।' जगती छन्द इस कमी को पूरा नहीं कर सकना है। त्रिष्टुप् छन्द सरस (=अधीतरस) और शुक्रिय है। इस के पाठ से तृतीय सवन सरस हो जाता है। त्रिष्टुप् इन्द्र है। अतः ऐतरेयकार को इस सूक्त का इन्द्र परक सरस—अर्थ अभिप्रेत है। तभी रूपसमृद्धि सिद्ध होगी। यह अर्थ मृग्य है।

(न) बिना व्याख्यान के भी जिन विनियुक्त मंत्रों के अर्थ केवल क्रिया- निर्देशन के आधार पर अवभासित होते हैं, उनको इस वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है। सूची इस प्रकार है।

क्रम संख्या	मंत्र संकेत	ब्राह्मण संकेत	मंत्र–प्रतीक
(१)	ऋ० १.९१.९ (तृ च)	ऐ०ब्रा० १. १३	सोमयास्ते मयोभुव०
(२)	– १.१२.६	.... १.१६	अग्निना अग्निः समिध्यते०
(३)	– १.१६४.२६	.... १.२२	उपह्वये सुदुघाम्०
(४)	– १.१६४,२७	... .	हिं कृण्वती वसु०
(५)	– १.२४.३	....	अभित्वा देव०
(६)	– ९.१०४.२	....	समीवत्सं०
(७)	– ९.१०५.२	....	संवत्स इव मातृभिः०
(८)	– १.१६४.४९	....	यस्ते तनः शशयो०
(९)	– १.१६४.२८	....	गौरमीमेदनुवत्सम्०
(१०)	– ९.११.६	....	नमसेदुपसीदत०
(११)	– १.७२.५	... .	संजानाना उपसीद०
(१२)	– ८.७२.८	....	आदशभिर्विवस्वतो०
(१३)	– ८.७२.८	....	दुहन्ति सप्तैकां०
(१४)	आ०श्रौ० ४.७	....	समिद्धो अग्निरश्विना०
(१५)	....	....	समिद्धो अग्निर्वृषणा०
(१६)	ऋ० १.९२.६	....	तदु प्रयक्षत०
(१७)	– ९.७४.४	....	आत्मन्वन्नभो०
(१८)	– १.४०.१	....	उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते०

१– ऐ०ब्रा० ६.१२ हि०अ०।

(१९) ऋ० ८.७२.१६	....		अधुक्षत् पिप्युषी०
(२०) आ०श्रौ० ४. ७	....		उपद्रव पयसा०
(२१) ऋ० ८.७२.१३	....		आसुते सिंचत०
(२२) - ८.९.७	....		आनूनमश्विनो०
(२३) - ८.७.२२	....		समुत्ये महतीरप०
(२४) अ० वे०७.७३.३	....		स्वाहाकृतः शुचिः०
(२५) ऋ०१०.१२३.२	....		समुद्रादूर्मि०
(२६) - १०.१२३.८	....		द्रप्सः समुद्रमभि०
(२७) - ४.१.३	....		सखे सखायमभया०
(२८) - १.३६.१३	....		ऊर्ध्व ऊ षु ण०
(२९) - १.३६.१४	....		ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो०
(३०) - १.३६.७	....		तं घेमित्था नमस्विन०
(३१) - १.९३.७	....	२.१०	अग्नीषोमा हविषः०

उपर्युक्त ऋचाओं में क्रमसंख्या ३ से लेकर २३ तक २१ ऋचायें तथा २४ से ३० तक सात ऋचायें एक-एक कर्म से सम्बन्धित हैं। अध्ययन निम्न प्रकार है-

(१) सोम को प्राचीन वंश की ओर ले जाते हुये गायत्री छन्द वाले (तृच) तीन मंत्रों का पाठ किया जाता है। ये तीनों मंत्र सोम देवता के हैं। इनका छन्द गायत्री है। सोम को स्वर्ग से गायत्री ही लाई थी। अतः सोम के आनयन-काल में गायत्री-छन्दस्क-सोम देवताक मंत्रों का पाठ क्रियानुरूप होता है। दूसरी और तीसरी ऋचाओं में 'उपागहि' और 'आविश' में सोमागमन का स्पष्ट उल्लेख है। प्रथम ऋचा में 'अविता' पद गत्यर्थक √ अव् का भी रूप हो सकता है, और रक्षणार्थक√अव् का भी अतः सब मंत्रों के अर्थ, देवता और छन्द क्रियमाण कर्म के अनुरूप हैं और इसलिये ये मंत्र रूपसमृद्ध हैं। यह समृद्धि इन मंत्रों के सायण भाष्य में स्पष्ट ज्ञात होती है।

पहले इसी प्रकरण में ऐतरेयकार ने उपनिबद्ध सोम को वरुणदेवताक मानकर उसका छन्द त्रिष्टुप् बताया हैं। सायण के अनुसार त्रिष्टुप् छन्द भी सोम को लाने स्वर्ग गया था और दक्षिणा को लाया था।

(२) सद्योजात अथवा मथिताग्नि को आहवनीय-कुण्ड में स्थापित करने से अग्नि की दीप्ति द्विगुणित होती है। इस मंत्र का पाठ अग्नि-स्थापन कर्म में ही किया जाता है-

(कविः) मेधावी, (गृहपतिः) गृह का स्वामी, (युवा) युवक, (हव्यवाड्) देवों के लिये हवि का वाहक (जुह्वास्य) जुहूरूप मुख वाला (अग्निः) यह सद्योमथित अग्नि (अग्निना) आहवनीय अग्नि के द्वारा (समिध्यते) भली प्रकार दीप्त होता है।

ऐतरेयकार ने इसको यज्ञ का अभिरूप कहकर छोड़ दिया है। शतपथकार ने 'जुहु' को द्युलोक का वाचक माना है।[1] द्यु शीर्षस्थान है, जहां से वर्णों की उत्पत्ति होती है। तो क्या इस मंत्र में वाणी की उत्पत्ति का वर्णन भी अभिप्रेत है ? यदि ऐसा हो तो क्या प्रकृत कर्मकाण्ड वाक् का द्योतक है ?

'कविः' का अर्थ सामान्यतः मेधावी होता है, परन्तु यह शब्दकर्मा √कु का रूप है। अतः यह 'शब्दकारी' होने से 'प्रचण्ड-रूप' का द्योतक भी है। इसी प्रकार 'गृहपति' में यज्ञकुण्ड का स्वामित्व भी अभिप्रेत हो सकता है।

(३) से (२३) प्रवर्ग्य-प्रचरण के लिये होता के अभिष्टवन में विनियुक्त मंत्रों के उत्तरपटल (समूह) में पढ़े जाने वाले इक्कीस मंत्र सायण के मतानुसार धर्मदुह हैं और धेनु के दोहन के अनुरूप हैं। ऐतरेयब्राह्मणकार ने 'ये रूपसमृद्ध हैं-' इतना ही लिखा है। अतः उनका विस्तृत-भाव तो ज्ञात नहीं है तथापि मंत्रों के विश्लेषण से कुछ निष्कर्ष अवश्य निकलते मालूम पड़ते हैं।

पहले, दूसरे, छठे,सातवें और ग्यारहवें मंत्रों में धेनु, और अघ्न्या; पहले, तीसरे और अठारवें में सविता, चौथे मंत्र में गयसाधन देवाव्य और द्विशस्, पांचवें और आंठवें में इन्दु; नवें में पत्नीवन्त (अर्थात् यजमान), दसवें में विवस्वान् का कोष; बारहवें और तेरहवें में अग्नि; चौदहवें में दस्म; पन्द्रहवें में नभः, ऋतस्य नाभिः; सौलहवें में ब्रह्मणस्पति; सत्रहवें में अरि; उन्नीसवें में वृषम; बीसवें में रथ और सम्भवतः नभस् भी तथा इक्कीसवें में सूर्य और वज्र का प्रवर्ग्य से तादात्म्य अभिप्रेत प्रतीत होता है। ऐतरेयकार पूर्ववर्णित शैली पर यहां प्रवर्ग्य को प्रमुख देवता मानते प्रतीत होते हैं और अन्यों को गौण। धेनु, ब्रह्मणस्पति और सविता वाक् के द्योतक हैं। तो क्या जैसा प्रवर्ग्य-इष्टि की भूमिका से आभास मिलता है[2] ऐतरेयकार ऐसे स्थलों पर प्रवर्ग्य को वाग्ब्रह्म का प्रतीक या प्रतिरूप मानते है ? यदि उनकी ऐसी मान्यता रही हो, तो वाग्ब्रह्म परक प्रवर्ग्यस्थ मंत्रों का अर्थ मृग्य होगा। सायण आदि के अर्थानुसार तो प्रवर्ग्य के तत्तद् देवता से तादात्म्य और प्रवर्ग्य के तत्तद् विभिन्न रूपों में व्यक्त होने की सामथ्र्य को मानने से ही संगति लग सकेगी।

(२४) से (३०) प्रवर्ग्य में प्रासंगिक ब्रह्म जप के पश्चात् सायण के मत में घर्म (प्रवर्ग्य) की प्रकाशक होने के कारण अभिरूप सात ऋचाओं का पाठ किया जाता है। परन्तु यह धर्म-प्रकाशकत्व सर्वत्र प्रस्फुट नहीं है। उसके लिये प्रवर्ग्य का विभिन्न देवताओं आदि से तादात्म्य कल्पित करना आवश्यक है। इस प्रकार यज्ञ, द्रप्स, भानु,

---

१- श०ब्रा० १.३.२.४।

२- ऐ०ब्रा० १.१९।

सखा, अग्नि आदि सब प्रवर्ग्य के द्योतक बन जायेंगे। इस तादात्म्य-कल्पना से ही ऐतरेयकार को यहां रूपसमृद्धि अभिप्रेत प्रतीत होती है।

(३१) पशु-इष्टि में अग्नि और सोम की प्रदत्त हवि के ग्रहण करने के लिये मंत्र द्वारा प्रार्थना की जाती है। हवि उनके लिये प्रस्थित है। यह भाव इस ऋचा के द्वारा प्रदर्शित किया गया है-

(अग्निषोमा) हे अग्नि और सोम, (प्रस्थितस्य) प्रस्तुत अर्थात् हवन के लिये आहवनीय के समीप रखी हुई (हविषः) इस हवि को (वीतम्) भक्षण करो। (हर्यतम्) हमारे ऊपर अनुग्रह करो (वृषणा) हे अभीष्टवर्षी, (जुषेथाम्) हमारी सेवा ग्रहण करो। (सुशर्माणा) हमारे लिये सुखप्रद (हि) तथा (स्ववसा) रक्षणयुक्त (भूतम्) बनो। (अथ) इसके पश्चात् (यजमानाय) यजमान के लिये (शम्) रोगों का शमन तथा (योः) भय का पृथक्करण (धत्तम्) करो।

'शं योः' को योगक्षेम का द्योतक भी माना जा सकता है।

(प) अस्फुट रूपसमृद्धि वाली ऋचाओं को देखने से पता चलता है कि इन ऋचाओं का अर्थ जानने के लिये शब्दों के विशेष व्याख्यान खोजने पड़ते हैं। रूपसमृद्धि प्रदर्शित करते हुये ऐतरेयकार ने कुछ संकेत अवश्य दिये हैं, उन्हीं के द्वारा आगे बढ़ने का मार्ग खोजकर अर्थ प्रस्तुत किया गया है। ऐसी ऋचाओं की सूची निम्न प्रकार है-

क्रम संख्या	मंत्र-संकेत	ब्राह्मण-संकेत	मंत्र-प्रतीक
(१)	ऋ० १०.१७७.१	ऐ०ब्रा० १.१९	पतंगभक्तमसुरस्य०
(२)	- १०.१७७.२	... .	पतंगो वाचं मनसा०
(३)	- ६.५.४	....	यो नः सनुत्यो०
(४)	- ६.५.५	....	यस्ते यज्ञेन समिधा०
(५)	- ३.१८.१	....	भवा नो अग्ने सुमना
(६)	- ३.१८.२	....	तपोष्वग्ने अन्तरां०
(७)	- १.१०.१२	.... १. २९	परित्वा गिर्वणो गिर०
(८)	- १०.११०.१(पूरासूक्त)	.... ४. २६	समिद्धो अद्यमनुषः०

उक्त मंत्रों का व्याख्यान इस प्रकार है-

(१) ऐतरेयब्राह्मणकार ने प्रवर्ग्य को बिठाकर (घर्म) हव्यपात्र पर घृत के अंजन की क्रिया का निर्देश करके दो-दो मंत्रों के तीन युग्मों अर्थात् छै रूपसमृद्ध मंत्रों के पाठ का उल्लेख किया है। ब्राह्मणकार ने इन मंत्रों पर और कुछ भी नहीं लिखा है।

प्रथम मंत्र [1] में घृताक्त-घर्मपात्र को देखकर विपश्चित् कवि और गुणी पुरुष विभिन्न प्रकार की कल्पना करते हैं –

(विपश्चित्) विद्वान लोग (असुरस्य) घृत की (मायया) चिकनाहट से (अक्तम्) चुपड़े हुये (पतंगम्) प्रवर्ग्य को (मनसा) मन में विचार करके (हृदा) हृदय में (पश्यन्ति) देखते हैं। (कवयः) क्रान्तदर्शी लोग (समुद्रे) मनके (अन्तः) बीच में विद्यमान उस (प्रवर्ग्य) को (विचक्षते) सविशेष रूप से देखते हैं तथा (वेधसः) गुणी लोग (मरीचीनाम्) किरणों के (पदम्) स्थान उस प्रवर्ग्य की (इच्छन्ति) इच्छा करते हैं।

(२) दूसरे मंत्र का अर्थ इस प्रकार है–

(पतंगः) प्रवर्ग्य (वाचम्) वाणी को (मनसा) मन ही मन (बिभर्ति) धारण करता है। (ताम्) उस वाणी को उस (गन्धर्वः) मन ने [2] (गर्भे अन्तः) गर्भ में ही (अवदत्) उच्चारित किया। (द्योतमानाम्) दिव्य तथा (मनीषा) मनोऽनुकूल (स्वर्यम्) गतिमती या विभिन्नस्वरों वाली उस वाणी की (कवयः) विद्वान् लोग (अमृतस्य) अमृत के (पदे) स्थान में(निपान्ति) रक्षा करते हैं।

इन मंत्रों में प्रवर्ग्य को 'पतंग' मानकर रूपसमृद्धि बताई गई मालूम होती है।

असुर का अर्थ प्राणदायक भी है।[3] प्राण आयु है।[4] आयु घृत है।[5] अतः यहां 'असुरस्य माया' घी की शक्ति या चिकनाहट के वाचक माने गये प्रतीत होते हैं।

समुद्र मन का वाचक है। वाणी मन से ही[6] प्रादुर्भूत होती है–

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
स कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम्।[7]

स्वर्यम् 'स्वर' का तद्धित रूप है। 'स्वरति' गति-कर्मा धातुओं में पढ़ा गया है। स्वर उदात्त आदि स्वरों का भी वाचक है।

मंत्रों के दूसरे युग्म[8] में प्रवर्ग्य को अग्नि कहकर अग्नि की स्तुति की गई है। इनमें घर्मपात्र या घृत के अंजन का उल्लेख नहीं हुआ है।

(३) हे (मित्रमहः) अनुकूल दीप्तिवाले (अग्ने) प्रवर्ग्य, (यः) जो कुछ भी (सनुत्यः) अन्तर्हित होकर (अभिदासत्) बाधा पहुँचाये और जो (अन्तरः) अभ्यन्तरवर्ती

१– ऋ० १०.१७७.१।
२– श०ब्रा० ६.४.१.१२।
३– तु०क० असून् प्राणान् राति ददातीत्यसुरः।
४– ऐ०ब्रा० २.३८।
५– तु०क० आयुर्वै घृतम्।
६– मनसे अर्थात् इच्छानुसार।
७– श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा ६।
८– ऋ० ६-५.४-५।

अर्थात् हमारे भीतर प्रविष्ट होकर (नः) हमें (वनुष्यात्) हिंसित करे। (तम्) उन दोनों प्रकार के हिंसक पदार्थ आदि को हे तपिष्ठ, (तपसा) अपने तेज से (तपस्वान्) तेजस्वी तुम, (अजरभिः) जरारहित (वृषभिः) वृष्टिहेतुभूत (स्वैः) अपने असाधारण अथवा प्रचण्ड तेजों से (तप) दग्ध कर डालो।

(४) (सहसः सूनो) हे बल के पुत्र प्रवर्ग्य, (यः) जो यजमान (यज्ञेन) यज्ञ (समिधा) प्रदीपक इन्धन आदि से तथा (यः) जो (उक्थैः) शस्त्रों और (अर्केभिः) अर्चनीय स्तोत्रों द्वारा (ते) तुम्हारी (ददाशत्) परिचर्या करता है। (अमृत) हे मरणधर्म रहित प्रवर्ग्य, (मर्त्येषु) मनुष्यों में (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञान वाला (सः) वह यजमान (राया) धन और (द्युम्नेन) द्युतिमान (श्रवसा) अन्न से युक्त हुआ (विभाति) अतिशय शोभित होता है।

वृष शक्ति का द्योतक है। अतः अनुवाद में 'स्वैः' के विशेषण के रूप में उसे 'प्रचण्ड' का वाचक माना गया है।

(५) तथा (६) अग्नि शब्दवाच्य प्रवर्ग्य की स्तुति में पुनः दो मंत्रों के पाठ में भी अग्नि (प्रवर्ग्य) से शत्रुनाश की प्रार्थना की गई है। 'अग्ने' का अर्थ 'प्रवर्ग्य' करते हुये सायणभाष्य और दयानन्दभाष्य–दोनों के अनुवाद समान रूप से संगत प्रतीत होते हैं।

इन मंत्र-युग्मों में समर्थ और सुमनस्क प्रवर्ग्य से कृपा और रक्षा की प्रार्थना की जाने के कारण इन्हें रूपसमृद्ध माना गया प्रतीत होता है।

(७) हविर्धानों (शकटद्वय) को स्वस्थान पर स्थापित करके भली प्रकार आच्छादित करते हैं। यहां हविर्धान के ले जाने का कर्म समाप्त होता है। समाप्ति-मंत्र हविर्धानों के ढ़कने के पश्चात् पढ़ा जाता है। ऐतरेयकार के मत में इस प्रकार समाप्ति मंत्र पढ़ने वाले यजमान और ऋत्विजों की स्त्रियां अनग्नभावुक-वस्त्र आदि की सम्पत्ति से परिपूर्ण हो जाती हैं। मंत्र में भी यही भाव व्यक्त हुआ है–

(गिर्वणः) हमारी स्तुतियों के भाजन हे हविर्धान या सोम, (विश्वतः) सब कर्मों में प्रयुज्यमान (इमागिरः) हमारी ये स्तुतियां (त्वा) तुमको (परि भवन्तु) सब ओर से प्राप्त हों।

(वृद्धायुमनु जुष्टाः) दीर्घायु के द्वारा सेवित अर्थात् चिरंजीव (वृद्धयः) आच्छादन बाहुल्य द्वारा वर्धमान या समृद्धि को प्राप्त होती हुई स्त्रियां हमारी (जुष्टयः भवन्तु) प्रीति का कारण बनें अर्थात् हमें और यजमान को प्राप्त हों।

शतपथब्राह्मण के मत में सोम ही देवों की हवि है। इन शकटों में यह सोम रूप हवि रहती है। अतः इन्हें हविर्धान कहा जाता है।[1] सायण ने यहां इन्द्र को और

१– श०ब्रा० ३.५.३.२, वै०को० पृ० ६३४।

दयानन्द ने परमेश्वर को सम्बोधित माना है। ऐतरेयकार के प्रकरण में ये दोनों ही असंगत हैं।

(८) साग्निचित्य द्वादशाह यज्ञ में प्रजापति के पशु का आलभन करने के लिये [1]आप्री मंत्रों का पाठ किया जाता है । ये आप्रीमंत्र जमदग्नि के हैं। यद्यपि पशुयागों में क्रिया के अनुरूप (=यथऋषि) आप्रियों का पाठ होता है, तथापि यहां समस्त आप्रियाँ जमदग्नि-दृष्ट ही है। इसका कारण यह है कि जमदग्नि के आप्रिमंत्र सर्वरूप और समृद्ध हैं। अतः इस पशु के लिये सर्वरूप और सर्वसमृद्ध जमदग्नि-दृष्ट आप्रियां ही रूपसमृद्ध हैं।

ऐतरेयकार की इस व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि जमदग्नि-मंत्रों के अर्थ बहुमुखी हैं। सायणीय व्याख्यान का इस ब्राह्मण के भाव से पूर्ण समन्वय नहीं है।

ऋग्वेद में इस सूक्त[2] के वैकल्पिक ऋषि जमदग्नि भार्गव और जामदग्न्य राम हैं, परन्तु अथर्ववेद में यह अंगिराः का दर्शन है और इसका देवता अग्नि है। शतपथकार के मत में प्रजापति ही जमदग्नि हैं।[3] सम्भवतः इसी आधार पर ऐतरेयकार जमदग्नि-दृष्ट ऋचाओं को सर्वरूप और सर्वसमृद्ध मान रहे हैं। यदि ऐसा हो तो इस सूक्त के मंत्रों का अर्थ एक समस्या होगी।

पशु के सर्वरूपत्व और सर्वसमृद्धत्व का कथन भी ऐसा इंगित करता प्रतीत होता है कि यह पशु भी साधारण पशु नहीं हैं। सम्भवतः यह कोई प्रतीक हो।

ऐतरेयब्राह्मणकार में रूपसमृद्धि-प्रतिपादन द्वारा मंत्रार्थ पर प्रकाश

रूपसमृद्धि-प्रदर्शन के प्रकारों के अन्तर्गत मंत्रार्थ का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि ब्राह्मणकार ने कुल मिलाकर १०० मंत्रों व ५ सूक्तों की रूपसमृद्धि की ओर संकेत किया है। इन मंत्रों में ९२ मंत्र ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों से उद्धृत हैं। ७ मंत्र आश्वलायन श्रौतसूत्र के हैं, तथा एक मंत्र तैत्तिरीय-संहिता में मिलता है। ऋग्वेद से लिये गये मंत्रों की मंडल-क्रम से संख्या निम्न प्रकार है-

प्रथम मंडल-३१, द्वितीय-८, तृतीय-९, चतुर्थ-४, पंचम-२, षष्ठ-९, सप्तम-५, अष्टम-११, नवम-४, और दशम-९।

पांच सूक्तों में प्रथम मंडल से २, चतुर्थ से १, पंचम से १ तथा सप्तम से १ लिया गया है।

मंत्रार्थ के विषय में इस अध्ययन से निम्नांकित तथ्य प्रकट होते हैं-

(१) ऐतरेयब्राह्मण में मंत्र प्रायः ऋग्वेद से ही उद्धृत हैं।

१- ऐ०ब्रा० ४.२६। २- ऋ० १०-११०। ३-श०ब्रा० १३.२.२.१४।

(२) ऐतरेयब्राह्मण में केवल १७ मंत्रों के पूरे व्याख्यान प्रस्तुत हुये हैं। आंशिक-व्याख्यान १६ मंत्रों के हैं। इस प्रकार मंत्रों के पूर्ण व आंशिक व्याख्यान मिलाकर कुल ३३ होते हैं।

(३) ऐतरेयब्राह्मण में यज्ञों का विवरण प्रस्तुत हुआ है, अतः विनियुक्त मंत्रों के सम्पूर्ण अर्थ यज्ञ-परक किये गये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ऐतरेयब्राह्मण में वेदार्थ-प्रक्रिया याज्ञिक है।

(४) ऐतरेयब्राह्मण में कुछ मंत्र ऐसे भी हैं' जिनका एकाधिक कर्मों में विनियोग हुआ है। इस कर्म-वैभिन्य के कारण उनके अर्थ भी बदल गये हैं। जैसे ऋ० १.६१.१६ का आतिथ्य- इष्टि[1] तथा चमसपूरण[2] कर्म के लिये विनियोग हुआ है। दोनों क्रियाओं में केवल एक 'आप्यायस्व' शब्द को लेकर रूपसमृद्धि बतलाई गई है।

(५) ऐतरेयब्राह्मणकार ने मंत्रों की जो रूपसमृद्धि प्रकट की है, वह वेदार्थ के लक्ष्य से नहीं है। उसका लक्ष्य तो विनियुक्त मंत्र और यज्ञकर्म की एकता बतलाना है।

(६) मंत्रों का आधिभौतिक-यज्ञपरक अर्थ ही मुख्यतः उनके संकेतों से प्राप्त होता है, किन्तु साथ ही कहीं-कहीं उन्होंने आधिदैविक अर्थ की ओर भी संकेत किया प्रतीत होता है। जैसे ऐ०ब्रा० १.२६ में हविर्धानों (हव्यशकटों) के लेजाने के प्रसंग में कहा गया है-'द्यावापृथिवी' देवों के दो हविर्धान हैं। जो कोई हवि दी जाती है, वह इनके बीच में ही विद्यमान है।[3]

इस प्रवृत्ति को देखकर निरुक्तकार के संकेत का स्मरण हो आता है-

'याज्ञदेवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा।'[4]

इस उक्ति के अनुसार यज्ञ और देधता का ज्ञान क्रमशः पुष्प और फल है। प्रतीत होता है कि यज्ञपरक आधिभौतिक अर्थ द्वारा आधिदैधिक अर्थ ज्ञान ऐतरेयकार द्वारा कराया गया है। आधिदैविक अर्थ द्वारा आध्यात्मिक अर्थ तक पहुँचने में सुविधा होती है। यहां आधिदैविक अर्थ पुष्प और आध्यात्मिक अर्थ फल बन जाता है।

(७) यद्यपि यज्ञ के विभिन्न कर्मों में विनियुक्त सभी मंत्रों का व्यांख्यान नहीं दिया गया, तथापि विनियोग-कर्म को देखकर यज्ञपरक अर्थ लगाया जा सकता है।

इस अर्थकरण में ऐतरेयकार को अधोलिखित धारायें अभिप्रेत हैं, यह ऊपर के विवेचनों से सुस्पष्ट हो जाता है-

---

१- ऐ०ब्रा० १.१७। २- वही ७.३३।
३- ऋ० २.४१.१९-२५। ४- नि० १.१९।

१- मंत्रों के छन्दोनामों और देवतानामों में सामंजस्य है।

२- मंत्रार्थ में छन्दोनाम और देवतानाम अर्थ के अनुकूल अभिप्रेत हैं।

३- अग्नि आदि देवताओं का अन्य समदेवों से तादात्म्य है।

४- अग्नि आदि पद गुणविशेष के लिये भी प्रयुक्त हैं। जिनमें वे गुण हों, वे पदार्थ अग्नि आदि पद वाच्य होंगे। इसी कारण प्रवर्ग्य को अग्नि आदि कहा है।

५- ऐतरेयकार वैदिक पदों के विशिष्ट अर्थ भी लेते ज्ञात होते हैं। जैसे पीछे व्याख्यान में असुर, माया, अक्त, पतंग आदि पदों के अर्थ।

६- ऐतरेयकार के अर्थवादात्मक वाक्य प्रशंसित-मंत्र के अर्थगत भाव का अनुवाद मात्र हैं। इस दृष्टि से ये वाक्य ऐतरेयकार को अभिप्रेत हैं तथा मन्त्रार्थ के ज्ञापक हैं।

७- ऐतरेयकार वाग्ब्रह्म के अनुयायी प्रतीत होते हैं। कुछ मंत्रों और क्रियाओं के भाव वाणी की ओर प्रवृत्त होते प्रतीत होते हैं। ऐतरेय-आरण्यक में तो वाग्ब्रह्म पद का प्रयोग और वर्णन आया भी है।

८- ब्राह्मणकार के रूपसमृद्धि-प्रदर्शन से यह सुव्यक्त है कि प्रत्येक विनियुक्त मंत्र का क्रियानुसारी अर्थ ही अभिप्रेत है। क्रियाभेद से अर्थ भेद हो जाना स्वाभाविक है। अतः ब्राह्मणकार एक मंत्र के एकाधिक भिन्न-भिन्न अर्थ करने में कोई आपत्ति नहीं समझते हैं।

निष्कर्ष-

वेद की विशाल मंत्रराशि के अर्थ को समझने के लिये ऐतरेयब्राह्मणकार द्वारा प्रदर्शित केवल तैंतीस व्याख्यान तो यद्यपि पर्याप्त नहीं हैं, तथापि वे उनकी शैली को समझने के लिये पर्याप्त हैं। इस विषय में उनके अन्य लेख भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। यह भी सत्य प्रतीत होता है कि मंत्रार्थ के परिज्ञान के लिये ऐतरेयब्राह्मण की रचना नहीं हुई है। ब्राह्मणकार द्वारा प्रदर्शित विनियोग के आधार पर मुख्यतः याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की शैली का ज्ञान प्राप्त होता है। अन्य ब्राह्मणों में विनियुक्त मंत्रों के संकेतों द्वारा भी वेदार्थ पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।

ऐतरेयब्राह्मण में पर्याय-विधान

ऐतरेय ब्राह्मण में पर्याय

ऐतरेय ब्राह्मण ने यज्ञ, यज्ञोपकरण एवं यज्ञ की विभिन्न-क्रियाओं के लिये विनियुक्त मंत्रों में वर्णित देवता, छन्द, स्तोम तथा विशिष्ट पदों की सार्थकता की पुष्टि मे समानार्थक या पर्यायवाची पदों को प्रस्तुत किया है।

उदाहरणार्थ यज्ञ के लिये विष्णु,[1] यज्ञोपकरण आज्य के लिये देवसुरभि,[2] सोमागमन पर अग्निमंथन के समय विनियुक्त मंत्र में प्रयुक्त सविता के लिये प्रसवीश,[3] प्रवर्ग्य में प्रयुक्त त्रिष्टुप् छन्द के लिये वीर्य,[4] तूष्णींशंस के लिये यज्ञमूल[5] तथा सोमक्रय पर पढ़े गये मंत्र में पितुः पद के लिये अन्न[6] पर्याय दिया गया है।

ऐतरेयब्राह्मण के अतिरिक्त कौषीतकि, शाङ्खायन, शतपथ, तैत्तिरीय, ताण्ड्य, दैवत, षड्विंश, मंत्र, संहितोपनिषद्, वंश, सामविधान, जैमिनीयउपनिषद् तथा गोपथ ब्राह्मणों में वैदिक-पदों के व्याख्यान के लिये पर्याय-पदों का प्रयोग देखा जाता है।[7]

पर्यायों के लिये विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होने वाले इन पर्यायों के लिये विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। मैक्समूलर ने अपने प्राचीन संस्कृत साहित्य के इतिहास में कहा है—

प्राचीन वैदिक पदों के व्याख्यान के लिये, उनके निर्वचन और पर्यायवाची पदों के लिये ब्राह्मणों में पुष्कल-सामग्री भरी पड़ी है। यदि ब्राह्मणों के सभी व्याख्या-स्थल, जो केवल 'वै' से जुड़े हुये हैं तथा जिनमें एक शब्द की दूसरे शब्द से व्याख्या की गई है-संग्रहीत किये जायें, तो एक नये निरुक्त के लिये पर्याप्त सामग्री मिल सकती है।[8]

१- विष्णुर्वै यज्ञः-ऐ०ब्रा० १. १५।

२- आज्यं वै देवानां सुरभिः वही १. ३।

३- सविता वै प्रसवानामीशे-वही १. १६।

४- वीर्यं वै त्रिष्टुभ्-वही १. २१।

५- मूलं वा एतद्यज्ञस्य यत्तूष्णींशंसः ऐ०ब्रा० २. ३२।

६- अन्नं वै पितुः -वही १. १३।

७- श्री हंसराज ने 'वैदिक कोष' का निर्माण इन्हीं ब्राह्मणों से सामग्री का संग्रह करके किया है।

८- मैक्समूलर-प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास, १९२६ पृष्ठ ७९-८०।

आर्थर एनथनि मैकडानल लिखते हैं–

'ब्राह्मणों के शोध कार्य से पता चलता है कि ब्राह्मणों में मुख्यतया यज्ञ के स्वरूप के विषय में विचार व्यक्त हुये हैं। ये विचार वैदिक सूक्तों के रचयिताओं के भाव से बहुत परे हटे हुये हैं। ब्राह्मणों में वेदों के मूलार्थ पर प्रकाश डालने योग्य, सामग्री अत्यल्प मात्रा में हैं। उनमें कहीं-कहीं मंत्रों के भाव का व्याख्यान मिलता है, जो अत्यन्त काल्पनिक है।[1]

मैकडॉनल ने उदाहरण देकर बतलाया है कि शतपथ-ब्राह्मण [2] में ऋग्वेद के दसवें मंडल के एकसौ इक्कीसवें सूक्त से उद्धृत 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' वाली पंक्ति का अर्थ विचित्र प्रकार से किया गया है। कहा गया है-'क' ही प्रजापति हैं, उनके लिये हम अपनी हवि प्रस्तुत करें। उनके अनुसार शतपथ ब्राह्मण का दिया हुआ 'क' शब्द का 'प्रजापति' पर्याय अनुचित है।

इस प्रकार कतिपय विद्वानों की की दृष्टि में ये पर्याय सार्थक तथा कुछ विद्वानों की दृष्टि में निरर्थक प्रतीत होते हैं। कुछ विद्वान् इनकी सार्थकता के साथ-साथ क्रमबद्धता भी स्वीकार करते हैं। श्री भगवद्दत्त ने अपने वैदिक वाङ्मय के इतिहास में 'ब्राह्मण-प्रदर्शित वैदिक शब्दों के अर्थों का आधार' शीर्षक में कहा है–

'ब्राह्मण ग्रन्थों ने इनमें से बहुत से अर्थ साक्षात् मंत्रों से लिये हैं। ऋषि-प्रोक्त या परतः प्रमाण होते हुये भी वेदार्थ का परमतत्त्व इन्हीं ब्राह्मणों से जाना जा सकता है।[3]

विद्वानों के इन विभिन्न विचारों की दृष्टि में ऐतरेयब्राह्मण के पर्यायों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

ऐतरेयब्राह्मण में पर्यायों के प्रदर्शन की शैली

ऐतरेयब्राह्मणकार ने निम्न तीन प्रकार से पर्यायों का प्रदर्शन किया है–

(क) 'वै' या 'वा' शब्द से जुड़े हुये पर्याय

(ख) 'एतत्' व 'यत्' से जुड़े हुये पर्याय

(ग) समानाधिकरण वाले पर्याय

(क) 'वै' पद से जुड़े हुये पर्यायों की संख्या अन्य दो प्रकार की शैली के अन्तर्गत आने वाले पर्यायों की संख्या से अधिक हैं। इनमें 'वा' से भी कुछ पर्याय जुड़े

१—भण्डारकर कोमेमोरेशन वॉल्यूम, पूना १९१७। २—श०ब्रा०७. ४.१.६

३—वैदिक वाङ्मय का इतिहास-द्वितीय भाग १९२७, पृष्ठ १३६। श्री भगवद्दत्त द्वारा रचित 'वैदिक कोष की भूमीका' तथा 'वेद-विद्या-निदर्शन' ग्रन्थ भी द्रष्टव्य हैं।

हुये सम्मिलित हैं। उदाहरण के लिये-आत्मा वै वृषाकपि [1], पाङ्क्तो वै यज्ञः[2], को वै प्रजापतिः,[3] चक्षुर्वा ऋतम्[4] आदि।

(ख) कुछ पर्याय ऐसे हैं जो 'एतत्' तथा 'यत्' से जोड़कर दिखाये गये हैं। जैसे-देवरथो वा एष यद्यज्ञः [5], उल्बं वा एतद्दीक्षितस्य यद्वासः[6] शिरो वा एतद्यज्ञस्य यद् प्रातरनुवाकः[7] आदि।

(ग) तीसरी शैली के अन्तर्गत समानाधिकरण वाले पर्याय आते हैं। जैसे-यज्ञः श्रवः[8] पवमानः प्रजापतिः,[9] रात्रयः क्षपाः[10] मनोबृहत् [11] इत्यादि। इस प्रकार के पर्यायों की संख्या दोनों प्रकार के पर्यायों से कम है।

कभी-कभी समानाधिकरणों के अन्तर्गत संभवतः पर्याय-पद पर अधिक बल देने के लिये पर्यायवाची पदों के बीच में 'हि' पद का प्रयोग कर दिया जाता है। जैसे-वाग्घि शस्त्रम्'[12], वाग्घि वज्रः,[13] वाग्घि सरस्वती [14] इत्यादि।

एक बात यह भी देखने को मिलती है कि ऐतरेयकार ने आवश्यकतावश एक ही शब्द के एक ही पर्याय का भिन्न-भिन्न स्थलों पर प्रयोग करते समय भिन्न-भिन्न शैलियों का उपयोग किया है। जैसे-ऐ०ब्रा० १. ५ में पाङ्क्त और यज्ञ को 'वै' पद से जोड़कर पहली शैली तथा ऐ०ब्रा० १. ७ में पाङ्क्त और यज्ञ को समानाधिकरण बनाकर तीसरी शैली का आश्रय लिया गया है।

ऐतरेयब्राह्मण के पर्यायों का उद्भव

ऐतरेयब्राह्मण के पर्यायों के निर्माण की स्थिति का परिचय प्राप्त करने के लिये भाषाविज्ञान का अध्ययन अपेक्षित है। विभिन्न ग्रन्थों[15] के अवलोकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'भाषा-समृद्धि' तथा 'पदार्थों का विभिन्न दृष्टि से अध्ययन, ये दो ऐसी प्रवृत्तियां है, जिनके द्वारा भाषाओं में पर्यायों का निर्माण-क्रम प्रारम्भ हो जाता है।

भाषा वैज्ञानिकों द्वारा बतलाया गया है कि जैसे-जैसे भाषा का विकास होता है, वैसे ही वैसे नवीन शब्दों का प्रादुर्भाव उसमें दिखाई देने लगता है। यद्यपि ऐतरेयादि

१- ऐ०ब्रा० ६. २९। २- वही १. १५। ३- वही ३. २१। ४- वही २. ४०। ५- वही २.३७। ६- वही १.३। ७-वही २.२०। ८- वही ३.३८। ९- वही ४. २६। १०- वही १.१३। ११- वही ४. २८।
१२-वही ३. ४४। १३-वही ४.१। १४-वही ३. २। १५-डा० भोलानाथ तिवारी कृत भाषा विज्ञान, १९६१, डा० विभुकृत अभिधान अनुशीलन तथा मेरियो पेई की 'दी स्टोरी आफ लेंग्वेज्' का अध्ययन पर्याय-निर्माण की स्थिति की जानकारी में सहायक हो सकता है।

ब्राह्मण-ग्रंथों की भाषा संहिताओं की शब्दावली से उद्धृत है तथापि अपने विकास की ओर उसकी सततगति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

ऐतरेयब्राह्मण में अन्य ब्राह्मणों की भांति यज्ञ के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया गया है। अतः एक ही पदार्थ को विभिन्न दृष्टिकोण से देखा व समझाया गया है। इस प्रवृत्ति के द्वारा भी हमें पर्याय-निर्माण की स्थिति का आभास पर्याप्त रूप से मिल सकता है।

ऐतरेयब्राह्मण के पर्यायों के निर्माण का आधार

पर्यायों के उद्भव की स्थिति पर विचार करते हुये उनके निर्माण के आधार के अध्ययन को भुलाया नहीं जा सकता। ऐतरेयब्राह्मण के पर्यायों के निर्माण के आधार की खोज भाषा विज्ञान, विद्वानों के मत तथा स्वतन्त्र-परीक्षण के अनुसार की जा सकती है :-

भाषा विज्ञान के अनुसार पर्याय-निर्माण का आधार

भाषा वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रकाश में ऐतरेयब्राह्मण के पर्यायों का निर्माण-आधार हमारी समझ में नहीं बैठता। इसका प्रथम कारण तो यह है कि भाषाविज्ञान की पुस्तकों अथवा विभिन्न कोष ग्रन्थों की भूमिकाओं में इस प्रसंग की चर्चा सामान्यतः प्राप्त नहीं होती। पिछले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में दिये गये ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् कोई उपयुक्त प्रेरणा-स्रोत हमें प्राप्त नहीं हुआ। भाषा विज्ञान के अन्तर्गत 'नवीन शब्दों के स्रोत' तथा स्थानवाची और व्यक्तिवाची नामों के निर्माण के लिये जो सिद्धान्त हमें प्राप्त होते हैं, वे हमें गन्तव्य तक नहीं पहुंचा पाते।[1] 'उपमा या सादृश्य-कल्पना द्वारा नवीन शब्दों का निर्माण होता है' केवल एक यही सिद्धान्त कुछ उपयोगी सा जान पड़ता है ; वो भी विस्तृत-अध्ययन के लिये अपर्याप्त है।

श्री भगवद्दत्त द्वारा प्रदर्शित ब्राह्मणो के पर्यायों का आधार

अपने वैदिक वाङ्मय के इतिहास में श्री भगवद्दत्त द्वारा कहा गया है-

'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि।[2]

ब्राह्मण ग्रन्थ गुणों की सदृशता का बहुविभाग करके अनेक शब्दों के पर्याय बनाते हैं। पर स्मरण रहे कि इन गुणों की सदृशता का विभाग किये बिना कभी काम चल ही नहीं सकता। वेदभाषा तो क्या, संसारस्थ लौकिक भाषाओं में भी बहुधा

१— डा० भोलानाथ तिवारी. भाषा विज्ञान १९६१ पृष्ठ ४३२-४३४।

२— नि० ७. २।

गुणों की सदृशता का विभाग करने से ही पर्याय बने हैं। वेद में स्वयं विशेष्य-विशेषण की रीति से इस गुण-विभाग की पद्धति का प्रारम्भ किया गया है।[1]

श्री भगवद्दत्त ने निरुक्तकार के बहुभक्तिवादो वाले कथन के अनुसार अपना यह मत बनाया है। साथ ही इस प्रवृत्ति को मूल वेदसंहिताओं में बतलाकर इस मत की पुष्टि की है।

वेदसंहिताओं में पर्याय-निर्माण का आधार

पर्याय-निर्माण के एक मात्र आधार गुणविभाग की पुष्टि में श्रीभगवद्दत्त ने ऋग्वेद आदि से कुछ उद्धरण पृथ्वी के पर्यायवाची पदों के रूप में दिये हैं। जैसे-त्वं महीमवनिम्,[2] ऊर्वीं पृथ्वीम्,[3] पृथिविभूतमूर्वीम्,[4] भूमिं पृथिवीम्,[5] यथेयं पृथिवीमही दाधार,[6] क्षितिर्न पृथ्वी[7] इत्यादि पन्द्रह उदाहरण दिये गये हैं।

इनके अनुसार मही, अवनि, ऊर्वी, पृथ्वी, भूमि, क्षिति आदि शब्दों में से एक शब्द भी मूलार्थ में पृथिवी का बोधक नहीं है। मंत्रों के इन पदों में विस्तार, महत्ता, निवास, अविनाश, रक्षा आदि का भाव पाया जाता है। ये सारे शब्द विशेषण रूप से कहीं न कहीं प्रयुक्त हो चुके हैं। विशेषण-पद यौगिक होते हैं। योगरूढ बनते ही इन शब्दों का अर्थ विशेषण और प्रकरण बल से पृथिवी होगया।

स्वतन्त्र-परीक्षण के अनुसार ऐतरेयब्राह्मण के पर्यायों का आधार

स्वतंत्र रूप से ऐतरेयब्राह्मण के पर्यायों को देखने पर उनके मूल में स्थित कई विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं, जो सम्भवतः उनके निर्माण का आधार रही हैं। उन सब का विवरण निम्न प्रकार है-

(क) जन्य-जनक भाव अथवा कार्य-कारण का अभेद-

कुछ पर्याय इस प्रकार के प्रतीत होते हैं, जिनमें कार्य-कारण अथवा जन्य-जनक भाव विद्यमान हैं। उदाहरण के लिये प्रजापति को यज्ञ का पर्याय कहा गया है-प्रजापतिर्यज्ञः।[8] यहां प्रजापति में जनक तथा यज्ञ में जन्य भाव विद्यमान है। प्रजापति के द्वारा यज्ञ की उत्पत्ति हुई है। स्वयं ऐतरेयकार ने एक स्थल पर इसका उल्लेख किया है-'प्रजापतिर्यज्ञमसृजत।'[9]

दूसरे स्थल पर ऐतरेयकार ने आपः को रेतस् कहा है-रेतो वै आपः।[10] यहां भी इस पर्याय के निर्माण के मूल में कार्य-कारण सम्बन्ध दिखाई देता है। रेतस् (जलीय होने के कारण) की उत्पत्ति आपः से होती है।

१— श्री भगवद्दत्त-वैदिकवाङ्मय का इतिहास भाग २,१९२७ पृ० १४४।
२— ऋ० ४.१९.६। ३-वही ७.३८.२। ४— वही ६.६८.४।
५— अ० वे० १२.१.७। ६—ऋ० १०.६०.९। ७— वही १.६५.३।
८— ऐ०ब्रा० २.१७। ९— वही ७.१९। १०— वही २.४।

(ख) विशेषण–विशेष्य भाव

कुछ पर्याय ऐसे मिलते हैं, जिनमें एक पद विशेष्य तथा दूसरा उसका विशेषण होता है। जैसे तृतीय सवन को धीतरस (रस-रिक्त) कहा गया है–'धीतरसं वै तृतीयसवनम्'[1] इस सवन में सोमरस समाप्त होजाता है। सायणाचार्य ने इसकी व्याख्या में गायत्री द्वारा सोमाहरण की कथा का निर्देश किया है, जिसमें गायत्री अपने पैरों से प्रातः तथा मध्य सवन तथा मुख से तृतीयसवन ग्रहण कर के लाई। तृतीय सवन का रस उसके द्वारा पी लिया गया। दूसरे उदाहरण में इन्द्र को यज्ञ–देवता कहा गया है–'इन्द्रो यज्ञस्य देवता'[2]। सोमयज्ञ इन्द्र से सम्बन्धित है। इन्द्र ही उसका देवता है। अतः विशेषण विशेष्य भाव से ये दोनों पर्याय बनाये गये हैं।

(ग) साध्य–साधन में अभेद–

कतिपय पर्यायों का निर्माण साध्य और साधन में अभेद होने से हुआ प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये–एक स्थल पर ब्रह्म को श्रोत्र कहा गया है–श्रोत्रं वै ब्रह्म।[3] यहां श्रोत्र साधन तथा ब्रह्म साध्य है। ऐतरेयब्राह्मणकार ने स्वयं पर्याय देकर उसके निर्माण के आधार की ओर संकेत किया है। वे कहते हैं कि श्रोत्र द्वारा ही ब्रह्म को सुनता है–'श्रोत्रेण हि ब्रह्म शृणोति ....संस्कुरुते'।[4] एक अन्य स्थल पर उपसद् को जिति कहा गया है–'जितयो वै नामैता यदुपसदः।[5] 'ब्राह्मणकार ने लिखा है कि इन उपसदों के द्वारा देवों ने विजय को प्राप्त किया–'एताभिर्देवा विजितिं व्यजयन्त।[6]' इसमें भी साध्य–साधन भाव स्पष्ट रूप से प्रकट होता है।

(घ) आधार और आधेय सम्बन्ध–

कुछ पर्यायों में आधाराधेय भाव दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिये वाक् के पर्यायों में 'मध्यायतना' शब्द आया है–'मध्यायतना वा इयं वाक्'।[7] इसके अनुसार वक्रान्त का मध्य भाग वाणी का आयतन अथवा आधार है; इसीलिये इसे मध्यायतना कहा गया है। ऐतरेयकार ने इस प्रसंग में कहा है कि मध्य में बोले, क्योंकि वाणी मध्य में है–मध्य एव शंसेत् ....।[8]

इसी प्रकार एकाह (यज्ञ विशेष) को प्रतिष्ठा कहा गया है–'प्रतिष्ठा वा एकाहः'।[9] एकाह सब यज्ञों की मूल प्रकृति है तथा अन्य यज्ञ उसकी विकृतियां हैं। अतः एकाह को सब यज्ञों की प्रतिष्ठा या आधार कहा गया है। आधाराधेय भाव को अधिक स्पष्ट करते हुये स्वयं ऐतरेयकार ने कहा है कि इस प्रकार अन्त में (यज्ञों के आधार) आधार की ही प्रतिष्ठा करते हैं-'प्रतिष्ठायामेव तद्यज्ञमन्ततः प्रतिष्ठापयन्ति'।[10]

१—ऐ०ब्रा०६.१२। २—वही ५.३४। ३—वही २.४०। ४—वही २.४०। ५—वही १.२४। ६—वही १.२४। ७—वही ६.२७। ८—वही ६.२७। ९—वही ६.८। १०—वही ६.८।

(ङ) तात्कर्म्य-सम्बन्ध-

कुछ पर्यायों का निर्माण तात्कर्म्य-सम्बन्ध से हुआ प्रतीत होता है। तात्कर्म्य-का अर्थ है-उसी कर्म को करना अथवा कर्म के भाव में साम्य होना। जैसे-यज्ञ के लिये देवरथ पर्याय प्रस्तुत हुआ है-देवरथो वा एष यद्यज्ञः।[1] यहां यज्ञ रथ न होते हुये भी रथ का कार्य (देव-हवि-वहन) करता है। अतः यज्ञ को देवरथ कहा गया है। दूसरा उदाहरण वाक् के पर्यायों से लिया जा सकता है। एक स्थल पर वाणी को त्वष्टा कहा गया है-'वाग्वै त्वष्टा।'[2] त्वष्टा देवशिल्पी है। वह निर्माण का कार्य करता है। यहां वाणी को त्वष्टा कहकर शिल्पकर्म से उसका सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। वाणी देवशिल्पी नहीं है, परन्तु देवशिल्पी त्वष्टा के कर्म का भाव उसके सृष्टिरचना-कर्म द्वारा व्यक्त होता है। एक ही कर्म की अभिव्यक्ति होने से इनमें तात्कर्म्य-सम्बन्ध की अवतारणा की गई है। ऐतरेयकार ने स्वयं इसको स्पष्ट करते हुये लिखा है कि वाणी ही इस सब संसार को बनाती है-'वाग्वीदं सर्व-ताष्टीव'।[3]

(च) परम्परा-सम्बन्ध-

परम्परा-सम्बन्ध से भी कतिपय पर्यायों का निर्माण दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिये पुरुष के पर्यायों में द्विपाद् तथा शतायु शब्द आये हैं-

'द्विपाद्वै पुरुषः'[5] तथा 'शतायुर्वै पुरुषः'।[6]

इन पर्यायों में 'द्विपाद्' पद का अर्थ दो पैर वाला तथा 'शतायु' का वाच्यार्थ सौ वर्ष की आयु प्राप्त करने वाला होता है। जीव सृष्टि में दो पैर वाले अन्य प्राणियों के रहते हुये भी परम्परा अथवा योगरूढ़ होने से द्विपाद् शब्द पुरुष का ही बोध कराता है। इसी प्रकार अपमृत्यु के अभाव में मनुष्य की आयु प्रायः सौ वर्ष से कम नहीं हुआ करती थी।

(छ) समान गुण-धर्म सम्बन्ध-

दो भिन्न पदार्थों में समान गुण--धर्म होने से वे परस्पर पर्यायवाची बन गये हैं। जैसे यज्ञ के लिये विष्णु पद का प्रयोग हुआ है-'विष्णुर्वै यज्ञः।[7] विष्णु में व्यापनशीलता का गुण है, इसीप्रकार यज्ञ भी अत्यन्त व्यापक है। दोनों में व्याप्ति-गुण का भाव विद्यमान होने से परस्पर एकार्थक होगये हैं। एक अन्य स्थल पर प्राणों को बृहती कहा गया है-'प्राणा वै बृहत्यः'।[8] क्योंकि प्राणों के रहते मृत्यु का प्रवेश

१—ऐ०ब्रा० २.३७। २—वही २.४। ३—वही २.४। ४—काव्यप्रकाश-आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणिकृत हिन्दी व्याख्या १९६०, पृ०५८ (प्रथम उल्लास) ५—ऐ०ब्रा० ५.१७। ६—वही २.१७। ७—वही १.१५। ७—वही ३.१४।

नहीं हो सकता, तथा बृहती-ऋचा की विद्यमानता से माध्यन्दिन सवन में मृत्यु प्रवेश नहीं कर सकती।

(ज) सादृश्य भाव-

पदार्थों में अतिशय सादृश्य होने के कारण भेद की अप्रतीति से पर्यायों का निर्माण होता है। जैसे द्यावापृथिवी को देवहविर्धान कहा गया है—'द्यावापृथिवी वै देवानां हविर्धाने'।[1] यहां पर जिस प्रकार हविर्धान शकटद्वय में सोमादि हवि रहती है, उसी प्रकार इस लोक में जो कुछ हवि है वह सब इन दोनों (द्यावा पृथिवी) के बीच में विद्यमान है। ऐ०ब्रा० १.२९ में कहा गया है-'ते हीदमन्तरेण सर्वं हविर्यदिदं किं च'।[2]

इसी प्रकार एक स्थल पर[3] प्राण और प्रायणीय दोनों पर्यायवाची माने गये हैं—प्राणो वै प्रायणीयः। जिस प्रकार सोम यज्ञ के प्रारम्भ में प्रायणीय इष्टि होती है, उसी प्रकार इस शरीर में गति का आरम्भ प्राणवायु से होता है। इसी सादृश्य—भाव को दृष्टि में रखकर दोनों को समानार्थी बनाया प्रतीत होता है।

ऐतरेयब्राह्मण में पर्याय के लिये प्रस्तुत पदों का वर्गीकरण

ऐतरेयब्राह्मण में सौ से अधिक पदों के पर्याय प्राप्त होते हैं। कतिपय पद ऐसे भी हैं जिनके पर्यायों की संख्या बीस से अधिक हो जाती है। साथ ही कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनके एक-एक ही पर्याय मिलते हैं। जिन शब्दों के पर्याय स्तुत हुये हैं, अध्ययन सौकर्य के लिये उनका वर्गीकरण निम्न—प्रकार से किया जा सकता है—

(प) यज्ञ—के पर्यायवाची

(अ) यज्ञ-सामान्य से सम्बन्ध रखने वाले।

(आ) यज्ञ-विशेष से सम्बन्ध रखने वाले।

(फ) वाक्-वर्ग

(१) वाक्, (२) ब्रह्म, (३) पुरुष, (४) आत्मा और (५) प्राण।

(ब) देवता-वर्ग

(१) देवता-सामान्य

(२) देवता विशेष-अग्नि, सोम, प्रजापति, इन्द्र, वायु, आदित्य, सूर्य, सविता, विष्णु, मरुत, आप, आश्विनौ, रेवती, देवताद्वंद्व-अग्नि-विष्णु तथा अग्नि-सोम।

(भ) यज्ञकर्त्ता—

(१) यजमान, (२) पुरोहित, (३) होता, (४) नेष्टा, (५) प्रजा।

(म) दीक्षा—सम्बन्धी शब्द वर्ग

(१) दीक्षा, (२) दीक्षित-विमित, (३) दीक्षितवास, (४) कृष्णाजिन।

१—ऐ०ब्रा० १.२९। २—वही १.२९। ३—वही १.७।

(य) यज्ञस्थल से सम्बन्धित

(१) देवयजन, (२) उत्तरवेदीनाभि, (३) द्यावा-पृथिवी (४) अन्तरिक्ष-स्वर्ग।

(र) यज्ञोपकरण सम्बन्धी।

(१) आज्य (२) परिवाप (३) उपांशु-अन्तर्याम (४) बज्र या यूप (५) पशु (६) अन्न (७) औषधि (८) दूर्वा (९) उदुम्बर (१०) न्यग्रोध (११) दक्षिणा।

(ल) कालवाची-वर्ग

(१) संवत्सर (२) रात्रि (३) दिन, भूत, भव्य और उषा (४) ऋतु।

(व) यज्ञ क्रिया सम्बन्धी

(१) विभिन्नस्तोम (२) विभिन्न छन्द (३) याज्या (४) धाय्या (५) प्रयाजानुयाजा (६) वषट्कार (७) अग्न्याहुति (८) वयाहुति।

(श) प्रकीर्ण शब्द वर्ग

(१) राक्षस (२) शत्रु (३) गन्धर्व (४) मिथुन (५) दिक् (६) वृष्टि (७) चक्षु (८) पाश (९) धन (१०) गृह (११) पूर्वकर्म (१२) रेतस् (१३) यश (१४) सुकीर्ति (१५) प्रतिष्ठा (१६) रश्मि (१७) वयः (१८) वाजि तथा (१९) गर्दभ।

वर्गीकरण के अनुसार पर्यायों[1] का समीक्षण

ऐतरेयब्राह्मणकार ने मंत्रार्थों को समझाने के लिये प्रकरणानुसार एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न पर्याय दिये हैं। इन पर्यायों के ज्ञान द्वारा हमें वेदार्थ-प्रक्रिया में पर्याप्त सहायता मिल सकती है, अतः इस दृष्टि से भी इनका समीक्षण वांछनीय है। उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार पर्यायों का परीक्षण किया जाता है-

(म) यज्ञ के पर्यायवाची

(अ) यज्ञ—सामान्य-

ऐतरेयकार ने यज्ञ शब्द के पांक्त, विष्णु, यजमान, प्रजापति, देवरथ, श्रव, आहवनीय, पवमान, ब्रह्म, यजमान-भाग, व सुतर्मानौ पर्याय दिये हैं। इनके अध्ययन से पता चलता है कि इनके मूल में विभिन्न तत्त्व विद्यमान हैं, जिनके आधार पर इनका निर्माण हुआ है।

उपर्युक्त ग्यारह पर्यायों में से यज्ञ के प्रथम पर्याय पांक्त को देखने से ज्ञात होता है कि इसमें पांच की संख्या का भाव विद्यमान होने से यह परम्परा-सम्बन्ध के आधार

१—ब्राह्मण-संकेत के साथ इन पर्याय-सूत्रों का संकलन वर्गानुसारी अकारादिक्रम से ग्रन्थ के अन्त में पर्यायानुक्रमणिका में प्रस्तुत किया गया है। अतः पर्यायों के अध्ययन में उनके संकेत आदि वहां देखे जा सकते हैं।

पर निर्मित हुआ है। ब्राह्मणकार ने पांच स्थलों[1] पर यज्ञ को पांक्त कहकर पुकारा है। ब्राह्मण के प्रथम तीन स्थलों पर यज्ञ का पंक्ति छन्द से सम्बन्ध बतलाया गया है। इनमें तीसरे स्थल पर यह स्पष्ट कर दिया है कि पंक्ति में पांच पाद होते हैं। अतः पांच के सम्बन्ध से यज्ञ को पांक्त का समानार्थी माना है।

ब्राह्मण के चौथे स्थल पर यज्ञ को, अग्नि, सोम, सविता, वायु, और अदिति-इन पांच देवताओं से युक्त होने के कारण पांक्त कहा गया है। अन्तिम स्थल पर ब्राह्मणकार ने पांक्त के विषय में दूसरी स्थापना प्रस्तुत की है। वहां बतलाया है कि सोम और ऋक् के पांच भाग हैं-(१) आहाव और हिंकार, (२) प्रस्ताव और पहली ऋचा, (३) उद्गीथ और दूसरी ऋचा, (४) प्रतिहार और तीसरी ऋचा, (५) निधन और वषट्कार। इन पांच भागों के कारण ही यज्ञ पांच भाग वाला कहा गया है।

यज्ञ के लिये पांक्त शब्द का प्रयोग इसी प्रकार के पर्यायसूत्र द्वारा कौषीतकि, तैत्तिरीय, शतपथ, ताण्ड्य तथा गोपथ ब्राह्मणों में भी किया गया है।[2]

विष्णु,[3] पवमान[4] तथा ब्रह्म पर्याय समानगुण आदि से समानार्थी माने गये हैं। विष्णु व्याप्ति के कारण सर्व—यज्ञ स्वरूप हैं। अन्तरिक्ष में संचरण करने के कारण वायु को यज्ञ स्वरूप कहा गया है। ब्राह्मणकार ने पवमान पर्याय के स्पष्टीकरण में कहा है कि वाक् और मन से यज्ञ होता है। वायु के संचारमार्गों के समान ही यज्ञ के वाक् और मन संचारमार्ग माने गये हैं। यज्ञ को ब्रह्म इसलिये कहा है कि यज्ञ भी ब्रह्म के समान सृष्टिकर्त्ता है। जो व्यक्ति दीक्षा लेता है, वह मानो यज्ञ से पुनर्जन्म ग्रहण करता है। यज्ञ का आरम्भ भी ब्रह्म का ही आरम्भ समझा गया हैं। यज्ञ के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप के ज्ञान का भाव भी यहां दिखाई देता है। यज्ञ के यजमान, प्रजापति[5] तथा श्रव पर्यायों में जन्य-जनक अथवा कार्यकारण भाव प्रतीत होता है- यजमान की उत्पत्ति यज्ञ से बतलाई गई है-'सोऽग्नेर्देव-योन्या आहुतिभ्यः संभवति।'[6] प्रजापति के विषय में अन्यत्र लिखा जा चुका है। श्रव शब्द कीर्तिवाची है। यज्ञ के द्वारा इसकी उपलब्धि होने से इसे पर्याय माना गया प्रतीत होता है।

१—ऐ०ब्रा० १.५,५.४, ५.१८, १.७, तथा ३.२३। २—तु०क०कौ०ब्रा०१.३-४, २.१, १३.२,। तै० ब्रा० १.३.३.१। श०ब्रा० १.१.२.१६, १.५.२.१६, ३.१.४.२०,। तां०ब्रा० ६.७.१२। गो०ब्रा० ४.२४, गौ०ब्रा० २.३, ३.२०, ४.४,७। इन पर्याय सूत्रों के संकेत वैदिक कोष से लिये गये हैं। पर्याय के इस अध्ययन में तुलना के लिये दिये गये ब्राह्मणों के संकेत प्रायः कोष से ही उद्धृत हैं। ३—तु०क० यजुर्वेद २२.२०। ४—तु०क०श०ब्रा० १.९.२.२८, २.१.४.२१, ४.४.४.१३, ११.१.२.३। ५—तु०क०श०ब्रा० १.१.१.१३, तै०ब्रा०३.२.३.१,गो०ब्रा० ३.८.४.१२, ६.१। ६—ऐ० ब्रा० १.२२।

देवरथ[1] और सुतर्मानौ पर्याय तात्कर्म्य-सम्बन्ध से बने प्रतीत होते हैं। यज्ञ के लिये जो आहवनीय पर्याय प्रस्तुत हुआ है, वह इनके साध्य-साधन के सम्बन्ध की ओर निर्देश करता है। ऐतरेयब्राह्मण ५. २४ तथा ५. २६ में आहवनीय को स्पष्ट-रूप से स्वर्ग कहा है-'स्वर्गो लोक आहवनीयः।' यज्ञ द्वारा स्वर्ग प्राप्ति का उल्लेख ब्राह्मणकार ने अनेकशः किया है।

यज्ञ का यजमानभाग पर्याय इसके आधाराधेय भाव को प्रदर्शित करता है। इसी प्रसंग में ब्राह्मणकार ने बतलाया है कि 'ब्रह्म में सब यज्ञ प्रतिष्ठित हैं और यज्ञ में यजमान प्रतिष्ठित है-'ब्रह्मणि हि सर्वो यज्ञः प्रतिष्ठितो यज्ञे यजमानः'।[2] यजमान भाग के विषय में यह उल्लेख होने से यजमान और यजमानभाग का तादात्म्य भी यहां द्रष्टव्य है।

(आ) यज्ञ-विशेष-

यज्ञ-विशेष की पर्याय सूची में यज्ञनामों के भिन्न-भिन्न पर्यायवाची दिये गये हैं-

(घर्म) प्रवर्ग्य को देवमिथुन कहा गया है। उपसद् को जिति, आतिथ्य, इष्टि को यज्ञशिर,[3] अभिप्लवषडह को देवचक्र, द्वादशाह को प्रजापति यज्ञ, ज्येष्ठयज्ञ और श्रेष्ठ यज्ञ दशम-अह को श्री, एकाह को प्रतिष्ठा, तृतीय सवन को धीतरस,[4] जागत व वैश्वदेव[5] तथा ज्योतिष्टोम को अग्निष्टोम कहा गया है।

(घर्म) अथवा प्रवर्ग्याख्य कर्म को देवमिथुन कहकर ऐतरेयब्राह्मणकार ने (१. २२ में) पर्याय में निहित रूपक को भली प्रकार समझाया है-'प्रवर्ग्य हवि का आश्रयभूत महावीराख्य पात्र शिश्न रूप है। उसके दोनों ओर लगे हुये हस्तक (हत्थे) प्रजननेन्द्रिय के पार्श्ववर्ती शफ-द्वय हैं। उदुम्बर काष्ठ की बनी हुई उपयमनी (दर्वी) श्रोणिद्वय की मध्यवर्तिनी अस्थि है। उस पात्र में निक्षिप्त द्रवीभूत आज्य रेतस् रूप है। अग्नि देवयोनि है। इस देवयोनि रूप अग्नि में आहुति देने से यजमान की उत्पत्ति होती है।'

ब्राह्मणकार ने श्री को (दशममहः) दसवें दिन के यज्ञ का पर्याय बतलाते हुये कहा है कि इसके द्वारा श्री को प्राप्त कर लेते हैं-'श्रियं वा एत आगच्छन्ति।'[6] दशमअहरूपी साधन द्वारा श्री रूप-(भोग्य वस्तु की समृद्धि) साध्य की प्राप्ति हो जाती है।

यज्ञ में आतिथ्य-इष्टि की प्राथमिकता के कारण उसे यज्ञशिर पर्याय दिया गया है। द्वादशाह को जो प्रजापति यज्ञ कहा गया है, वह प्रजापति के द्वारा सर्वप्रथम

१—तु०क०कौ०ब्रा० ७.७। २—ऐ०ब्रा० ७.२६। ३—तु०क०कौ०ब्रा० ८.१।
४—तु०क० धीतरसं वा एतत्सवनं यत्तृतीयसवनम् कौ० ब्रा० १६.१,३०.१, गौ०ब्रा० ४.१८। ५—तु०क० श०ब्रा० १.७.३.१६, ४.४.१.११, जै०उ० १.३७.४।
६—ऐ०ब्रा० ५.२२।

द्वादशाह यज्ञ का सूत्रपात होने के कारण है–'प्रजापतिर्वा एतेनाग्रेऽयजत ।'[1] इसी प्रसंग में ब्राह्मणकार ने संकेत दिया है कि देवों के मध्य प्रवृद्ध होने के कारण द्वादशाह को ज्येष्ठ तथा गुणों से युक्त होने के कारण श्रेष्ठ यज्ञ कहा है ।

ज्योतिष्टोम का जो अग्निष्टोम पर्याय दिया है, वह उनके परम्परा सम्बन्ध को प्रकट करता है ।[2] कहा गया है कि ज्योतिष्टोम में चौबीस स्तोम व शस्त्र होते हैं और संवत्सर में चौबीस अर्द्धमास होते हैं, अतः ज्योतिष्टोम अग्निष्टोम ही है । ऐ०ब्रा० ४.१२ में अग्निष्टोम और संवत्सर को पर्यायवाची बताया गया है-'अग्निष्टोमो वै संवत्सरः।' अतः अग्निष्टोम–संवत्सर के अर्धमास तथा ज्योतिष्टोम के स्तोभ व शस्त्रों में संख्या-साम्य होने से दोनों पर्याय-सूत्र में जुड़ गये हैं ।

(फ) **वाक्–वर्ग**

(१) वाक्

ऐतरेयब्राह्मण में विभिन्न स्थलों पर वाक् को सुतर्मानौ, राष्ट्री, शंस, त्वष्टा, यज्ञहोता, देवमनोता, सप्तधा, सरस्वती, आयु, योनि, शर्म, वषट्कार, पावीरवी, शस्त्र, वज्र, षोडशी, आहव, रथन्तर, अक्षर, एकाक्षरा, यज्ञ, सुब्रह्मण्या, ब्रह्म, अनुष्टुभ् तथा मध्यायतना कहा गया है । एक अन्य स्थल पर वाक् और मन को देवमिथुन शब्द से अभिहित किया गया है ।

वाक् के उपर्युक्त पर्यायवाची शब्दों के मूल में एक तत्त्व दिखाई नहीं देता । अतः प्रतीत होता है कि इनके निर्माण के आधार भिन्न-भिन्न रहे हैं ।

सुतर्मानौ, षोडशी, आहव, तथा, ब्रह्म में साध्य-साधन सम्बन्ध है । राष्ट्री, शंस, शर्म, शस्त्र, यज्ञ, सुब्रह्मण्या. तथा अनुष्टभ् में कार्यकारण, त्वष्टा में तात्कर्म्य, यज्ञहोता, देवमनोता, सरस्वती, योनि, वषट्कार, पावीरवी, वज्र और रथन्तर में विशेषण–विशेष्य, सप्तधा, अक्षर, एकाक्षरा और मध्यायतना में परम्परा, आयु में आधाराधेय भाव तथा देवमिथुन में सादृश्य–सम्बन्ध प्रतीत होता है ।

इनका अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि मंत्र रूप वाक् स्वर्ग की साधिका होने से 'सुतर्मा नौ' कही गई है । ब्राह्मणकार ने पर्यायसूत्र देकर उसका स्पष्टीकरण करते हुये कहा है–'तथा स्वर्ग लोकमभिसंतरति ।[3]

वाक् रूप षोडशी शस्त्र के द्वारा पुरुष या पशु वश में हो जाते हैं । षोडशी शस्त्र सोलह स्तोत्रों से बना होता है । सम्भवतः इसके पाठ-विशेष के कारण पुरुष और पशु आकर्षित हो जाते होंगे । आहव और ब्रह्म[4] को स्वर्गारोहण का साधन बतलाया है । इस प्रसंग में ऐतरेयकार दूरोहण सूक्त के पाठ का विधान करते है । दूरोहण सूक्त आरोहण क्रम से पढ़ा जाता है । ब्राह्मणकार ने दूरोहण को स्वर्ग कहा है । होता द्वारा

१— ऐ०ब्रा० ४.२५ । २—वही ८.४ । ३–ऐ० ब्रा० १.१३ ।
४–तु० क० श० ब्रा० १.१.२२, ३.१.३.२७ ।

शंसावोम् कहा जाना आहव है। यहां वाक्, आहव तथा ब्रह्म तीनों को पर्याय कहा गया है–'वागाहवो ब्रह्म वै वाक् स यदाहवयते तद्ब्रह्मणाऽऽहवेन स्वर्गं लोकं रोहति।'[1]

वाक् रूपी ब्रह्म या आहव के द्वारा स्वर्ग रूपी दूरोहण सूक्त पर आरोहण क्रम से चढ़ा जाता है। यहां वाक्–ब्रह्म की कल्पना द्रष्टव्य है।

राजमान होने के कारण (√राज् से) वाक् को राष्ट्री कहा गया है। वाणी धारण कराने से पूर्व ब्रह्म–बृहस्पति की स्थापना की जाती है।[2] बृहस्पति अपनी ब्रह्मवाणी से तेजस्वी है। यदि सम्बन्धित मन्त्र 'इयं पित्रे राष्ट्री' आदि में पित्रे को प्रजा का वाचक[3] मानलें तो राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने वाली तथा सभाओं का मुख्य आधार होने के कारण भी वाक् राष्ट्री कही गई हो सकती है। मंत्रों में अनेक बार प्रार्थना भी की गई है–'बृहद् वदेम विदथे सुवीराः।'[4]

स्तुति, प्रार्थना अथवा प्रशंसा का आधार वाणी होने से उसे शंस[5] कहा गया है। सुख की साधिका होने से उसे शर्म का पर्याय माना है। ब्राह्मणकार ने शस्त्र को वाक् का पर्याय कहते हुये उल्लेख किया है कि तीनों सवनों में उत्तरोत्तर ध्वन्याधिक्य होना चाहिये। जैसे जैसे सूर्य का ताप बढ़ता जाता है उसी प्रकार शस्त्र को मन्द्र, मध्य तथा तीव्र स्वर से पढ़ना चाहिये। कहा गया है–'वाग्घि शस्त्रं यया तु वाचोत्तरोत्तरिण्योत्सहेत समापनाय............भवति'।[6] इस स्थल पर ऐतरेयब्राह्मणकार ने यह समझाया प्रतीत होता है कि केवल पदनिर्मित स्तोत्रसमूह वाला शस्त्र वाक् नहीं है। वाक् तो सवनानुसार उसके पाठ की मन्द्र, मध्य तथा तीव्र गति में हैं।

उपर्युक्त भाव को लेकर ही सुब्रह्मण्या पर्याय बनाया गया प्रतीत होता है। सुब्रह्मण्या एक निगद है। यज्ञ में उसके उच्चारण के लिये स्वरों के निश्चित नियम थे। ज्योतिष्टोम तथा सोमयागों में यह जोर से बोला जाता था।[7] षोडशी और आहव में भी यही भाव देखा जा सकता है।

यज्ञ के प्रारम्भ और समाप्ति का कारण वाक् है। वाक् के बिना यज्ञ नहीं हो सकता, अतः कारण कार्य भाव से यज्ञ कहा गया है।

अनुष्टुप्[8] को वाक् कहने में कार्य–कारण सम्बन्ध प्रतीत होता हैं। ब्राह्मणकार ने वाक् का यह पर्याय देते हुये एक विशेष बात कही है–अपनें ही छन्द के द्वारा वाणी को पवित्र किया जाता है–'स्वेन छन्दसा वाचं पुनीते।'[9]

यहां अनुष्टुप् को वाणी का छन्द माना है। अतः इस पर्याय में स्वदेवता–भाव की विद्यमानता है।

१–ऐ० ब्रा० ४.२१। २–वही १.१९। ३–तु० क० विशो वै पितरः। ४–ऐ० ब्रा० १.२१ मंत्रसंकेत ऋ० २.३९.८। ५–तु० क० गो० ब्रा० ६.८। ६–ऐ० ब्रा० ३.४४। ७–हॉग ऐतरेयब्राह्मण अनुवाद पृ० २६०। ८–तु० क० श० ब्रा० १.३.२.१६, ८.७.२.६, गो० ब्रा० ६.१६। ९–ऐ० ब्रा० ६.३६।

त्वष्टा का उल्लेख पृष्ठ ७६–७७ पर हो चुका है। यज्ञ–पुरुष में विद्यमान वाक् होता की स्थानापन्न है। देवताओं का मन वाक् की ओर लगा रहता है, अतः वाक् को देवमनोता[1] कहा गया है।

ब्राह्मणकार ने बतलाया है कि प्राण भरत कहे जाते हैं क्योंकि सरस्वती को भारती कहते हैं। ऐतरेयकार सम्भवतः भारती का अर्थ 'प्राणों की धारक' मानते हैं, वाक् द्वारा भी प्राणों का भरण होता है। अतः वाक् और सरस्वती पर्यायवाची हैं– 'सरस्वतीवान्भारतीवानिति वागेव सरस्वती प्राणो भरतः।'[2]

प्राणों को रेतस् कहकर मिथुन बनाने के लिये वाक् को योनि कहा गया है। जब होता वषट्कार कहता है तब वषट्कार के साथ होता के वाक् और प्राणापान का उत्क्रमण हो जाता है, अतः वाक् को वषट्कार कहा गया है।

वाक् के एक पर्यायसूत्र में सरस्वती के साथ पावीरवी पर्याय[3] दिया गया है। सायणाचार्य ने इसे पवित्र करने वाली बतलाया है। निरुक्त में पवि शब्द वज्रवाची बताया गया है–पावीरम् आयुधम्–'तद्देवता वाक् पावीरवी। पावीरवी च दिव्या वाक्।'[4]

यहां पावीरवी और वज्र विशेषण वाक् की कठोरता को द्योतित करते हैं। मिथुन–प्रक्रिया से सम्बन्धित मन को बृहत् मानकर वाक् को रथंतर कहा गया है। रथंतर एक प्रकार का साम है। शतपथ में इसे रसतम होने से रथंतर कहा है।[5]

परम्परा सम्बन्ध से गानरूपा वाक् को सप्तधा कहा है। एक एक अक्षर मिलाकर तीन अक्षरों से वाक् का निर्माण हुआ, अतः इसे एकाक्षरा कहा है।[6] मुख का मध्यभाग अथवा अन्तरिक्ष वाणी का आयतन होने से इसे मध्यायतना कहा है।

इन्द्रियरूप वाक् जीवन है। जीवन को आयु कहते हैं, अतः वाक् और आयु पर्याय माने गये हैं। यह पर्यायसूत्र शुद्धासारोपा लक्षणलक्षणा का सुन्दर उदाहरण है। मन के बिना वाणी कार्य नहीं करती। ब्राह्मणकार ने कहा है कि मन से प्रेरित होकर ही वाणी बोलती है–'मनसा वा इषिता वाग्वदति।'[7] इन दोनों के घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण ही देव–मिथुन पर्याय बनाया गया है।

वाक् के पर्यायों के उपर्युक्त विश्लेषण से वाक् के लौकिक तथा अलौकिक स्वरूप के दर्शन के साथ ही साथ उसकी सृजनक्षमता और नियन्त्रक–शक्ति का भी आभास मिलता है। ज्ञात होता है कि वाक् से ही सारी पंचभूतात्मक सृष्टि विकसित हुई है। यह वाक् दो रूपों में दिखाई देती है। एक को हम परा तथा दूसरी को अपरा कह सकते हैं। अपरा स्थूल शब्दमयी वाक् है, जो बुद्धि का स्पर्श करती है। किन्तु परावाक् मूल अक्षरतत्त्व है, जो हृदय का स्पर्श करती है या हृदय में प्रविष्ट

१–तु० क० कौ० ब्रा० १०.६।   २–ऐ० ब्रा० २.२४।   ३–वही ३.३७।
४–नि० १२.२९–३१।   ५–वैद ए० पृ० १९०–श० ब्रा० ९.१.२.३६।
६– तां० ब्रा० ४.३.३।   ७–ऐ० ब्रा० २.५।

होकर अपनी शक्ति से जीवन का निर्माण करती है। इसी अक्षर-वाक् से गायत्री आदि सप्त छन्दों का वितान या विकास होता है।

(२) ब्रह्म

ऐतरेयब्राह्मण में ब्रह्म के बृहस्पति, श्रोत्र, चन्द्रमा, गायत्री, वाक्, रथंतर तथा पवमान पर्याय मिलते हैं। इनके मूल में एक तत्त्व विद्यमान न होने से इनके निर्माण के आधार भिन्न-हैं। बृहस्पति[1] और पवमान में समान गुणों का श्रोत्र और वाक् में साध्य-साधन का, चन्द्रमा और गायत्री[2] में. कार्यकारण का भाव तथा रथंतर[3] में सादृश्य सम्बन्ध प्रतीत होता है।

ब्राह्मणकार ने ब्रह्म का बृहस्पति पर्याय पांच स्थलों पर प्रस्तुत किया है। ऐ०ब्रा० १.१९ में प्रवर्ग्य इष्टि के प्रसंग में कहा गया है कि ब्रह्म के द्वारा ही प्रवर्ग्य की चिकित्सा की जाती है-'ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति।' होता द्वारा पठित प्रथम ऋचा सृष्टि के पूर्व विद्यमान 'तदेक' का निर्देशक है। दूसरी ऋचा में वाक् राष्ट्री का वर्णन है। अत: इस भाग में वाग्ब्रह्म का प्रतिपादन है। ऋ० १०.७१.१ के बृहस्पति की दृष्टि में यहां ब्रह्म को बृहस्पति कहा प्रतीत होता है। दूसरे स्थल पर ऐ०ब्रा० १. २१ में ऐतरेयकार को यही भाव अभिप्रेत है।

इसी प्रकार ऐ०ब्रा० १.१३ में ब्रह्म को सोम का पथ-प्रदर्शक बनाया गया है। कहा गया है कि ब्रह्म को पथ-प्रदर्शक बनाने से यज्ञ में विघ्न नहीं होता-'अस्मा एतत्पुरोगवकर्मण वै ब्रह्मण्यवद्रिष्यति।' यहां प्रोह्यमाण क्रीत सोम के लिये मंत्र पढ़े गये हैं। "भद्रात्" मंत्र अथर्ववेदीय है। यह बृहस्पति का त्रिष्टुभ् छन्द वाला मंत्र है। ऐतरेयब्राह्मणकार का भाव सुस्पष्ट नहीं है। हो सकता है कि 'सोम' तत्त्व के ब्रह्म से प्रसूत होने के कारण ऊपर वर्णित ब्रह्म-बृहस्पति को उसका पुरोगव कहा गया हो। ऐ०ब्रा० १.३० में भी इसी प्रकार का भाव अभिप्रेत है- 'अग्नि और सोम के लाने के प्रसंग में ब्रह्मणस्पति का मंत्र पढ़ कर ब्रह्म को दोनों का पुरोगव बना दिया जाता है। इससे यजमान ब्रह्म से युक्त होकर हानि नहीं उठाता।'

ऐ०ब्रा० ४.११ में 'होता' ब्रह्म में यजमान को स्थापित कर देता है। कहा गया है-'ब्रह्मण्येवैनं तदन्ततः-प्रतिष्ठापयति'। यहां भी उपर्युक्त भाव की ही अभिव्यक्ति हुई है।

बृहत्त्व गुण के कारण ब्रह्म को वायु कहा गया है। ब्रह्म को श्रोत्र का पर्याय बनाने का कारण स्वयं ऐतरेयकार ने बतला दिया है। इसका उल्लेख पृष्ठ ७५ पर किया जा चुका है।

१-तु०को० कौ०ब्रा० ७.१०, १२.८, १८.२। श० ब्रा० ३.१.४.१५, ३.९.१.११। जै० उ० १.३७.६। २-कौ० ब्रा० ३.५। ३-तां०ब्रा० ११.४.६।

ब्रह्म के वाक् पर्याय के विषय में ऊपर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। ऐ० ब्रा० २,४१ में चन्द्रमा को ब्रह्म का पर्याय माना है। कहा गया है कि चन्द्रमा ही ब्रह्म है, इस प्रकार चन्द्रमा को बनाता है और चन्द्रमा में ही प्रवेश करता है–'चन्द्रमसमेव तत्कल्पयति चन्द्रमसमप्येति'। ब्राह्मण के अनुसार ऋग्वेद ३,१३ में ऋतुदेवों का वर्णन है। यह सूक्त अग्नि का है। यहां ब्राह्मणकार ने अग्नि को अनेक अर्थों में लिया है। प्रकृतस्थल पर ब्रह्मन् अग्नि के लिये आया है। हो सकता है कि वेदपुरुष ने 'सहस्त्रसातमः' 'देवहूतमः' और मरुद्वृधः विशेषणों को दृष्टि में रखकर अग्नि को ब्रह्मन् कहा हो। मंत्र में चन्द्रमा के गुणों का वर्णन मानकर ऐतरेयकार ने इस अग्नि–ब्रह्मन् को चन्द्रमा कहा प्रतीत होता है।

ऐ०ब्रा० ३.३४ में अनिरुक्त रुद्र मंत्र (ऋ० १.४३.६) के विषय में कहा गया है कि यह मंत्र गायत्री छंद में है। गायत्री अग्नि का छंद है। ब्राह्मणकार ने इसी प्रसंग में ब्रह्म या बृहस्पति की अंगारों से उत्पत्ति बतलाई है–'यदङ्गाराः पुनरुशान्ता उद्दीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्।' यहां भी अग्नि के सम्बन्ध से ब्रह्म और गायत्री पर्यायवाची माने गये हैं।

सामों में रथंतर की मुख्यता होने से उसे ब्रह्म कहा गया है।

(३) पुरुष

ऐतरेयब्राह्मण में पुरुष को एकविंश, पांक्त, शतायु,[1] गायत्र, औष्णिह, द्विपाद,[2] शतवीर्य और शतेन्द्रिय कहा गया है। ये पर्याय ब्रह्म–परक तथा मनुष्य–परक दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुये हैं। इनके मूल में परम्परा-सम्बन्ध का एक तत्त्व मिलता है, इसी के आधार पर इन पर्यायों का निर्माण हुआ है।

ब्राह्मणकार ने दश हाथ की तथा दश पैर की अंगुलियों के साथ आत्मा को जोड़कर पुरुष के इक्कीस अंगों की ओर निर्देश किया है।[3] इसी प्रकार लोम, त्वचा, मांस,अस्थि और मज्जा के संयोग से पुरुष को पांक्त कहा गया है। गायत्री अग्नि का छन्द है। पुरुष भी अग्निस्वरूप माना गया है।[4] अतः पुरुष को गायत्र कहा गया है। व्याहृति–चतुष्टय से युक्त गायत्री उष्णिक् बन जाती हैं, अतः पुरुष का औष्णिह पर्याय बन गया है। द्विपाद् और शतायु का विवेचन पृष्ठ ५३ पर किया जा चुका है। इसी प्रकार अनन्तकार्य शक्ति होने से उसे शतवीर्य तथा शतशः (नाड़ी रूप) इन्द्रियों का संचार होने से शतेन्द्रिय कहा गया है।

समस्त सृष्टि के आरम्भकर्त्ता पुरुष का भाव इन पर्यायों से व्यक्त होता है। उसका स्वरूप ऋग्वेद १०.१२९.२ के 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' में मिलता है।

१–तु०की०कौ०ब्रा० ११.७।

२–तु०की०गो०४.२४, गो०उ० ६.१२,तै०ब्रा० ३.९.१२.३।

२–कौ०ब्रा० १७.७–पुरुषो वै यज्ञः।

३–ऐ०ब्रा०१.१९।

डा० फतहसिंह[1] ने सृष्टि की पांच अवस्थाओं को दृष्टि में रखकर पुरुष को पांक्त कहा है।

(४) आत्मा-

ऐतरेय ब्राह्मण में आत्मा को स्तौत्रिय, होता, बृहती और वृषाकपि कहा गया है। इनमें प्रथम दो पर्याय सादृश्य सम्बन्ध से तथा अन्तिम दो कार्यकारण सम्बन्ध से पर्याय माने गये प्रतीत होते हैं।

ऐतरेयकार ने ऐ०ब्रा० ३.२३ में साम और ऋक् द्वारा विराट् की सृष्टि बतलाई है। इस प्रसंग में ब्राह्मणकार ने सा को ऋक् तथा अमः को साम कहा है। ज्ञात होता है कि सा या ऋक्, लयविहीन होने से प्रकृति की सुप्तावस्था का आभास कराती है तथा अमः (√अम् से) या साम उसको गति देने वाला है। दोनों के मिथुन से विराट् की उत्पत्ति होती है। इसमें स्तोत्रिय (स्तुतिकर्त्ता) या गतिदाता आत्मा माना गया है। इसी प्रकार तृतीय सवनों में होत्रक जो परिधानीय सूक्त पढ़ते हैं, उन्हीं सूक्तों के अन्तिम मंत्र से होता समाप्त करता है। अतः आत्मा को होता तथा होत्रक-अंग कहा गया है।

बृहती को जो पढ़ता है, वह आत्मा है। ऐ०ब्रा० ६.२८ में कहा है-'आत्मा वै बृहती, बृहतीमशंसीत्स आत्मा' ब्राह्मणकार ने दूसरे स्थल पर बतलाया है कि वृषाकपि सूक्त (ऋ०१०-८६) को पढ़ता है। वृषाकपि आत्मा है, अतः इस प्रकार वह यजमान की आत्मा को बनाता है। ऋग्वेद के उक्त सूक्त को पढ़ने से ज्ञात होता है कि वृषाकपि एक वैदिक देवता है, सम्भवतः सूर्य का नाम है। गोपथ ब्राह्मण में कहा है-"आदित्यो वै वृषाकपिः, तद्यत्कम्पयमानो रेतो वर्षति तस्माद् वृषाकपिः तद्वृषाकपेर्वृषाकपित्वम्।"[2] "सूर्य आत्मा जगतस्तथुषश्च"[3] में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई प्रतीत होती है।

(५) प्राण-

ऐतरेयब्राह्मण में प्राण के नीचे लिखे पर्यायवाची देखे गये हैं-

प्रायणीय, प्रयाज, नव, सविता, वय, वनस्पति. समिध, द्विदेवत्य, ऋतुयाज, आयु, पिता, मातरिश्वा, रेतस्, जातवेद, प्र, वायु, सप्तशीर्षन्, बृहती, मरुत्, आदित्य, होता, सर्वऋत्विज्, दश, बालखिल्य और सतोबृहती।

इनके निर्माण के आधार की दृष्टि से इनमें सादृश्य, परम्परा, समान-गुण, कार्यकारण तथा विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध पाया जाता है।

समष्टिरूप में इनका अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि ब्राह्मणकार समस्त ब्रह्माण्ड व्यापी प्राण या जीवन की अभिव्यक्ति तीन रूपों में देखता है-एक वृक्ष

१-वै०द०पृ० ४०। २-गो०ब्रा० २.६.१२। ३-ऋ०१.११५.१।

वनस्पति, दूसरे पशु पक्षी तथा तीसरे मानव। इस विराट् की यज्ञ-क्रिया में प्राण या गति का अत्यधिक योगदान है, इसीलिये इसकी व्याख्या प्रायः यज्ञ में प्रयुक्त शब्दावली से की गई है। प्राण चैतन्य का ही रूप है, जो विश्व के महान् रहस्य के रूप में भासित हो रहा है।

व्यष्टि रूप में इसका विश्लेषण इस प्रकार है-

यज्ञ का आरम्भ प्रायणीय इष्टि से किया जाता है। ब्राह्मणकार ने प्राणों के प्रथम स्पन्दन को प्रायणीय कहा है। पंचमहाभूतों में प्राण के संचरण का भाव प्रयाज आहुति[1] में विद्यमान होने से प्राण प्रयाज[2] कहलाते हैं।

आतिथ्य-इष्टि[3] के लिये नवकपालों के पुरोडाश का विधान बतलाया गया है। इस प्रसंग में प्राणों की नौ संख्या से कपालों की संख्या की पुष्टि की गई है। इसी प्रकार प्राणों को सप्तशीर्षन् तथा दशसंख्या वाले भी कहा गया है। नौ, सात तथा दश संख्या के अध्ययन से ज्ञात होता है कि शरीर के नवछिद्रों में संचरमाण होने से प्राणों को नौ कहा है।[4] शरीर में सात छिद्र ऊर्ध्वगत हैं तथा दो छिद्र अधोगत हैं। शिरोगत सप्तछिद्रवर्त्ती प्राणों को सप्तशीर्षन्[5] कहा गया है। ऐ०ब्रा० १७ के अनुसार आतिथ्य इष्टि के प्रसंग में त्रिपदा-पुरोनुवाक्या तथा चतुष्पदा याज्या का पाठ किया जाता है। आतिथ्य को यज्ञशिर बतलाया गया है। ऋक्-द्वय के सप्तपद होने से आतिथ्य रूपी यज्ञशिर में संचरण करने वाले प्राणों की कल्पना करके उन्हें सप्तशीर्षन् कहा गया है। ऐतरेयब्राह्मण ६.२० में एक स्थल पर प्रजापति के अनिरुक्त सूक्त के पाठ का विधान आया है। इस सूक्त में ऋचाओं की संख्या दश होती है। पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा पांच कर्मेन्द्रियों को मिलाकर प्राणों को दश कहा गया है अथवा प्राणापानादि वायुपंचक के साथ पांच नाड़ियों में चलने वाले नागकूर्मकृकलादि पंचवायु को जोड़ कर दश प्राणों की ओर संकेत किया गया है।

प्राण के द्वारा ही शरीर तथा सभी पदार्थों को प्रेरणा मिलती है। सविता भी सभी उत्पत्तियों का प्रेरक है।।[6] प्रेरकत्व गुण-साम्य के कारण प्राण और सविता को पर्यायवाची कहा गया है। प्राण के द्वारा पक्षियों में गति प्राप्त कराने से प्राण को

१- दर्शपौर्णमासेष्टि में पांच आहुतियां दी जाती हैं, जिन्हें पंच प्रयाज कहा जाता है। यह यज्ञ पूर्वांग या पूर्वभावा कहा जाता है। इसके पश्चात् तीन गौण आहुति अनुयाज कहलाती हैं। शतपथ (१.५,३.१-१३) के अनुसार समिध प्रयाज आदि पांच प्रयाज ये हैं-(१) समिधो यजति, (२) तनूनपातं यजति, (३) बर्हिर्यजति, (४) इडो यजति, (५) स्वाहाकारं यजति।

२-तु०क०कौ०ब्रा० ७.१.१०.३,श०ब्रा०११.२.७.२७। ३-ऐ०ब्रा०१.१५।

४-गो०ब्रा०४.६, कौ०ब्रा०७.१०,ष०ब्रा०३.१२, तां०ब्रा०४.५.२१, १४.७.६।

५-तु०क०तै०ब्रा०१.२.३.३। ६-ऐ०ब्रा० १.१६।

वय[1] का समानार्थी माना गया है। वृक्ष शरीर के जीवाविष्ट माने जाने के कारण प्राण वनस्पति हैं।

ऐ०ब्रा० २.४ में प्रथम प्रयाज का विधान करते हुये कहा है –'समिधो यजति'। इसके पश्चात् समिध् की व्याख्या में इसे प्राण का पर्याय बताते हुये उल्लेख हुआ है कि प्राण ही इस जगत को प्रज्वलित करते हैं–'प्राणा हीदं सर्वं समिन्धते यदिदं किं च।'[2] इससे यह स्पष्ट है कि यह विश्व प्राण का समिन्धन ही है। इसी प्रकार प्राणों को होता तथा सर्वऋत्विज् कहा गया है। होता आह्वाता है। अतः यहां वाक् रूप प्राणों का कथन किया है। वाक् के पर्यायों में वाक् को यज्ञ-होता कहा जा चुका है। ऋत्विजों के सब कार्य वाक् रूप प्राण द्वारा ही सम्पन्न होते हैं, अतः 'प्राण ही सर्व ऋत्विज् हैं'-ऐसा कहा गया है। ऋतुयाजों की प्राण[3] संज्ञा देते हुये ऐतरेयब्राह्मणकार ने उल्लेख किया है कि जो ऋतुओं के लिये आहुतियां देते हैं, वे यजमान को प्राण धारण कराते हैं-'तद्यदृतुर्याजैश्चरन्ति प्राणानेवतद्यजमाने दधति।'[4]

उच्छ्वास और अनुच्छ्वास में प्राणों के विद्यमान रहने से इनको द्विदेवत्य कहा गया है। ब्राह्मणकार ने २.२८ में (द्विदेवत्य) दो देवताओं वाले सोम पात्रों के लिये याज्या मंत्रों का निरन्तर पाठ बतलाया है। प्राणों के अव्यवच्छेद के लिये यह क्रिया की जाती है। द्विदेवत्य (सोमपात्र) और प्राणों को पर्यायवाची बनाकर प्राण के साथ सोम का योग यहां द्रष्टव्य है।

जब तक प्राणों का स्पन्दन होता है, तभीतक आयु स्थिर रहती है। अतः कार्य-कारण सम्बन्ध की दृष्टि से आयु को प्राण का पर्यायवाची बनाया गया है।

ऐ०ब्रा० २.३८ में होता के उपांशु जप के प्रसंग में प्रयुक्त मंत्र के अनुसार यजमान का नया जन्म होता है और मातरिश्वा को पिता माना है। प्राणों के द्वारा जीवन या गति का प्रारम्भ होता है, अतः प्राण को पिता की संज्ञा दी गई है। इसी प्रसंग में होता के उपांशु-जप को रेतस् कहकर प्राणों को भी रेतस् बताया गया हैं।[5] अतः इसमें प्राण शक्ति के परोक्ष-स्पन्दन का भाव दृष्टिगोचर होता है।

ऐतरेयब्राह्मणकार ने बतलाया है[6] कि तीसरे सवन के आरम्भ में आदित्य-ग्रह होता है। इसमें अनुवषट्कार तथा सोमपान जो समाप्ति सूचक हैं–इनका निषेध किया गया है। प्राणों के आदित्य के समान सतत–जागृत होने का भाव इसमें बतलाया गया है।

प्राण का एक पर्याय ज्ञातवेद दिया गया है। कहा गया है कि प्राण जातवेद हैं। जितने उत्पन्न हुओं को वह जानता है, उतने ही होते हैं। जिनको वह नहीं जानता वह कैसे हो सकते हैं-'प्राणो वै जातवेदा: स हि जातानां वेद यावतां वै स जातानां

१–तु०क०ऋ० ३.२६.८। २–तु०क०श०ब्रा० १.५,३.१।
३–तु०क०कौ०ब्रा० १३.६, गो०ब्रा० ३.७। ४–ऐ०ब्र.२.२६।
५–वाक् के पर्यायों में वाक् को योनि तथा प्राणों को रेतस् कहा गया है। इस मिथुन-प्रक्रिया में सृष्टि की क्षमता विद्यमान है। ६–ऐ०ब्रा० ३.२६।

वेद ते भवन्ति येषामु न वेद किमु ते स्यु।'[1] इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि प्राणशक्ति के द्वारा कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता। एक दूसरे के हृदय की बात को ताड़ लेना प्राण का कार्य है।

प्राणों को "प्र" उनके अंतरिक्ष-गमन के कारण कहा गया है। ऐतरेयब्राह्मण २.४१ में 'अन्तरिक्षं वै प्र' का उल्लेख हुआ है। प्राण अन्तरिक्ष में संचरण करते हैं। अतः आधाराधेय भाव के कारण यह पर्याय बनाया गया है।। सतत-व्याप्ति के कारण प्राण वायु कहे जाते हैं। स्वाप या निद्रा के समय गतिमान् मरुत् प्राण कहलाता है। उस काल में जीवन को सुरक्षित रखने का कार्य उन्हीं के द्वारा होता है।

ब्राह्मणकार ने कहा है कि मृत्यु माध्यंदिन सवन में बृहती छन्द में न बैठ सका, क्योंकि बृहती प्राण हैं। जहां प्राण हैं, वहां मृत्यु का प्रवेश नहीं हो सकता। मृत्यु का निवारण करने वाली होने के कारण बृहती को प्राण का पर्याय कहा जाता है। ब्राह्मण के अन्य स्थल (६. २८) पर बृहती को आत्मा का पर्याय कहकर सतोबृहती को प्राण का वाचक माना है। कहा गया है कि बृहती के पढ़ने से आत्मा और सतोबृहती के पढ़ने से प्राण बनता है। बृहती को मध्यंदिन में पढ़ते हैं। इससे ऊर्ध्व सतोबृहती का शंसन होता है। बृहती को मध्यदेहगत आत्मा समझकर उसके दोनों ओर व्याप्त रहने वाले प्राणों को सतोबृहती कहा गया है।

मैत्रावरुण के द्वारा पढ़ी जाने वाली बालखिल्य ऋचाओं के प्राणस्थानीय होने के कारण प्राणों को बालखिल्य का पर्यायवाची बनाया गया है।[2] प्राण शब्द के साथ अपान शब्द के पर्याय को देख लेना अप्रासंगिक न होगा। अपान शब्द का एक पर्याय दृष्टि में आता है। ऐ०ब्रा० २.४० में कहा गया है-अपानो वै यन्ता'।

निश्वासरूप अपान वायु से प्राणवायु का नियमन किया जाता है। नियमन का भाव विद्यमान होने से अपान को यन्ता कहा गया है।

(ब) देवतावर्ग के पर्याय

देवताओं के पर्याय का विस्तृत विवेचन 'देवनिरूपण' अध्याय के अन्तर्गत आगे किया जावेगा। इस प्रकरण में देवताओं के पर्यायों तथा उनके आधारों का संक्षिप्त-अध्ययन पर्याप्त होगा।

देवता शब्द के लिये सत्य-संहिता तथा अग्नि-तनु शब्द आये हैं। मूल में विशेष्य-विशेषण भाव तथा सादृश्य-सम्बन्ध होने के कारण इनका निर्माण हुआ है।

देवता विशेषः (१) अग्नि के पर्याय

ऐतरेयब्राह्मण में सर्वादेवता,[3] देवावम, अन्नाद, अन्नपति, देवपशु, प्रियअतिथि, देवयोनि, देवहोता, देववशिष्ठ, देवगोपा, शर्म, अहिबुध्न्य. अग्निष्टोम, स्वर्ग-

---

१-ऐ०ब्रा० २.३६। २-तु० क० गो० ब्रा० ६.८। ३-तु० क०-श० ब्रा० १.६.२.८,३.१.३.१, तां० ब्रा० ६.४.५,१८.१.८, ष० ब्रा० ३.७. गो० ब्रा० १.१२.१६।

लोकाधिपति, गृहपति, वरुण. परिक्षित्, देवमुख' तथा पुरोहित शब्द अग्नि के पर्यायरूप में मिलते हैं।

(२) सोम

सोम के पर्यायों में उत्तरा, यश,[2] किल्विष-स्पृत्, ब्रह्मणसभासाह,[3] द्यावापृथिव्यागर्भ, इन्द्र, सर्वादेवता, क्षत्र[4] तथा औषध नाम आये हैं।

(३) प्रजापति

ब्राह्मणकार ने प्रजापति के सप्तदश, संवत्सर,[5] एकविंश, अपरिमित, क[6], यज्ञ,[7] पवमान, और अनिरुक्त[8] पर्याय दिये हैं। इन पर्यायों के आधार परम्परा, समानगुण, विशेषण-विशेष्य और कार्यकारण सम्बन्धों में देखे जा सकते हैं।

(४) इन्द्र

इन्द्र के पर्यायों में वाजी, यज्ञ, यज्ञदेवता,[9] त्वष्टा, ओकसारी,[10] देवौजिष्ठ, बलिष्ठ, सहिष्ठ, सत्तम और पारयिष्णुतम शब्द आये हैं।

(५) वायु

ऐतरेयब्राह्मण में वायु को प्राण, जातवेद, तूर्णिहव्यवाट्, यन्ता[11] तार्क्ष्य, गृहपति तथा पुरोहित कहा गया है। इन पर्यायों में सादृश्य, परम्परा, विशेषण-विशेष्य तथा तात्कर्म्य सम्बन्ध दिखाई देते हैं, जिनके आधार पर इनका निर्माण हुआ है।

(६) आदित्य

आदित्य को गौ, बृहत्, देवक्षत्र तथा पुरोहित कहा गया है। इनके मूल में सादृश्य, परम्परा और विशेष्य-विशेषण भाव विद्यमान हैं।

(७) सूर्य

सूर्य के असौ, धाता, वषट्कार, अन्तरिक्षसद्वसु, नृषद, वेदिषद्होता,[12] गृहपति, तथा ओम् पर्याय मिलते हैं।

(८) सविता

सविता को प्रसवीश तथा प्राण कहा गया है। इनके मूल में कार्यकारण तथा सादृश्य सम्बन्ध दिखाई देता हैं।

१-तु०क०-कौ०ब्रा० ३.६,५.५, ता०ब्रा०६.१.६, गो०१.२३। २-तु०क०ऋ० १०.७२.१०। ३-वही १०.७१.१०। ४-कौ०ब्रा०-७.१०,६,५, १०.५,१२.८। ५-तु०क०तां०ब्रा०१६.४.१२, गो० ३.८। ६-तु०क०कौ०ब्रा० ५.४, २४.४. ५.६, तां०ब्रा०७.८.३, श०ब्रा०६.४.३.४, ७.३.१.२०, तै०२.२.५.५, जै०उ० ३.२.१०, गो०१.२२। ७-तु०क०गो०उ०२.१८, तै० १.३.१०.१०। ८--तै० १.३.८.५। श०ब्रा०१.१.१.१३, ६.२.२.२१,तां०१८.६.८। ९-तु०क०श०ब्रा०२.१.२.११। १०-गौ०ब्रा०५.१५। ११-ऋ०३.१३.३। १२-ऋ०४.४०.५।

(६) विष्णु

ऐतरेयब्राह्मण में विष्णु के पर्यायों के लिये सर्वादेवता, देवपरम और देवद्वारप शब्द आये हैं।

(१०) मरुत्

मरुत् का पर्याय देवविंश[1] आया है, जिसके मूल में विशेषण-विशेष्य भाव दृष्टिगोचर होता है।

(११) आप

आप को रेतस्, सोम्य, पशु, सर्वादेवता,[2] मरुत्, शान्ति तथा अमृत कहा गया है।

(१२) अश्विनौ

अश्विनौ को देवभिषज्[3] तथा अध्वर्यू[4] कहा गया है। इन पर्यायों का आधार परम्परा तथा सादृश्य सम्बन्ध हैं।

(१३) रेवती

रेवती के सर्वादेवता तथा आप पर्याय मिलते हैं। इनके मूल में सादृश्य भाव विद्यमान होने से इन्हें पर्याय कहा गया है।

(१४) अग्नि-विष्णु

अग्नि-विष्णु के 'अग्नितन्व' और 'दीक्षापाल' दो पर्याय मिलते हैं।

(१५) अग्नि-सोम

अग्नि-सोम को प्राणापान तथा चक्षुषी कहा गया है। इनके मूल में सादृश्य सम्बन्ध दिखलाई देता है।

(भ) यज्ञ-कर्त्ता

यज्ञ-कर्त्ता वर्ग के अन्तर्गत यजमान, पुरोहित, होता, नेष्टा और प्रजा शब्दों के पर्यायों का अध्ययन किया गया है।

(१) यजमान

यजमान के पर्यायों में सोम, यूप,[5] मेधपति, प्रजापति, जरिता तथा सूक्त शब्द मिलते हैं।

ऐ०ब्रा० १.१४ में सोम को यजमान का पर्याय कहा गया है। देवताओं ने अपनी अराजता को समझकर सोम को राजा स्वीकार किया, तब उन्होंने सब दिशाओं को जीत लिया। सोम की सर्वत्र व्यापकता से यहां यजमान की व्यापकता का सादृश्य दिखाया गया है।

१-तां० ६.१०.१०, १८.१.१४। २-तु०क०-कौ०ब्रा०११.४,तै०ब्रा०-३.२.४.३, ३.३.४.५,३,७.३.४, ३.६.७.५। ३-तु०क०कौ०ब्रा०१८.१, तै०ब्रा०१.७.३.५, गो०ब्रा०२.६.५.१०। ४-श०ब्रा०१.१.२.१७। ५-वही १३.२.६.६।

यजमान को यूप कहते हुये इसकी व्याख्या में ब्राह्मणकार ने लिखा है कि यजमान प्रस्तर (दर्भमुष्टि) है। अग्नि देवयोनि है। यहां स्वयं यजमान की अग्नि में आहुति का प्रसंग है। यजमान अपनी आहुति द्वारा सुवर्णमय शरीर होकर ऊंचे स्वर्ग लोक को जाता है।[1] यजमान की आहुति सम्भव न हो सकने से उसके स्थान पर यूप को यजमान का स्थानीय मानकर अग्नि में छोड़ा जाता था। यजमान का आहुतियों द्वारा ऊर्ध्व-गमन यूपोच्छ्रयण-क्रिया का आभास कराता है। ब्राह्मणकार यूप के स्थान पर दर्भमुष्टि को ही अग्नि में डालकर यूप–प्रहरण–क्रिया को सम्पन्न मानते हैं।

पशु[2] को मेध कहकर उनके अधिपति को मेधपति कहा गया है। प्रजापति के अंग ही विभिन्न छन्द हैं। छन्दों द्वारा यज्ञ किया जाता है। अतः प्रजापति यजमान हैं। स्तुतिकर्ता होने से यजमान को जरिता कहा गया है। यजमान के समान सूक्तों की मुख्यता होने से इन्हें पर्याय माना गया है।

(२) पुरोहित, (३) होता व (४) नेष्टा

पुरोहित को पंचमेनि तथा वैश्वानर पर्याय गुण-साम्य के सम्बन्ध से दिये गये हैं। विशेषण-विशेष्य भाव से बृहस्पति को देव-पुरोहित का पर्यायवाची माना है। पुरोहित का विवचन आगे किया गया है।[3]

होता को समान व क्षत्र कहा गया है। इनका आधार सादृश्य तथा विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध है। समान-वायु प्राण में अपान का तथा अपान में प्राण का हवन करता है, अतः होता कहा गया है। निष्केवल्य-शस्त्र के पाठ करने वाले होता में क्षत्र (विशेष गुण समूह) होने से उसे क्षत्र का पर्याय बनाया गया है।

नेष्टा का पत्निभाजन पर्याय सादृश्य सम्बम्ध से है। आग्नीध्र के समीप बैठा हुआ नेष्टा नामक ऋत्विक् शेष हवि को भक्षण करता है। उसको अग्नीध्र रूप अग्नि का पत्नी स्थानीय कहा गया है।[4]

(५) प्रजा आदि

प्रजा शब्द के पर्यायों के साथ ही साथ, वर्ण सूचक शब्दों, विश्, मनुष्य, और स्त्री के पर्यायों का भी अध्ययन कर लिया गया है। प्रजा के लिये अनुयाज, नर, तन्तु तथा जनकल्पा, ब्राह्मण के लिये गायत्र, राजन्य के लिये त्रैष्टुभ तथा वैश्य के लिये जागत, विश् के लिये होत्राशसी और राष्ट्र, मनुष्य के लिये अनृतसंहिता और नर तथा स्त्री के लिये नारी पर्याय मिलते हैं।

प्रयाज यजमान के प्राणरूप हैं। पश्चाद्भावि होने के कारण अनुयाज पुत्रादि रूप हैं, अतः उन्हें प्रजा कहा गया है। पुत्रादि ही कुलपरम्परा के अविच्छेद का कारण होने से तन्तु कहे गये हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का सम्बन्ध गायत्री (ब्रह्मवर्चस्),

---

१-ऐ०ब्रा० २.३। २-पशु की व्याख्या पशु शब्द के पर्यायों के अन्तर्गत आगे की गई है। ३- देखो आगे अध्याय ७। ४-ऐ०ब्रा० ६.३।

त्रिष्टुभ् (वीर्य) और जगती (पशु-धन) से होने के कारण इन्हें क्रमशः गायत्र, राजन्य तथा जागत कहा गया है। होतृ-कर्म का शंसन करने वाले मैत्रावरुणादि होत्राशंसी कहे जाते हैं। वे राष्ट्रवर्त्ति प्रजा हैं। इसीलिये विश् को होत्राशंसी कहा गया है। प्रजा का समष्टिगत रूप राष्ट्र है, अतः उसे राष्ट्र कहा जाता है। स्वभाव में मिथ्या का तत्त्व देखकर ही मनुष्यों को अनृतसंहिता कहा गया है।[1]

(म) दीक्षा सम्बन्धी—

दीक्षा—सम्बन्धी पर्यायों के अन्तर्गत दीक्षा, दीक्षित-विमित, दीक्षितवास तथा कृष्णाजिन के पर्यायों को लिया गया है।

दीक्षणीय को एकादशकपालक, दीक्षा को ऋत और सत्य, दीक्षितविमित को दीक्षितयोनि, दीक्षितवास को उल्व तथा कृष्णाजिन को सुतर्मानौ कहा गया है।

इन पर्यायों में दीक्षा को ऋत तथा सत्य कहा गया है। ऋत और सत्य का अर्थ काल[2] और प्रकृति[3] है। दीक्षा के द्वारा दीक्षित पुरुष काल के समान सृष्टि में व्याप्त तथा प्रकृति के समान विकार रहित हो जाता है।

दीक्षणीय-इष्टि के अन्तर्गत एकादश कपालों का पुरोडाश दिया जाता है, अतः उसे एकाशशकपालक कहा जाता है। ऋत्विज् लोग जिसको दीक्षा देते हैं, उसको मानो फिर गर्भ में बुलाते हैं। दीक्षा—संस्कार के लिये यजमान को उस स्थान पर ले जाते हैं, जो दीक्षित पुरुष के लिये नियत होता है। यह दीक्षित पुरुष की योनि है। इसे दीक्षाविमित कहते हैं। दिक्षा—विमित में ले जाना मानो उसे अपनी योनि में ले जाना है। इसीलिये इसे दीक्षितयोनि कहा गया है। दीक्षित पर जो वस्त्र ढंका जाता है, वह दीक्षितवास कहा जाता है। उसे ही उल्व (वह झिल्ली जिसमें बच्चा उत्पन्न होता है) कहा जाता है। दीक्षितवास के ऊपर कृष्णाजिन (काले मृग का चर्म) पहनाते हैं। उल्व के ऊपर जरायु होता है। जरायु से ढंका हुआ बच्चा सरलता पूर्वक गर्भ से बाहर निकल आता है। इसीलिये कृष्णाजिन को सुतर्मानौ कहा गया है।

(य) यज्ञस्थल से सम्बन्धित-

यज्ञस्थल से सम्बन्धित वर्ग के अन्तर्गत देवयजन, उत्तरवेदी—नाभि, द्यावा, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग के पर्यायों का अध्ययन किया गया है।

१-ऐ०ब्रा० १.६। २-वै०द० पृष्ठ २४१ पर डा० फतहसिंह ने बतलाया है कि ऋत के सिद्धान्त का ब्रह्माण्ड में समावेश काल में होता है। ३-वायु पुराण १०२।१०७ में प्रकृति को सत्य कहा है-'प्रकृतिं सत्यमित्याहुर्विकारोऽनृतमुच्यते'। ऋग्वेद के भाववृत्तात्मक अघमर्षण मंत्र 'ऋतं च सत्यं च' में भी दोनों का यही भाव ग्रहण किया जा सकता है।

ऐतरेयब्राह्मण में देवयजन को वर, तथा उत्तरवेदीनाभि को इडायास्पद और स्वःलोक कहा गया है। मूल में परम्परा का भाव निहित होने के कारण इन पर्यायों का निर्माण हुआ।

द्यावा-पृथिवी के देवहविर्धान, रोदसी और प्रतिष्ठा-द्यौ के अनुमति, गायत्री, ज्योति और पुरोधाता तथा पृथिवी के कुहू, अनुष्टुभ, आयु, सर्पराज्ञी, इषम्, जागत और पुरोधाता पर्याय मिलते हैं।

देवहविर्धान दो हव्यशकट होते हैं, जिनमें यज्ञ की हवि आदि ले जाई जाती है। द्यावा पृथिवी के मध्य ही यज्ञ की सब हवि विद्यमान होने से इन्हें देवहविर्धान कहा गया है। क्रन्दन (रोदस्) शब्द करने के कारण इन्हें रोदसी पर्याय दिया गया है। मनुष्य जन्म में यह पृथिवी आश्रय है तथा जन्मान्तर में द्युलोक आश्रय है। इसीलिये द्यावा-पृथिवी को प्रतिष्ठा कहा गया है।[1]

द्यौ के पर्यायों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि द्यौ प्रकाश से सम्बन्धित है, अतः उसे अनुमति (पूर्णिमा), गायत्री, ज्योति और पुरोधाता कहा गया है। अनुमति में चन्द्र का पूर्ण प्रकाश रहता है। गायत्री अग्नि का छन्द है। ज्योति में अग्नि तत्त्व की विद्यमानता स्पष्ट ही है। द्यौ ने आदित्य को (पुरो धा) प्रत्यक्ष ही धारण कर रखा है। अतः अग्नि या प्रकाश से युक्त होने के कारण द्यौ के उपर्युक्त पर्याय दिये गये है।

इसी प्रकार पृथिवी का सम्बन्ध अन्धकार से होने के कारण इसे कुहू (अमावस्या) और अनुष्टुभ् कहा गया है। ऐतरेयब्राह्मण के एक स्थल पर अनुष्टुभ् को रात्रि कहा है-'आनुष्टुभी वै रात्रिः'।[2] पृथ्वी तत्त्व से प्राणियों का संवर्धन होता है, अतः इसे आयु कहा गया है। इसी प्रकार (इषम्) अन्न की उत्पत्ति का आधार होने से पृथिवी इषं कहलाती है। अग्नि रूपी पुरोहित को धारण करने के कारण इसे पुरोधाता कहा जाता है।

पृथिवी का सर्पराज्ञी पर्याय बड़ा विचित्र है। वैदिक ग्रन्थों में पृथिवी को अनेकशः सर्पराज्ञी कहा गया है। इस पर्याय का कारण ऐतरेयब्राह्मणकार ने यह बतलाया है कि यह पृथिवी निश्चय ही सर्पराज्ञी है, क्योंकि यह सर्पण करने वालों अथवा रेंगकर चलने वालों की रानी है। सर्पण करने वाले कौन हैं? इसका उत्तर तैत्तिरीय तथा शतपथ ब्राह्मणों में प्राप्त हो जाता है। तैत्तिरीयब्राह्मण में कहा गया है कि देव ही सर्प हैं, उनकी यह पृथिवी रानी है-'देवा वै सर्पाः। तेषामियं राज्ञी'।[3] इसी प्रकार शतपथकार कहते हैं कि ये लोक ही सर्प हैं, वे इस सबके साथ सर्पण करते हैं-

'इमे वै लोकाः सर्पा। ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च'।[4] श्री भगवद्दत्त ने वेदविद्यानिदर्शन[5] में इसके भाव का उल्लेख किया है कि पृथिवी के साथ उसका सारा

१-ऐ०ब्रा०३.२६। २-वही ४.६। ३-तै०ब्रा०-२.२.६.२।
४-श०ब्रा०७.४.१.२५। ५-वेद विद्यानिदर्शन पृष्ठ १३० सं०१६५६।

मण्डल सर्पण करता है। पृथ्वी के देवों या लोकों के मध्यवर्ती होने से इसे सर्पराज्ञी पर्याय दिया गया हो सकता है।

ऐतरेयब्राह्मण में अन्तरिक्ष के प्र, गौ, पुरोधाता तथा पथ और स्वर्ग के ब्रध्नस्य विष्टप, दूरोहण, आहवनीय, ओम्, स्व, अपरिमित,[1] षष्ठमह,[2] असमायी, बार्हत तथा श्रेयान् पर्याय मिलते हैं।

देवयान को ज्योतिष्मान् पथ तथा देवलोक को सात बतलाया गया है।

अन्तरिक्ष के पर्यायों में विशेषण–विशेष्य तथा आधाराधेय का भाव पाया जाता है। स्वर्ग के पर्याय आधाराधेय, विशेषण–विशेष्य, सादृश्य तथा परम्परा सम्बन्ध के आधार पर बने प्रतीत होते हैं।

अन्तरिक्ष के प्र और गौ पर्याय विश्लेषणीय हैं। ऐतरेयब्राह्मणकार ने अन्तरिक्ष का प्र पर्याय देते हुये कहा है कि ये सब भूत (प्राणी) अन्तरिक्ष में ही प्रगमन करते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अन्तरिक्ष प्राणियों की गति का आधार स्थल है। ब्राह्मण में उसके साथ ही इसकी उत्पत्ति के विषय में भी चर्चा की गई है। कहा गया है कि वह अन्तरिक्ष को बनाता है और अन्तरिक्ष में ही प्रवेश कर जाता है।[3] ऋ०१०.६०.१४में प्रजापति की नाभि से अन्तरिक्ष की उत्पत्ति बतलाई है–'नाभ्याः आसीत् अन्तरिक्षम्'। ब्राह्मणकार द्वारा उल्लिखित 'वह' शब्द का तात्पर्य यहां प्रजापति ही भासित होता है। 'गौ' शब्द का अर्थ 'रश्मि' है। रश्मियों का संचरण–स्थल होने के कारण अन्तरिक्ष और गौ पर्याय माने गये हैं।

ब्राह्मणकार ने स्वर्ग को (ब्रध्नस्य) सूर्य का (विष्टप) स्थान कहा है। स्वर्ग का रोहण (दुः) दुष्कर या कठिन होने से इसे दूरोहण कहा है। सब प्राणियों के लिये स्वर्ग सुलभ नहीं है। यह भाव स्वर्ग के 'असमायी' पर्याय से व्यक्त होता है। दूरोहण का अर्थ स्पष्ट करते हुये ऐतरेयकार ने कहा है कि जो यह तपता है (अर्थात् सूर्य), वही दूरोहण है–'असौ वै दूरोहो योऽसौ तपति'।[4] आहवनीय, ओम्, स्व, श्रेयान्, बार्हत तथा षष्ठमह पर्यायों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणकार सूर्य को ही स्वर्ग कहते हैं। इस प्रसंग में एक विचित्र बात यह देखने को मिलती है कि ऐतरेयकार ने स्वर्ग का विवरण प्रस्तुत करते हुये पृथिवी से उसकी दूरी का माप भी दिया है।[5] उनके अनुसार स्वर्ग यहां से सहस्र–आश्वीन है–'सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गोलोकः'।[6] एक तेज घोड़ा एक दिन में जितने मील दूर जाता है, वह दूरी एक आश्वीन कही जाती है।

देवयान को ज्योति–पथ कहने की परम्परा ऋग्वेद से चली आती है। ऋग्वेद १–७२.७ में अग्नि को सर्वज्ञ कहकर देवयान का परमज्ञाता कहा है। इस मार्ग को यहां 'अन्तर्विद्वां अध्वनः' कहा गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद ७–७६.२ में 'प्र मे पन्था

---

१ -तु० क०–गो० ब्रा० ६.५। तै० ब्रा० ३.८.६.८। २–गौ० उ० ६.१६।
३–ऐ०ब्रा०२.४१। ४–वही ४.२०। ५–आज का विज्ञान पृथ्वी से सूर्य की दूरी ६ करोड़ ३० लाख मील बतलाता है। ६–ऐ०ब्रा० २.१७।

देवयानाः' का उल्लेख करके इस मार्ग को अक्षतिकर और तेजों से संस्कृत बतलाया गया है।[1]

ब्राह्मणकार ने देवलोकों को सप्तसंख्यक बतलाया है। इन लोकों के वैदिक नाम भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः तपः, और सत्यम् ही उनको अभीष्ट प्रतीत होते हैं।[2]

(र) यज्ञोपकरण सम्बन्धी शब्दों के पर्याय

(१) आज्य (२) परिवाप तथा (३) उपांश्वन्तर्याम

आज्य का 'देवसुरभि' पर्याय विशेषण-विशेष्य परिवाप का 'इन्द्रायूप' पर्याय कार्यकारण तथा उपांश्वन्तयमि का 'प्राणापान' पर्याय सादृश्य सम्बन्ध से बना प्रतीत होता है।

(४) वज्र या यूप

वज्र या यूप के आगू, वषट्कार,[3] वैश्वानरीय, षोडशी तथा आदित्य पर्याय मिलते हैं। इनके मूल में कार्यकारण, विशेषण-विशेष्य तथा सादृश्य सम्बन्ध विद्यमान हैं।

वज्र के पर्यायों में प्रायः दृढ़ता, प्रहरण व शत्रु-नाश के भावों की तथा यूप के पर्यायों में प्रकाश व स्वर्ग-लाभ के भावों की अभिव्यक्ति हुई है।

(५) पशु

ऐतरेयब्राह्मण में पशु शब्द के निम्न लिखित पर्याय मिलते हैं-

जागत, मेध, ओषध्यात्मा, आग्नेय, पुरोडाश, चतुष्पाद, पूषा,[4] प्रगाथ,[5] मरुत, पांक्त,[6] स्वर, उक्थ,[7] बार्हत,[8] मिथुन, छन्द,[9] हवि, वपु, वाज, त्रैष्टुभ् , छन्दोमा[10] तथा सतोबृहती।

१—विष्णुपुराण २.८. में देवयान का व्यवस्थित उल्लेख द्रष्टव्य है-

नागवीथ्युत्तरं यच्च सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणम्।
उत्तरः सवितुः पन्था देवयानश्च स स्मृतः॥

२-जैमिनी ब्रा० १.३३४ में सप्तलोक (१) उपोदका, (२) ऋतधाम, (३) अपराजित, (४) अभिद्युः, (५) प्रद्यु, (६) रोचन तथा (७) विष्टप (ब्रह्मलोक) हैं। विष्णु पुराण २.७.१८,१६ में इन लोकों का विशेष अध्ययन हुआ है।

३—तु० क० कौ० ब्रा० ३.५, श० ब्रा० १.३.३.१४, गो० ब्रा० ३.१.५।

४-तु० क०-तां० ब्रा० २३.१६.५। ५-गो० ३.२१–२२, ४.२। ६-कौ० ब्रा० १३.२, तै० ब्रा० १.६.३.२, तां० ब्रा० २.४.२, गो० ब्रा० ३.२०,४.७। ७-गौ० ६ ७, तै० ब्रा० १.८,७.२, कौ० ब्रा० २१.५। ८-कौ० ब्रा० २३.१.२६.३, तै० ब्रा० १.४.५.५, श० १३.४.३.१५। ६-कौं० ११.५, तां० ब्रा० १६.५.११। १०-तां० ब्रा० १.४.७.६।

उपर्युक्त पर्यायों का निर्माण साध्य-साधन, कार्यकारण, सादृश्य, परम्परा तथा आधाराधेय सम्बन्ध के आधार पर हुआ ज्ञात होता है।

पशु के अर्थ को ठीक ठीक समझने की अत्यन्त आवश्यकता है। यज्ञीय कर्मकांड में जहां पशु का वर्णन आता है, वहां पार्थिव पशु अर्थ कर देने में भूल हो सकती है। पशु का अध्ययन यज्ञोपकरणों के अन्तर्गत किया गया है। ब्राह्मणकार द्वारा प्रदर्शित इन पर्यायों द्वारा पशु का जो स्वरूप सामने आया है, वह बड़े विचित्र प्रकार का है।

अध्ययन-सौकर्य्य के लिये हम पशु के पर्यायों को देवता छन्द और हवि क्रम से रख लेते हैं-

(१) चतुष्पाद, ओषध्यात्मा, आग्नेय, पूषा और मरुत्- (२) पांक्त, जागत, बार्हत, प्रगाथ, स्वर, उक्थ, छन्द, त्रैष्टुभ, छन्दोमा, सतोबृहती तथा मिथुन (३) मेध, पुरोडाश, हवि, वपु और वाज।

कोष के अनुसार पशु का अर्थ है जो सबको अविशेष रूप से देखे-'सर्व अविशेषेण पश्यति'।[1]

पुरुषसूक्त[2] में पुरुष की महिमा का विस्तार बतलाते हुये कहा है-'पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'। उक्त मंत्र में पुरुष के चतुष्पाद से घिरी त्रिलोकी का भाव स्पष्ट है। समस्त त्रिलोकी में व्याप्त होने के कारण ही पशु भी चतुष्पाद कहे गये हैं। जैमिनीय ब्राह्मण में अन्तरिक्ष को पशु कहा गया है।[3] इनको ओषध्यात्मा[4] कहकर सोम से तथा आग्नेय कहकर अग्नि से सम्बन्धित बतलाया गया है। तैत्तिरीय,[5] शतपथ[6] आदि ब्राह्मणों में भी इन्हें अग्नि या आग्नेय कहा गया है। पूजा और मरुत के द्वारा इनका पोषण होने से इन्हें पूजा और मरुत् पर्याय दिया गया है। उपर्युक्त विवरण ऋग्वेद के १.२२.१७ में मंत्र का स्मरण दिलाता है, जिसमें द्युलोक और अन्तरिक्ष से उत्पन्न रेणु अथवा पांसु का वर्णन है। ऐसा भासित होता है कि अन्तरिक्ष में व्याप्त परमाणुओं की ओर ही ऐतरेयकार का संकेत रहा हो। पंक्ति, जगती, बृहती आदि से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें पांक्त, जागत आदि कहा गया है।

ऐतरेयकार ने पशु को मिथुन कहने से पूर्व मिथुन सूक्त के पाठ का विधान बतलाया है।[8] यह भी कहा है कि त्रैष्टुभ व जागत मिथुन हैं। त्रिष्टुभ् अन्धकार का तथा जागत प्रकाश का प्रतीक है। पशुओं में दोनों ही विद्यमान हैं, अतः उन्हें मिथुन कहा गया है।[9]

१—पद्मचन्द्र कोष पृष्ठ २३४, सं०१८६७। २—ऋ०१०.६०.३। ३—जै०ब्रा० ३.१८६-पशवो वा अन्तरिक्षम्। ४—ऐ०ब्रा०३.४०-औषधो वै सोमो राजा। ५—तै०ब्रा०१.१.४.३-आग्नेयः पशवः। ६—श०ब्रा०६.१.४.१२-सर्वे पशवो यदग्नि। ७—समूढमस्य पांसुरे॰। ८—ऐ०ब्रा० ४.२१।
९- परमाणुओं के मुखों पर प्रकाश तथा बीच में अन्धकार देखा जाता है।

सृष्टि यज्ञ में निरन्तर पशुओं की आहुति होती रहती है। पार्थिव यज्ञ में इनकी अभिव्यक्ति पुरोडाश, हवि आदि में दृष्टिगोचर होती है। ऐतरेयब्राह्मणकार ने पुरोडाश को स्पष्ट रूप से पशु कहा है। जो पुरोडाश से यजन करता है, वह मानो पशुमेध द्वारा ही यज्ञ करता है–'स वा एष पशुरेवाऽऽलभ्यते यत्पुरोडाशः। सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते यः पुरोडाशेन यजते'।[1]

(६) अन्न

ऐतरेयब्राह्मण में अन्न के विराट्, पितु,[2] करम्भ, परिवाप, न्यूख,[3] पशु, शान्ति, दक्षिणा, इष, पंक्ति, कम्,[4] आप तथा इडा[5] पर्याय मिलते हैं।

इनका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इनके मूल में एक भाव विद्यमान नहीं है। साध्यसाधन, परम्परा, सादृश्य और कार्यकारण सम्बन्ध इनके निर्माण के आधार प्रतीत होते हैं। अन्न के प्रायः सभी पर्याय स्पष्ट हैं। अन्न का पशु और शान्ति पर्याय द्रष्टव्य है। पशुओं के द्वारा अन्न रूप भोज्य पदार्थों की प्राप्ति होने के कारण अन्न को पशु कहा गया है।[6] इसीप्रकार ऐतरेयकार ने प्रायश्चित्त का प्रसंग देते हुये कहा है कि यदि अग्निहोत्री की गाय दुहाते समय यजमान का ध्यान आकर्षित करती हुई ध्वनि करे तो उसकी शान्ति के लिये अन्न प्रदान करना चाहिये, क्योंकि अन्न ही शान्ति है–'एषा यजमानस्य प्रतिख्याय वाश्यते, तामन्नमप्यादयेच्छान्त्यै शान्तिर्वा अन्नम्'।[7] अन्न के द्वारा जठराग्नि शान्ति हो जाती है। अतः अन्न को शान्ति कहा गया है।

(७) औषधि, (८) दूर्वा, (९) उदुम्बर, (१०) न्यग्रोध

औषधि को आग्नेय, दूर्वा को ओषधक्षत्र, उदुम्बर को, ऊर्क् अन्नाद्य तथा वनस्पति भौज्य तथा न्यग्रोध को वनस्पतिक्षत्र कहा गया है।

ब्राह्मणकार ने दक्षिण को अग्नि की दिशा बतलाया है। औषधियों के दक्षिण में प्रथम पकने का कारण बतलाते हुये कहा है कि औषधियां आग्नेय हैं। दूर्वा वीर्यवर्धक होने के कारण ओषधक्षत्र कही जाती हैं। उदुम्बर रस या अन्न का स्वरूपभूत है। उदुम्बर फल से अन्न जैसी तृप्ति होती है, इसीलिये उसे ऊर्क्, अन्नाद्य और वनस्पति भौज्य कहा गया है। न्यग्रोध की उत्पत्ति सोम से हुई है, इसीलिये उसे वनस्पतियों का राजा (वनस्पतिक्षत्र) कहा गया है।

१– ऐ०ब्रा० २.९। २– तु०क० यजुर्वेद–२.२०,१२.६५, श०ब्रा०–१.९.२.२०, ७.२.१.१५। ३– गो०ब्रा० ६.८.१२। ४– गो०ब्रा०–६.३। ५–कौ०ब्रा०३.७। ६– ऐ०ब्रा० ५.१९। ७– वही ५.२७।

(११) दक्षिणा

ऐतरेयब्राह्मण में दक्षिणा के पितु और यज्ञपुरोगवी पर्याय मिलते हैं। परम्परा तथा विशेषण-विशेष्य सम्वन्ध होने से ये पर्याय बने हैं।

ऐतरेयकार ने दक्षिणा और पितु[2] दोनों को अन्न का भी पर्याय माना है। दक्षिणा के बिना यज्ञ की सम्पन्नता नहीं मानी जा सकती, अतः उसे 'यज्ञ पुरोगवी' कहा गया है। ऐतरेयकार ने ६.३५ में बतलाया है कि जैसे बिना अगुआ बैल के गाड़ी में गड़बड़ हो जाती है, इसी प्रकार बिना दक्षिणा के यज्ञ में गड़बड़ हो जाती है। इसीलिये कहते है कि दक्षिणा अवश्य हो, चाहे थोड़ी ही क्यों न हो। ब्राह्मण के एक अन्य स्थल पर इसे ऋत्विजों का पारिश्रमिक कहा है। यजमान के लिये अध्वर्यु, उद्गाता, होता और ब्रह्मा कार्य करते हैं, अतः वे दक्षिणा पाने के अधिकारी हैं।[1]

ऐतरेयब्राह्मण ६.३ में दक्षिणा को अन्न कहते हुये उल्लेख हुआ है कि यज्ञ को अन्त में अन्न अर्थात् वाणी में स्थापित करते हैं-'अन्नं दक्षिणाऽन्नाद्य एव तद्वाचि यज्ञमन्ततः प्रतिष्ठापयन्ति[3]।

इसके अनुसार दक्षिणा का अर्थ भी वाक् हुआ। उसी वाक् का यह विस्तार दिखाई देता है।

(ल) कालवाची शब्दों के पर्याय-

(१) संवत्सर

ऐतरेयब्राह्मण में संवत्सर के समस्त, अग्निष्टोम, वैश्वानराग्नि, विश्वकर्मा तथा परिक्षित् पर्याय मिलते हैं। साथ ही संवत्सर के अंगभूत द्वादशमास, पंचऋतु तथा तीनसौ साठ दिनों का वर्णन भी प्राप्त होता है। परम्परा, विशेषण-विशेष्य तथा तात्कर्म्य सम्बन्ध के आधार पर संवत्सर के पर्यायों का निर्माण हुआ प्रतीत होता है।

ऐतरेयब्राह्मण में संवत्सर शब्द कई स्थलों पर आया है। इसके पर्यायों के अध्ययन से पता चलता है कि संवत्सर शब्द केवल कालवाचक ही नहीं माना गया। कालवाचक संवत्सर में तीनसौ साठ दिन, बारह महीने तथा पांच ऋतुयें होती हैं। पांच ऋतुओं की संगती ऐतरेयकार द्वारा हेमन्तशिशिर को एक मानकर बैठाई गई है-'पंचर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समानेन'।[4]

ऐतरेयकार ने 'नूनोरास्व' ऋचा के व्याख्यान में संवत्सर को समस्त का पर्याय बतलाते हुये कहा है कि वह (प्रजापति) समस्त-संवत्सर को बनाता है तथा उसी में प्रवेश कर जाता है-'संवत्सरमेवतत्समस्तं कल्पयति संवत्सरं समस्तमप्येति'[5]।

१- ऐ०ब्रा० १.१३। २- वही ६.३। ३- वही ५.३४।
४- वही १.१। ५- वही २.४१।

संवत्सर को अग्निष्टोम तथा वैश्वानराग्नि कहा है। इन पर्यायों से संवत्सर यज्ञ रूप में दिखाई देता है। प्रजापति के पर्यायों में प्रजापति को संवत्सर कहा गया है। प्रजापति और विश्वकर्मा भी परस्पर पर्याय हैं। इस समीकरण द्वारा संवत्सर विश्वकर्मा हो जाता है। संवत्सर के चारों ओर प्रजा निवास करती है। (परितः क्षियन्ते प्रजाः यस्य) अतः उसे परिक्षित् कहा गया है।[1]

डा० फतहसिंह ने संवत्सर की कल्पना के आधार का अनुमान देते हुये कहा है कि 'कदाचित् विश्व में जिस किसी को भी सृष्टि या व्युष्टि होती है, वह वर्ष अथवा काल के अन्तर्गत होती है।'[2] अन्य ब्राह्मणों में सृष्टि के अतिरिक्त पालन और प्रलय का सम्बन्ध भी संवत्सर से बतलाया गया है।[3]

(२) रात्रि

क्षपा, वरुण,[4] राथंतरी और आनुष्टुभी रात्रि के पर्याय मिलते हैं। इनके साथ ही अनुमति (चतुर्दशो युक्त पूर्णिमा) को गायत्री, राका (प्रतिपदा से युक्त पूर्णिमा) को त्रिष्टुभ्, सिनीवाली (प्रतिपदावाली अमावस्या) को जगती तथा कुहू (चतुर्दशी से युक्त अमावस्या) को अनुष्टुभ् कहा गया है।

परम्परा तथा समानगुण सम्बन्ध से इन पर्यायों का निर्माण हुआ है। इनका अर्थ स्पष्ट होने के कारण विवेचन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

(३) दिन, भूत, भव्य, उषा और (४) ऋतु

ऐतरेयब्राह्मण में अहः का वार्हत, भूत का परिमित, भव्य का अपरिमित, उषा का राका, त्रिष्टुप् और पोष तथा ऋतु का सोमभ्रातृ पर्याय मिलता है।

परम्परा तथा सादृश्य सम्बन्ध से ये पर्याय बनाये गये ज्ञात होते हैं। इनमें भी कोई अस्पष्टता प्रतीत नहीं होती है।

(ब) यज्ञ क्रिया सम्बन्धी वर्ग

(१) विभिन्न स्तोमों के पर्याय

ऐतरेयब्राह्मण में वर्णित यज्ञ क्रियाओं में विभिन्न स्तोमों का विनियोग किया गया है। स्थल-स्थल पर इन स्तोमों की व्याख्या के लिये पर्याय प्रस्तुत किये गये हैं। विभिन्न स्तोमों के पर्यायों का विवरण निम्न प्रकार है–

स्तोम को स्वर्गलोक व परमस्वर्ग कहा गया है। ऋक्साम को इन्द्रहरी, स्वरसाम को लोक, निविद को उक्थगर्भ, उक्थपेश, सौर्यदेवता, क्षत्र, स्वर्गारोह और स्वर्गाक्रमण, बृहद्रथंतर को संपारिण्य यज्ञनौ, देवमिथुन व क्षत्र-पृथिवी, गौरवीति

१- तु०क०गो०ब्रा० ६.१२, २- वैं०द० पृष्ठ २२०। ३- श०ब्रा०८.४.१.१७।
४- तु०क०ता०२५.१०.१०।

को शाक्त्य, तेज व ब्रह्मवर्चस् , ऐतशप्रलाप को आयु, अक्षिति व छन्दोरस, तूष्णींशंस को सवनचक्षु, यज्ञमूल व यज्ञीयकर्म, बहिष्पवमान को यज्ञमुल, नानद को भातृव्यहा, महानाम्नी को पृथिवी, अन्तरिक्ष व स्वर्ग, वैश्वदेव को पांचजन्य-उक्थ, वामदेव्म को यजमानलोक, अमृतलोक व स्वर्गलोक, नाराशंस को विकृति, बह्‌वृच को वीर्यवान, बालखिल्य को प्रगाथ, दधिक्रा को देवपवित्र, पावमान्य को देवपवित्र, प्रातरनुवाक् को यज्ञशिर और बृहत् को मन कहा गया है।

इन पर्यायों के मूल में साध्य-साधन, कार्यकारण, परम्परा, विशेषण-विशेष्य समानगुण तथा सादृश्य सम्बन्ध विद्यमान हैं, जिनके आधार पर इनका निर्माण हुआ है।

समष्टि रूप में इन स्तोमों, शस्त्रों, पृष्ठों, सामों आदि के अध्ययन से पता चलता है कि यज्ञ में इनका अत्यधिक महत्त्व समझाया गया है। यज्ञ में इनकी सहायता की पर्याप्त अपेक्षा होती है। सृष्टि की कई प्रवृत्तियों में देवों द्वारा इनका उपयोग बतलाया गया है। ऐ०ब्रा० ४.१८ में स्तोमों के विषय में उल्लेख आया है कि देवों को सूर्य के स्वर्ग से गिरने की आशंका हुई, अतः उन्होंने स्तोमों द्वारा सूर्य का स्तम्भन कर दिया स्तोमरूपी लोकों को सूर्य के ऊपर नीचे लगाकर उसको रोका गया। सूर्य से सम्बन्धित होने के कारण निविदों को सौर्या देवता कहा गया है। ऐतरेयकार द्वारा उल्लेख हुआ है कि जैसे सूर्य सामने उदय होता है, मध्य में स्थित होकर अस्त होता है, उसी प्रकार निविद भी उक्थों के पहले, मध्य और अन्त में स्थापित किये जाते हैं। आदित्य के समान आचरण करने के कारण इनको सौर्या कहा गया है–'आदित्यस्यैव तद्व्रतमनुपर्या वर्तन्ते'।[1]

इसी प्रकार तेज, ब्रह्मवर्चस् , आयु आदि का साधन होने से गौरवीति और ऐतशप्रलाप को साध्य का समानार्थी मान लिया गया है। इन स्तोमादि के बारे में निर्वचन वाले तीसरे अध्याय में भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उपर्युक्त वर्णनों को देखने से ऐतरेयकार का यह भाव मालूम होता है कि वे सूर्य मंडल के चारों ओर चक्कर लगाने वाले ग्रहों का स्वरूप स्तोम आदि में देखकर अपना व्याख्यान प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं।[2]

(२) विभिन्न छन्दों के पर्याय

ऐतरेयब्राह्मण में छन्दों के विभिन्न पर्याय मिलते हैं। उनका विवरण निम्न प्रकार है–

छंदस् को साध्यादेव और प्रजापतिअंग कहा गया है। गायत्री के अष्टाक्षरा, तेज, ब्रह्मवर्चस् , चतुर्विंशत्यक्षरा, पक्षिणी, चक्षुष्मती, ज्योतिष्मती व भास्वती, उष्णिक् का आयु, त्रिष्टुभ् के ओज, इन्द्रियवीर्य, एकादशाक्षरा व वीर्य, विराट् के त्रयस्त्रिंश–दक्षरा, दंशिनी, पंचवीर्य व अन्नाद्य, जगती के द्वादशाक्षरा, गौ, सिनीवाली तथा बृहती

१– ऐ०ब्रा०३.११। २–वैं०द० १८२–१८४ पृष्ठ भी दृष्टव्य है।

के छन्दोश्री, छन्दोयश तथा षट्त्रिंशदक्षरा पर्याय ब्राह्मण के विभिन्न स्थलों पर आये हैं।

इन पर्यायों के निर्माण के आधार साध्य-साधन, परम्परा, विशेषण-विशेष्य तथा सादृश्य सम्बन्ध प्रतीत होते हैं।

'ऐतरेयब्राह्मण में छन्दस् का स्वरूप' अध्याय में इनका विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

(३) याज्या, (४) धाय्या, (५) प्रयाजानुयाजा व (६) वषट्कार

ऐतरेयब्राह्मण में विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध से याज्या को 'प्रत्ति,' सादृश्य सम्बन्ध से धाय्या को 'पत्नी,' विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध से प्रयाजानुयाज को 'देववर्म' तथा साध्यसाधन व सादृश्य सम्बन्ध से वषट्कार को 'देवपात्र' और 'धाता' कहा गया प्रतीत होता है।

(७) अग्न्याहुति तथा (८) वयाहुति-

साध्य-साधन भाव से अग्न्याहुति को स्वर्ग्याहुति तथा सादृश्य सम्बन्ध से वपाहुति को अमृताहुति कहा गया है। ब्राह्मणकार ने वया का पर्याय रेतस् दिया है। कौषीतकि ब्राह्मण १०.५ में आत्मा और वपा को पर्याय माना है।

वपाहुति और वपा में आत्मतप और रेतस् के ऊर्ध्वगमन का भाव समझ में आता है। इसका विश्वलेषण आगे किया जायेगा।

(श) प्रकीर्ण शब्दों के पर्याय

(१) राक्षस तथा (२) शत्रु (सपत्ना)

राक्षस के असुर, पाप्मा और अत्रिण पर्याय मिलते हैं। इनके मूल में परम्परा-सम्बन्ध दिखाई देता है। दीर्घ जिह्वा के विशिष्ट-चिन्ह के कारण आसुरी को दीर्घजिह्वी कहा गया है।

सपत्न के सजन्य, द्विषन्त तथा भ्रातृव्य पर्याय पाये जाते हैं। इनके निर्माण का आधार भी परम्परा-सम्बन्ध ही प्रतीत होता है।

(३) गन्धर्व

विशेषण-विशेष्य भाव के अनुसार गन्धर्वों को स्त्रीकामा कहा गया है। ऐतरेयब्राह्मणकार ने सोमक्रय के प्रसंग[1] में बतलाया है कि गन्धर्वों के स्त्रीकामा होने के कारण वाक् स्त्री बनकर गई। उसके बदले गन्धर्वों ने सोम को देवों के हाथ बेच

१-ऐ०ब्रा० १.२७। २-श०ब्रा० ९.४.१.८।

दिया। यहां गन्धर्व का भाव सूर्य तथा स्त्री का भाव उसकी रश्मियों से लिया जा सकता है। यजुर्वेद मन्त्र १८।३८ पर शतपथ ब्राह्मण में व्याख्या करते हुये लिखा है– 'सूर्यो गन्धर्वः। तस्य मरीचयोऽप्सरसः'।[1]

(४) मिथुन

परम्परा सम्बन्ध से मिथुन और द्वन्द्व पर्यायवाची कहे गये हैं।

ऐतरेयब्राह्मण में मिथुन की कल्पना कई प्रकार से की गई है। ऐतरेयब्राह्मण ५.१६ तथा ५.२२ में बृहत् और रथंतर को देव-मिथुन कहा गया है। पांचवीं पंचिका के १७,१८ तथा १९ वें खण्ड में मैथुन सम्बन्धी सूक्तों का विधान करते हुये त्रिष्टुभ् और जगती को पशु मिथुन कहा गया हैं। ऐ०बा० ५.२३ में वाक् और मन को देवों के मिथुन कहा है। देवों के इस मिथुन से मिथुन पैदा होता है। ऐ०ब्रा०६.२ में सुब्रह्मण्या और बैल के मिथुन की कल्पना प्रस्तुत की गई है। इन मिथुन–कल्पनाओं में सृष्टि प्रक्रिया का जो भाव ऐतरेयकार को अभिप्रेत है, वह स्पष्ट नहीं होता।

(५) दिक्, (६) वृष्टि तथा (७) चक्षु

प्राची दिशा कान्ति और ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति का साधन होने से तेज और ब्रह्मवर्चस् कही गई है।

वृष्टि के दुर और याज्या पर्याय मिलते हैं। इनमें कार्य-कारण तथा सादृश्य सम्बन्ध होने से ये पर्याय बने हैं। दृष्टि जीवन का द्वार (दुरः) होने से दुर कही गई है। इसी प्रकार याज्या के द्वारा प्रक्षिप्त हवि वृष्टि के समान दृष्टिगोचर होती है, अतः याज्या और वृष्टि को पर्यायवाची समझा प्रतीत होता हैं।

चक्षु को विचक्षण, सत्य और ऋत कहा गया है। परम्परा तथा कार्यकारण सम्बन्ध से ये पर्याय बनाये प्रतीत होते हैं। अक्षिअंजन यो 'तेज' पर्याय कार्यकारण के सम्बन्ध से दिया गया है।

(८) पाश, (९) धन तथा (१०) गृह

पाश को परम्परा सम्बन्ध से निधा कहा गया है। आधाराधेय भाव से धन को राष्ट्र, तथा कार्यकारण, समान गुण और परम्परा सम्बन्ध से गृह को दुर्य, प्रतिष्ठा, ऋतु और ओक पर्याय दिये गये है। द्वारयुक्त होने से गृहों को दुर्या, स्थिति के हेतु होने से प्रतिष्ठा, पोषक गुण के कारण ऋतु तथा निरंतर वस्तुओं के संग्रहस्थल होने के कारण ओक कहा जाता है।

(११) पूर्वकर्म, (१२) रेतस्, (१३) यज्ञ तथा (१४) सुकीर्त्ति

परम्परा भाव से पूर्वकर्म को प्रत्न पर्याय दिया गया है। रेतस् के प्र, पात्नीवत, नाभानेदिष्ठ पर्याय मिलते हैं। साथ ही रेत.सिक्त को वैश्वानर और मरुत्

१–श०ब्रा०९.४.१.८।

कहा गया है। परम्परा सादृश्य तथा कार्यकारण सम्बन्ध से इन पर्यायों का निर्माण हुआ प्रतीत होता है। ऐतरेयकार ने बतलाया है कि पात्नीवत-ग्रह का मंत्र धीरे से पढ़ा जाता है तथा रेतस् का सेचन भी ध्वनिरहित होता है, अतः पात्नीवत और रेतस् पर्यायवाची हैं।[1] नाभानेदिष्ठ सूक्त को अनिरुक्त पढ़ने का विधान देते हुये ब्राह्मणकार कहते हैं कि वीर्य का नाम नहीं लेते, अतः नाभानेदिष्ठ को पढ़ना मानो वीर्य को सिंचन करना है।[2] यहां सादृश्य भाव से दोनों को पर्यायवाची कहा गया है।

साध्य-साधन सम्बन्ध से यश को श्री और हिरण्य पर्याय दिया गया है। विशेषण-विशेष्य भाव द्वारा सुकीर्ति को देवयोनि माना गया है। ऐ०ब्रा०६.२९ में ब्राह्मणाच्छंसी द्वारा 'सुकीर्ति सूक्त'[3] के पाठ का विधान बतलाते हुये कहा गया है कि यज्ञरूपी देवयोनि से वह यजमान को उत्पन्न करता है। सुकीर्तिसूक्त के पाठ से यजमान के संस्कार की ओर निर्देश भी यहां प्रतीत होता है।

(१५) प्रतिष्ठा, (१६) रश्मि तथा (१७) वय

प्रतिष्ठा के स्वाहाकृति, स्विष्टकृत् एवयामरुत तथा पृथिवी पर्याय मिलते हैं। साध्य-साधन तथा आधाराधेय सम्बन्ध से ये पर्याय बने प्रतीत होते हैं।

रश्मि को साध्य-साधन भाव से दिवाकीर्त्य कहा गया है। ब्राह्मण में उल्लेख हुआ है कि दिवाकीर्त्य साम के द्वारा आदित्य को बांधा जाता है, अतः उसे रश्मि का पर्यायवाची कहा गया है।[4]

परम्परा सम्बन्ध से वय (पक्षी) को निऋति-मुख कहा गया है।

(१८) वाजि तथा (१९) गर्दभ

स्फूर्तिगुण की समानता के भाव से वाजि को इन्द्रिय-वीर्य (इन्द्रियों की शक्ति) कहा गया प्रतीत होता है।

गर्दभ का 'द्विरेतावाजी' पर्याय मिलता है। यह पर्याय परम्परा सम्बन्ध के आधार पर बनाया गया है। गर्दभ का यह विशेष गुण आधुनिक-विज्ञान द्वारा भी प्रमाणित हो चुका है।[5] गर्दभ के द्वारा गर्दभी तथा घोड़ी से संतति उत्पन्न करने की विशेष बात लोक में प्रचलित है।

ऐतरेयब्राह्मण के पर्याय और वेदार्थ

सम्यक्-परीक्षण के पश्चात ऐतरेयब्राह्मण के पर्यायों की निम्नलिखित प्रवृत्तियां समझ में आती हैं-

---

१-ऐ०ब्रा०६.३। २- वही ६.२७। ३-ऐतरेयकार द्वारा 'सुकीर्तिसूक्त' ऋग्वेद के दसवें मंडल का १३१ वां सूक्त है। ४-ऐ०ब्रा० ४.१९।

५-द्रष्टव्य 'म्यूल का विवरण'-एम०सी० ग्रोहिल एनसाइक्लोपीडिया ऑव साइन्स एन्ड टेक्नोलाजी वोल्यूम ८, पृष्ठ सं०६२५ (संस्करण १९६०)

(१) ऐतरेयब्राह्मण के पर्याय प्रायः लाक्षणिक अथवा प्रतीकात्मक प्रयोग हैं। लक्षणा के उपादान और लक्षणलक्षणा, दोनों भेदों के अध्ययन के लिये पर्याप्त सामग्री इनमें विद्यमान है। जिन आधारों पर इनका निर्माण किया गया है, उनमें से अधिकांश 'उपचार'[1] के अन्तर्गत आते हैं। ब्राह्मणकार ने यज्ञक्रिया का प्रतिपादन करते हुये प्रत्येक मुख्य क्रिया के मूल में विद्यमान आध्यात्मिक या आधिदैविक तत्त्व का उल्लेख प्रतीकात्मक प्रयोगों द्वारा किया है। जैसे हविर्धानों को द्यावा-पृथिवी का, वाक् को सरस्वती का, स्तोत्रिय को आत्मा का, प्राणों को समिधा का तथा अग्नि को पुरोहित का पर्यायवाची कहा है।

(२) प्रकरणानुसार एक ही शब्द के विभिन्न पर्यायों का समीकरण होने पर वे सब परस्पर समानार्थी बन जाते हैं। इस प्रवृत्ति को देखते हुये अनुमान लगाया जा सकता है कि इनके मूल में कोई एक तत्त्व अवश्य रहा होगा, जिसके कारण ब्राह्मणकार ने भी इनमें अभेद-दृष्टि का आभास पाया है। हो सकता है कि यज्ञ को मूल तत्त्व मानकर इसके आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक स्वरूप को समझाने के लिये ही इस प्रकार का प्रयास किया गया हो। उदाहरण के लिये निम्न शब्दों के पर्यायों को समीकृत रूप में देखा जा सकता है-

वाक् को ब्रह्म, यज्ञ, होता, प्राणापान आदि; ब्रह्म को यज्ञ, गायत्री, चन्द्रमा आदि; यज्ञ को प्रजापति, पांक्त आदि; पुरुष को पांक्त; आत्मा को होता; प्रजापति को संवत्सर; अग्नि को सर्वादेवता; आप को सर्वादेवता तथा अन्न को आप आदि कहा गया है। इनमें सब एक दूसरे के पर्यायवाची दिखाई देते हैं।

(३) यह भी दृष्टि में आया है कि उपसर्ग और सर्वनाम शब्द भी कतिपय शब्दों के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुये हैं। 'प्र' उपसर्ग प्राण, रेतस् और अन्तरिक्ष का पर्यायवाची माना गया है। 'असौ' और 'एष' सर्वनाम सूर्य का तथा 'क' प्रजापति का वाचक बताया गया है। ऐसा आभास होता है कि इस प्रकार के प्रयोगों की पद्धति ऐतरेयकार के समय प्रचलित थी, इसीलिये बिना किसी पुष्टिकरण के उन्होंने सरलता पूर्वक इन्हें अपना लिया है।

निष्कर्ष

इस अध्याय के अन्तर्गत प्राप्त सामग्री के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि ऐतरेयकारब्राह्मण में ये पर्याय यज्ञ की विभिन्न क्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिये ही प्रयुक्त हुये हैं। यदि इनका उपयोग वेदार्थ में किया जाय तो वेद के यज्ञमूलक अर्थ करने में इनसे पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

१-काव्य प्रकाश पृष्ठ५९, आचार्य विश्वेश्वर, १९६०।

ऐतरेयब्राह्मण में निर्वचन

निर्वचन की परम्परा

ऐतरेय[1] तथा ताण्ड्यमहाब्राह्मण[2] में उल्लेख आया है कि शब्दों का निर्माण एक एक अक्षर को मिलाकर किया गया है- 'एकाक्षरा वै वाक्।' इस कथन के अनुसार यद्यपि शब्द की इकाई अक्षर (स्वर या स्वरव्यंजन समूह) है तथापि जो भाषा आज उपलब्ध होती है, उसके समझने का प्रकार एक परम्परा के रूप में हमारे सामने आता है। इस परम्परा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कुछेक पदों को छोड़कर शेष सब पद बहु-अक्षर हैं और उनके अर्थ भी एक सम्बद्ध-समग्र-तत्त्व के रूप में किये जाते हैं।

पदों के अर्थों को जानने के लिये कुछ धातुओं की कल्पना करके उनके द्वारा निर्दिष्ट शब्दों की व्युत्पत्ति या निर्वचन करने की प्रणाली प्राचीनतम काल से ही चली आरही है। जैसा डा० सुधीर कुमार गुप्त ने अपने शोधग्रन्थ 'वेदभाष्य पद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन'[3] में दिखाया है कि निर्वचन ऋग्वेद और अन्य संहिताओं में भी उपलब्ध होते हैं। इन निर्वचनों की परम्परा शाखासंहिताओं द्वारा ब्राह्मणों में पर्याप्त रूप से विकसित हुई है। कालान्तर में यास्क के युग तक इनका सुप्रचलन हो गया था।

डा० फतहसिंह ने ब्राह्मण ग्रन्थों से बहुत से निर्वचनों को संग्रहीत कर उनकी वैज्ञानिकता की समीक्षा करते हुये यह निष्कर्ष निकाला है कि वे निर्वचन वैज्ञानिक कसोटी पर खरे उतरते हैं।[4] अतः इस अध्याय में ऐतरेयब्राह्मणकार के द्वारा प्रदत्त निर्वचनों का अध्ययन करते हुये यह देखने का प्रयास किया जायगा कि ऐतरेयकार ने जो निर्वचन प्रस्तुत किये हैं, उनमें निर्वचनों के क्या सिद्धान्त रहे हैं।

ऐतरेयब्राह्मण में निरुक्ति-प्रदर्शक शैली

ऐतरेयब्राह्मणकार ने पदों के निर्वचनों को तीन प्रकार से प्रस्तुत किया है-

(१) निरुक्ति के अन्त में निरुक्त-पद का भाववाची शब्द देते हुये :

(२) 'ऐसा कहा जाता है' (इत्याचक्षते) इस वाक्य का उल्लेख करते हुये।

(३) कारण का सामान्य कथन करते हुये।

१-ऐ०ब्रा० ५.३। २-तां०ब्रा०४.३.३। ३-पी-एच०डी० के लिये शोध-प्रबन्ध (राजस्थान विश्व विद्यालय) द्रष्टव्य अध्याय ४। ४-वै०ए० द्रष्टव्य भूमिका का भाग।

(१) पहले प्रकार के अन्तर्गत निरुक्ति के लिये स्वीकृत शब्द का भाववाची शब्द देते हुये ऐतरेयकार अपने कथन की समाप्ति करते हैं। जैसे आग्नीध्र, आज्य और आरम्भणीय पद की निरुक्ति के प्रसंग में कहा गया है–वह आग्नीध्र का आग्नीध्रत्व है–'तदाग्नीध्रस्याग्नीध्रत्वम् ।'[1] वह आज्यों का आज्यत्व है–'तदाज्यानामाज्यत्वम्' ।[2] वह आरम्भणीय का आरम्भणीयत्व है–'तदारम्भणीयस्याऽऽरम्भणीयत्वम्'[3] आदि।

निरुक्ति-विषयक इस प्रकार की शैली जिन पदों के निर्वचन में प्रयुक्त हुई है, वे इस प्रकार हैं–

अपिशर्वराणि,[4] अश्व,[5] अष्ट,[6] आग्नीध्र,[7] आज्य,[8] आतिथ्य,[9] आरम्भणीय,[10] आहुति,[11] इष्टि,[12] ग्रह,[13] जातवेद,[14] धाय्या,[15] नानद,[16] निविद,[17] पर्याय,[18] प्रायणीय,[19] पुरोडाश,[20] पुरोरुक्,[21] प्रैष,[22] यूप,[23] विराट्,[24] वेदी,[25] वैरूप,[26] शक्वरी,[27] षोडशी,[28] संपात,[29] स्वरसाम,[30] साकमश्व[31] तथा साम[32]।

ये सब कुल मिलाकर २९ हैं। आठवीं पंचिका को छोड़कर प्रायः सभी पंचिकाओं में इस शैली पर निरुक्त पद प्राप्त हो जाते हैं।

(२) दूसरी प्रकार की शैली में प्रस्तुत पद की निरुक्ति अथवा नामकरण का कारण बतलाते हुये 'इसलिये ऐसा कहा जाता है–' इस वाक्य से उसे समाप्त करते हैं। जैसे अग्निष्टोम, आश्विन, न्यग्रोध आदि पदों के निर्वचन–प्रसंग में कहा गया है। अतः अग्नि की स्तुति होने के कारण अग्निस्तोम को ही अग्निष्टोम कहते हैं-'तस्मादग्निस्तोमम-ग्निस्तोमं सन्तमग्निष्टोम इत्याचक्षते'। इसलिये इसे आश्विन कहते हैं–'तस्मादेतदाश्विन मित्याचक्षते।' अतः नीचे की ओर बढ़ते रहने के कारण इसे न्यग्रोध कहते हैं–तन्यग्रोहं सन्तं न्यग्रोधइत्याचक्षते, इत्यादि।

इस प्रकार की शैली के अन्तर्गत आठ शब्दों का निर्वचन प्रस्तुत हुआ है। वे इस प्रकार हैं–

अग्निष्टोम,[33] आश्विन,[34] चतुष्टोम,[35] ज्योतिष्टोम,[36] न्यग्रोध,[37] परिसारक,[38] मानुष,[39] तथा होता।[40]

१–ऐ०ब्रा०२.३६। २–वही २.३६। ३–वही ४.१२। ४–वही ४.५। ५–वही ५.१। ६–वही १.१२। ७–वही २.-३६। ८–वही २.३६। ९–वही १.१५। १०–वही ४.१२। ११–वही १.२। १२–वही १,२। १३–वही ३.९। १४–वही ३.३६। १५–वही ३.१८। १६–वही ४.२। १७–वही ३.९। १८–वही ४.५। १९–वही १.७। २०–वही–२.२३। २१–वही ३.९। २२–वही ३.९। २३–वही २.१। २४–वही १.५। २५–वही ३.९। २६–वही ५.१। २७–वही ५.७। २८–वही ४.१। २९–वही–४.३०। ३०–वही ४.१९। ३१–वही ३.४९। ३२–वही ३.२३। ३३–वही ३.४३। ३४–वही ४.८। ३५–वही ३.४३। ३६–वही ३.४३। ३७–वही ७.३०। ३८–वही २.१९। ३९–वही ३.३३। ४०–वही १.२।

(३) तीसरी शैली द्वारा कारण के सामान्य कथन मात्र से पद की निरुक्ति का आभास कराया गया है। उदाहरण के लिये अहीन, तनूनपात्, महानाम्नी आदि लिये जा सकते हैं। अहीन की निरुक्ति के प्रसंग में कहा गया है कि इनमें कुछ भी नहीं छूटता-'न ह् येषु किंचन हीयते।' वह तानूनपात् हो गया-'तत्तानूनप्त्रमभवत्।' अतः ये महानाम्नी हैं-'तस्मान्महानाम्न्यः' आदि।

उक्त प्रकार की शैली के अन्तर्गत कुल मिलाकर छै शब्द हैं-

अभितृण्णवती,[1] अहीन,[2] ऊति,[3] तनूनपात्[4] धाय्या[5] तथा महानाम्नी।[6]

इन विभिन्न शैलियों में एक स्थल पर यह भी देखने में आया है कि एक पद धाय्या की निरुक्ति दो शैलियों में हुई है। प्रथम तथा तृतीय शैली इस शब्द की निरुक्ति के लिये अपनाई गई है। वैसे तनूनपात् शब्द के भी दो निर्वचन प्रस्तुत हुये हैं। विभिन्न स्थलों पर पाये जाने पर भी उनमें तीसरी सामान्य शैली के ही दर्शन होते हैं।

शैली से संबंध रखने वाली एक यह भी बात दृष्टि में आई है कि ब्राह्मणकार ने शब्दों के निर्वचन का संकेत देने से पूर्व कहीं कहीं प्रश्नों की अवतारणा की है। यह बात षोडशी और होता शब्द की निरुक्ति के प्रसंग में देखी जाती है। कहा है कि षोडशी नाम क्यों पड़ा-'तदाहुः किं षोडशिनः ?' इसी प्रकार होता का निर्वचन करते हुये कहा है कि उसे होता क्यों कहते हैं-'कस्मात्तं होतेत्याचक्षते?'

ऐतरेयब्राह्मण के निर्वचनों का अध्ययन-

ऐतरेयब्राह्मण में कुल मिलाकर ४२ शब्दों का निर्वचन प्रस्तुत हुआ है। इनके अतिरिक्त दो एक शब्द ऐसे भी हैं, जो प्रधान निरुक्त पद के पर्याय के रूप में उसी के साथ ब्राह्मणकार द्वारा रख दिये गये हैं। जैसे आरम्भणीयम् के साथ चतुर्विंशम्, तथा महानाम्नी के साथ सिमा पद का उल्लेख हुआ है। ऐसे शब्दों के निर्वचनादि का उल्लेख सम्बन्धित पदों के साथ कर दिया गया है।

नीचे उक्त ४२ पदों का अकारादिक्रम से अध्ययन किया गया है। अध्ययन-क्रम में सर्व प्रथम निरुक्त पद का ऐतरेयकार द्वारा समझा हुआ अर्थ दिया गया है। अर्थ-प्रतिपादन करने वाले प्रमाणों का उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है। तत्पश्चात् निरुक्ति प्रदर्शन के लिये ग्रहण किये शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में ब्राह्मणकार के कथन को उन्हीं की भाषा में समझा दिया है।

आख्यानात्मक निर्वचनों में आख्यान देकर निरुक्ति-विषयक क्रियापद में विद्यमान उपसर्ग, धातु आदि का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। साथ ही साथ तुलनात्मक अध्ययन के लिये शब्दों की निरुक्ति के सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों के संकेत भी दे दिये गये हैं।

१-ऐ०ब्रा०-६.११। २-वही ६.१८। ३-वही १.२। ४-वही १.२४। तथा २.४। ५-वही ३.१८। ६-वही ५.७।

निरुक्त पदों का विषयनिष्ठ वर्गीकरण-

अकारादिक्रम से जिन शब्दों के निर्वचनों का अध्ययन यहां किया गया है, उनका विषयनिष्ठ वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है-

(क) यज्ञ नाम-अग्निष्टोमः (१),[1] चतुष्टोमः (१६), ज्योतिष्टोमः (१७), प्रायणीयः (२६), तथा षोडशी (३७)।

(ख) स्तोम, साम, शस्त्रादि-अपिशर्वराणि (२), अभितृण्णवती (३), अष्टाः (५), आज्यं (८), आश्विनं (११), धाय्या (२२), नानदं (२२), निविद् (२३),पुरोरुक् (२८), प्रैषः (२९), महानाम्नी (३०), विराट् (३३), वैरूपं (३५), शक्वरी (३६), संपातः (३८), साकमश्वं (४०), तथा सामन् (४१)।

(ग) यज्ञ के दिन-विशेष-अहीनं (६), आरम्भणीयं-(१०) तथा स्वरसामन् (३९)।

(घ) यज्ञीय धर्म व उपकरण-आग्नीध्रः (७), आतिथ्यं-(९), आहुतिः (१२), इष्टिः (१३), ऊतिः (१४), ग्रहः (१५), जातवेदस् (१८), तनूनपात् (१९), पर्यायः-(२४), पुरोडाशः (२७), यूपः (३२), वेदिः (३४ और होता (४२)।

(ङ) प्राकृतिक पदार्थ-न्यग्रोधः (२१) तथा परिसारकम् (२५)।

(च) प्रकीर्ण-अश्वः (४) तथा मानुषम् (३१)।

निर्वचनों का अकारादिक्रम से अध्ययन

१- अग्निष्टोमः-यज्ञ का नाम जिसमें अग्नि की स्तुति की जाती है। अग्नि के साथ स्तुति अर्थ वाली √स्तोम् धातु से इसकी व्युत्पत्ति का संकेत मिलता है। ऐतरेयकार ने इसके निर्वचन को एक आख्यायिका देकर इस प्रकार समझाया है-'अग्निष्टोम अग्नि ही है। देवों ने [2] अग्नि की स्तोम से स्तुति की, इसीलिये अग्निष्टोम नाम पड़ा'-'स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमस्तं यदस्तुवंस्तस्मादग्निस्तोमस्तमग्निस्तोमं सन्तमग्निष्टोम इत्याचक्षते'।[3]

इस निरुक्ति में निम्न दो बातें विचारणीय हैं-

(१) पहली बात यह है कि √स्तोम् धातु अपने ही गुणों के आविष्करण (श्लाघा) में प्रयुक्त हुई है। यहां देवों ने अग्नि की स्तुति की है (जो श्लाघा के अन्तर्गत नहीं आती)। ऐतरेयब्राह्मणकार ने एक स्थल पर निर्देश किया है कि अग्नि ही सब

१-यहां कोष्ठकों में नीचे के अकारादि अध्ययन में प्राप्त निर्वचन-संख्या दी गई है।

२-जिन देवों ने अग्नि की स्तुति की, उनका संकेत आगे पर चतुष्टोम के प्रसंग में कर दिया गया है।

३-ऐ०ब्रा०३.३३।

देवता है–'अग्निर्वै सर्वा देवताः' ।[1] यद्यपि इस यज्ञ में सभी देवताओं को भाग मिलता है, किन्तु अग्नि का ही स्वरूप होने से उन सबका अन्तर्भाव अग्नि में हो जाता है। अतः देवों का अग्निस्तवन अग्नि का आत्मस्तवन होने से √स्तोम् धातु का प्रयोग सार्थक हो जाता है ।[2]

(२) दूसरी बात है–अग्निस्तोम का अग्निष्टोम के रूप में परिवर्तन । ऐतरेय-कार ने इसका समाधान करते हुये बतलाया है कि अग्निस्तोम का परोक्ष रूप अग्निष्टोम हो गया है । वर्ण-परिवर्तन के कारण 'स्त' का 'ष्ट' हुआ है ।

२-अपिशर्वराणि–छन्दों का समूह विशेष, जिसमें बारह स्तोत्र होते हैं ।[3] अपिशर्वराणि के निर्वचन के लिये दी हुई आख्यायिका निम्न प्रकार है–

'दिन का आश्रय देवों ने लिया और रात्रि का असुरों ने । बराबर शक्ति के होने से वे एक दूसरे से प्रभावित नहीं होते थे । इन्द्र ने देवों से कहा कि रात्रि में मेरे साथ कौन रहेगा, जिससे असुरों को निकाल दें । देवों में से किसी ने उसकी बात को स्वीकार नहीं किया । केवल रात्रि के देवता छन्द उसके साथ चल दिये । वे भयभीत इन्द्र को अन्धकार के पार ले आये । मृत्युरूपी अन्धकार से निकाल लाने के कारण ही इनका नाम अपिशर्वराणि हुआ'–

'अपि शर्वर्या अनुस्मसीत्यब्रुवन्नपिशर्वराणि खलु वा एतानि छन्दांसीति हस्माऽऽहैतानि हीन्द्रं रात्रेस्तमसो-मृत्योर्बिभ्यतमत्यपारयंस्तदपि शर्वराणामपि शर्वरत्वम्' ।[4]

शब्द-शास्त्र के आधार पर देखने से ज्ञात होता है कि यह शब्द अपि शर्वराणि से बनता है । शर्वरम् शब्द अन्धकार के लिते आता है । कोष में अपि शब्द का एक अर्थ 'आहरण' भी दिया गया है ।[5] यह सम्भव प्रतीत होता है कि अपि शब्द उस काल में 'पारलेजाने' अर्थ में प्रयुक्त होता रहा हो । इसके अनुसार निर्वचन करते हुये–जो (शर्वरं) अन्धकार के (अपि) पार पहुंचाते हैं, उनका नाम अपिशर्वराणि रखा गया है । अथवा अपि 'अति' का परोक्ष रूप भी हो सकता है ।

३-अभितृण्णवती–ऋचाओं के समूह विशेष का नाम । अभि पूर्वक √तृण् (अदने) धातु में वतुप् प्रत्यय लगाकर इसका निर्माण किया प्रतीत होता है । डा० फतहसिंह ने इस शब्द के निर्वचन के विषय में ऐसा ही उल्लेख किया है ।[6]

ब्राह्मणकार ने इस शब्द की निरुक्ति के लिये एक आख्यायिका प्रस्तुत की है–

'इन्द्र प्रातः सवन में विजय प्राप्त न कर सका । परन्तु उसने इन मंत्रों द्वारा मध्यसवन में (अभितृणत्) भेदन किया, इसलिये इनको अभितृण्णवती कहा जाता है'–

१–ऐ०ब्रा०१.१,२.३ । २–तु०क०वै०ए०पृष्ठ १४, अग्निष्टोम पद । ३–ऐ०ब्रा० ४.६ । ४–ऐ०ब्रा० ४.५–इसी प्रकार का उल्लेख गो०ब्रा०२.५.१ में भी हुआ है–वै०ए०पृ० ५२ भी देखें । ५–पद्मचन्द्र कोष पृष्ठ०३३ । ६–वै०ए०पृ० ५४ ।

'इन्द्रो वै प्रातः सवने न व्यजयत । स एताभिरेव माध्यन्दिनं सवनमभ्यतृण-यदभ्यतृणत्तस्मादेता अभितृण्णवत्यौ भवन्ति' ।[1]

अभितृण्णवती ऋचायें सात होती हैं। इनकी विशेषता यह है कि इन सबमें 'अभितृण' का भाव या रूप विद्यमान है।[2] ये ऋचायें क्रमशः ऋ० ६-१७.१-३, ऋ० १-१०४.९, ऋ० ३-३५.६, ऋ० ३-३६.२ तथा ऋ० ३-३२.१५ हैं।

ऐतरेयकार को उक्त विशेषता के कारण ही ये ऋचायें अभितृण्णवती अभिप्रेत प्रतीत होती हैं। उपर्युक्त आख्यान इस विशेषता के आधार या कारण को बताता मालूम पड़ता है।

४-अश्व-घोड़े का नाम।

ऐतरेयकार ने अश्व शब्द के लिये एक आख्यान प्रस्तुत किया है-'असुरों ने देवों को फिर सताया। देवों ने घोड़ा बनकर असुरों को अपनी टापों से मार दिया। इसीलिये घोड़ों का नाम अश्व हुआ'

'तान्हस्मान्वेवाऽऽगछन्ति समेव सृज्यन्ते तानश्वा भूत्वा पद्भिरपाध्नत । यदश्वा भूत्वा पद्भिरपाध्नत तदश्वानामश्वत्वम्' ।[3]

यहां अश्व की निरुक्ति स्पष्ट नहीं हो पाती। यह सम्भव है कि अश्व का निर्माण तो √अश् धातु से ही हुआ हो, किन्तु उसका अर्थ 'पैरों से मारना' (पद्भिरपा-ध्नत रहा हो।

निरुक्त में यास्काचार्य ने 'अश्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीतिवा' कहकर अश्व का निर्वचन किया है। प्रथम[4] निर्वचन √अशङ् व्याप्ती से क्वन् प्रत्यय करके तथा दूसरा √अशु भोजने से क्वन् प्रत्यय करके किया है। उणादि कोष[5] में प्रथम धातु द्वारा ही निरुक्ति बताई गई है।

एया०ने भायो० एक्वो (ekvo) और लेटिन एकुउस् (equus) के आधार पर 'अश्व' को अनिरुक्त माना है।[6]

५-अष्टाः-क्रय के पश्चात् प्राचीन वंश की ओर ले जाते हुये सोम के लिये पठित अष्ट-संख्यक ऋचाओं का समूह।

ऐतरेयब्राह्मणकार ने अष्ट शब्द की निरुक्ति का संकेत √अश् प्रापणे से किया है। इसकी पुष्टि उन्होंने निम्न आख्यान द्वारा की है-

'देवता जब सोम राजा को क्रय करके मनुष्यों के पास आये तो उसकी शक्तियां तथा इन्द्रियां सब दिशाओं में फैल गई। उन्होंने एक ऋचा द्वारा उनको एकत्र करने का प्रयत्न किया, परन्तु वे न कर पाये। इसके पश्चात् क्रमशः दो, तीन, चार, पांच, छै और सात ऋचाओं से भी वे उनको इकट्ठा न कर सके। अन्त में आठ ऋचाओं से उनको सफलता प्राप्त हुई'।

१-ऐ०ब्रा० ६.११। २-वही ६.११। ३-वही ५.१।
४-नि०२.७। ५-उ०को० १.१५१। ६-ए०या०पृ० ८६।

'तान्यष्टाभिरवारुन्धताष्टाभिराश्नुवत यदष्टाभिरवारुन्धताष्टाभिराश्नुवततद-ष्टानामष्टत्वम्' ।[1]

अष्ट को अष्ट इसलिये कहते हैं कि इससे अश्नुते अर्थात् प्राप्ति होती है। यास्क का भी यही मत है।[2] डा० फतहसिंह ने कौषीतकि ब्राह्मण आदि के अधार पर इसका निर्वचन √अश् भोजने से किया है।[3] ए०या० ने भायो० ओक्टो (-टु) और यूनानी ओक्टो को उद्घृत कर इसके निर्वचन को अनावश्यक माना है।[4]

६-अहीनम्-यह यज्ञकर्म के लिये ग्रहणीय दिन विशेष का नाम है। इन्हें परांची कहते हैं अर्थात् ये अकेले ही आते हैं। ये पांच दिन होते हैं, जिनमें क्रमशः चतुर्विंश, अभिजित्, विषुवत्, विश्वजित् और महाव्रत सूक्त पढ़े आते हैं।[5]

अहीन के निर्वचन के लिये ऐतरेयकार इतना ही कहते हैं कि इनमें कुछ छूटता नहीं है, अतः ये अहीन कहलाते हैं-'अहीनाहि ह वा एतान्यहानि न ह्येषु किंचन हीयते'।[6]

उपर्युक्त कथन से अहीन शब्द की नञ् समास पूर्वक √हा त्यागे से निरुक्ति हुई है।

७-आग्नीध्र-वह शाला (स्थान) जहां यज्ञ की अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है।

आग्नीध्र शब्द की निरुक्ति के विषय में ब्राह्मणकार द्वारा जो संकेत प्रस्तुत हुआ है, उसके अनुसार अग्नि के साथ √धृ धारणे से इसका निर्माण हुआ प्रतीत होता है। इसके निर्वचन की पुष्टि में ब्राह्मणकार ने निम्नांकित आख्यान प्रस्तुत किया है-

'इन लोकों में देव और असुर झगड़ते थे। देवों ने (उत्तरवेदी के दक्षिण में) ऋत्विजों के बैठने के स्थान (सदस्) को ग्रहण किया। असुरों ने देवों को वहां से उठा दिया। तब देवता आग्नीध्र (उत्तरवेदी के बाई ओर) पर चले गये। वहां वे पराजित न हो सके। अतः वे आग्नीध्र में बैठते हैं, सदस् में नहीं।'

आग्नीध्र में वे धारण किये जाते हैं, इसीलिये उसे आग्नीध्र कहते हैं-'आग्नीध्रे ह्यधारयंत यदाग्नीध्रेऽधारयंत तदाग्नीध्रस्याऽऽग्नीध्रत्वम्'।[7]

इस पद में आ अग्नि √धृ का योग प्रतीत होता है। अग्नि के 'इ' को 'ई' उच्चारण-शैथिल्य के कारण हुआ हो सकता है। डा० फतहसिंह के मत में आग्नीध्र 'अग्नि के प्रज्वलित करने के स्थान' को कहते हैं।[8] अग्नि में सब देवों का समावेश होने के कारण वे आग्नीध्र रूप अपने घर में ही बैठते हैं। संभव है कि इसी कारण 'आग्नीध्र' में 'अग्नि' का प्रयोग समस्त देवों का वाचक हो-'अग्निर्वै सर्वा देवताः'।

८-आज्यानि-यह कुछ स्तुति गीतों का नाम है। आग्नीध्रशाला से अग्नि को सदस् शाला की ओर ले जाते हुये इनका पाठ किया जाता है।

१-ऐ०ब्रा०१.१२। २-नि०३.१०। ३-वै०ए० पृ० ७२। ४-ए०या०-पृ०८६। ५-ऐ०ब्रा० ६.१८। ६-वही ६.१८। ७-ऐ०ब्रा०२.३६। ८-वे० ए० पृ० ७७ भी देखें।

देवता इनके द्वारा जीत गये और अपने स्थान पर आ गये, इसलिये इनको आज्य कहते हैं–

'ते वै प्रातराज्यैरेवाऽऽजयन्त आयन्यदाज्यैरेवाऽऽजयन्त आयंस्तदाज्यानामाज्यत्वम् ।[1]

इस कथन से जो निर्वचन का संकेत मिलता है, उसके अनुसार आ उपसर्ग पूर्वक√जि जये तथा√इण् गतौ से मिलकर आज्यं बनता है । 'अजयन्त' क्रिया के साथ 'आयन्' क्रिया का प्रयोग भी है । अतः इस शब्द के निर्माण में दो धातुओं का योग दिखाई देता है ।

इस शब्द के निर्वचन की पुष्टि ब्राह्मणकार ने आग्नीध्र शब्द की पुष्टि के लिये दिये हुये आख्यान के उत्तरार्ध से की है । इसका उल्लेख इस प्रकार है ।

'असुरों ने देवों के सदस् की अग्नि को बुझा दिया । देवों ने आग्नीध्र से सदस् की अग्नि को जला दिया । इस प्रकार उन्होंने असुरों और राक्षसों को हरा दिया । उन्होंने यह विजय प्रातःकाल के आज्यों द्वारा पाई और वे अपने जीते हुये स्थल पर आ गये ।'

कौषीतकि ब्राह्मण के आधार पर डा० फतहसिंह ने इस शब्द का निर्वचन√जि जये से समझाया है ।[2] इस ब्राह्मण में इसका संकेत केवल 'अजयन्त' क्रिया द्वारा प्राप्त होता है–

'आज्येन वै देवाः सर्वान् कामानजयन्त सर्वममृतत्वम्' ।[3]

यहां अन्त में 'आयन्' या 'प्राप्नुवन्' क्रिया अभिनिहित प्रतीत होती है-'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' ।[4] यदि ऐसा हो तो यह वचन भी ऐतरेय के मत का पोषक होगा ।

९–आतिथ्यम्–हवि विशेष का नाम है जो सोम के आगमन पर बनाई जाती है ।[5]

ऐतरेयब्राह्मण में उल्लेख हुआ है कि सोम राजा यजमान के घरों में आता है । उसके सत्कार के लिये जो हवि बनाई जाती है, उसे 'आतिथ्यम्' कहते हैं । यही आतिथ्य का आतिथ्यत्व है–

'सोमो वै राजा यजमानस्य गृहानागच्छति । तस्माएतद्धविरातिथ्यं निरूप्यते तदातिथ्यस्यऽऽतिथ्यत्वम् ।[6]

उक्त कथन के अनुसार आतिथ्य शब्द को डा० फतहसिंह ने√अत् गमने से निष्पन्न हुआ माना है ।[7] यहां आ√अत् से आतिथि बनाकर 'तस्मै हितम्' अर्थ में आतिथ्य बनाया गया है ।

१–ऐ०ब्रा० २.३६ । २–वै०ए०पृ० ७९ । ३–कौ०ब्रा० १४.१ ।
४–यजुर्वेद संहिता ४०.१४ । ५–ऐ०ब्रा० १.१५ । ६–ऐ०ब्रा० १.१५ ।
७–वै०ए०पृ०७९ ।

१०–आरम्भणीयम्–सोमयज्ञ के प्रथम दिन का नाम, जिससे संवत्सर–सत्र का आरम्भ किया जाता है। ऐतरेयकार ने इसके नामकरण के विषय में इस प्रकार उल्लेख किया है–'इसी से संवत्सर का आरम्भ करते हैं। स्तोमों, छन्दों और सब देवताओं का भी आरम्भ इसी से होता है। यदि इस दिन आरम्भ न हो तो न छन्द का और न देवता का आरम्भ समझा जायेगा। इसीलिये इसको आरम्भणीय कहते हैं–

'एतेन वै संवत्सरमारभन्त, एतेन स्तोमांश्च च्छंदांसि चैतेन सर्वा देवता अनारब्धं वैतच्छन्दोऽनारब्धा सा देवता यदेतस्मिन्नहनि नाऽऽरभन्ते तदारम्भणीयस्याऽऽरम्भणीयत्वम्।[1]

इस कथन में आरम्भणीय की निरुक्ति का जो संकेत मिलता है, उसके अनुसार आ उपसर्ग पूर्वक √रम् राभस्ये से इसकी व्युत्पत्ति होती दिखाई देती है। कौषीतकि ब्राह्मण[2] में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।

ऐतरेयब्राह्मण में इसे चतुर्विंश भी कहा गया है। इसका कारण बतलाया है कि चौबीस स्तोमों अथवा चौबीस अर्धमासों से संवत्सर का आरम्भ होता है।[3]

११–आश्विनम्–एक शस्त्र (स्तुति–मंत्र–समूह) का नाम है। अतिरात्र ऋतु में प्रयुक्त इस आश्विनशस्त्र में एक सहस्त्र मंत्र होते हैं-'आश्विनं है व तद्यदर्वाक् सहस्त्रम्'।[4]

आश्विनं शब्द के निर्वचन को बतलाने से पूर्व इस शस्त्र के प्रथम मंत्र के विषय में ऐतरेयकार द्वारा जो प्रकाश डाला गया है–उसका विवरण प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा।

कुछ लोग "अग्निर्होता गृहपतिः स राजा"[5] से प्रारम्भ होने वाले मंत्र को प्रथम मानते हैं तथा कुछ लोग "अग्निं मन्ये पितरमग्नि"[6] से प्रारम्भ होने वाले मंत्र को इस शस्त्र का प्रथम मंत्र मानते हैं। इस पर ऐतरेयकार का कहना है कि आश्विन-शस्त्र के उपक्रम में "अग्निर्होता गृहपतिः" वाला मंत्र ही आदरणीय है। दूसरा मंत्र इसलिये ग्रहणीय नहीं है कि इसमें अग्नि शब्द बारबार आता है। यदि मंत्र में अग्नि शब्द बारबार आयेगा तो होता आग में गिर पड़ेगा।[7]

इस शब्द के निर्वचन का संकेत ब्राह्मणकार द्वारा दिये हुये आख्यान से प्राप्त होता है। आख्यान इस प्रकार है–

"प्रजापति ने अपनी लड़की सूर्या सावित्री को सोम राजा से ब्याह दिया। आगन्तुक देव-अतिथियों के लिये प्रजापति ने वहतु (अतिथि को विदाई के समय दी जाने वाली भेंट) के रूप में सहस्त्र मंत्रों का शस्त्र प्रस्तुत किया। देव इसका निर्णय

१–ऐ०ब्रा० ४.१२। २–कौ० ब्रा० १६.३। ३–ऐ०ब्रा० ४.१२।
४–ऐ०ब्रा० ४.७। ५–ऋ० ६.१५.१३। ६–वही १०-७.३।
७–ऐ०ब्रा० ४.७।

न कर सके कि हजार मंत्र किसके हों ? इसका निर्णय करने के लिये उन्होंने धावन-प्रतियोगिता का आयोजन किया। सूर्य को दौड़ की अन्तिम सीमा नियत किया गया। अग्नि, उषा और इन्द्र को, अश्विनों ने यह कहकर कि इस शस्त्र में तुम्हारे भी मंत्र होंगे, मना लिया। वे पीछे हट गये। अश्विद्वय विजयी हुये और उन्होंने इस शस्त्र को व्याप्त कर लिया। अत: इसका नाम "आश्विनम्" हो गया[1]–

"तदश्विना उदजयतामश्विनावाश्नुवातां यदश्विना उदजयतामश्विनावाश्नुवातां तस्मादेतदाश्विनमित्याचक्षते"।[2]

"अश्नुवातां" क्रियापद को देखने से ज्ञात होता है कि √अश् व्याप्तौ से "आश्विनं" की निरुक्ति हुई है। सामान्य रीति से अश्विन् में तस्येदम्-अण् प्रत्यय लगाकर इस शब्द की व्युत्पत्ति सिद्ध हो जाती है।

१२–आहुतिः–देवों का आह्वान

दीक्षणीय-इष्टि कीं प्रशंसा में उन इष्टियों में विद्यमान आहुतियों के वाचक शब्द कीं निरुक्ति का संकेत देते हुये ऐतरेयकार इस शब्द की शुद्धि के विषय में प्रकाश डालते हुये कहते हैं कि आहूति के स्थान पर आहुति शब्द ग्रहणीय है—

"आहूतयो वै नामैता यदाहुतय एताभिर्वै देवान्यजमानो ह्वयति तदाहुती-नामाहूतित्वम्।"[3]

उपर्युक्त कथन से प्रतीत होता है कि आहुति शब्द की निरुक्ति उस काल में √हु दानादनयोः से हुआ करती थी। ब्राह्मणकार ने इस पर आपत्ति की है। उनका कहना है कि यजमान इनके द्वारा देवताओं को बुलाता है। अतः इसकी व्युत्पत्ति √ह्वे आह्वाने से मानी जाए। √ह्वे धातु से निष्पन्न आहूति शब्द में दीर्घ ऊ का ग्रहण हुआ है। शतपथब्राह्मण में भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त हुआ है।[4] डा० फतहसिंह ने इस निरुक्ति को पूर्ण युक्तिसंगत, स्वाभाविक और मौलिक माना है।[5]

१३–इष्टि:–यजमान के द्वारा संपाद्य कर्म का नाप अथवा लघु याग।

दीक्षणीय–इष्टि का निरूपण करके ऐतरेयकार ने इसकी प्रशंसा के लिये इष्टि शब्द के निर्वचन का संकेत दिया है। इसकी पुष्टि में उन्होंने आख्यायिका प्रस्तुत की है–

"यज्ञ देवों के पास से चला गया। देवताओं ने उसको इष्टियों द्वारा बुला भेजने की इच्छा की। इष्टित्व यही है कि उन्होंने इनके द्वारा बुलावा भेजने की इच्छा की"—

१–ऐ०ब्रा० ४.७-८। २–वही ४.८। ३–वही १.२। ४–श०ब्रा० ११.२.२.६। ५–वैं०ए० पृ० ८६।

"यज्ञौ वै देवेभ्य उदक्रामत्तमिष्टिभिः प्रैषमैच्छन् यदिष्टिभिः प्रेषमैच्छंस्तदिष्टीनामिष्टित्वम् ।"[1]

उक्त कथनानुसार इष्टि शब्द की व्युत्पत्ति इच्छार्थक √इष् धातु से हुई प्रतीत होती है ।[2] प्रायः √यज् "देवपूजासंगतिकरणदानेषु" से इसकी व्युत्पत्ति की जाती है । उस काल में प्रचलित इस निरुक्ति का निराकरण करते हुये ब्राह्मणकार ने अपनी निरुक्ति दी हैं ।

१४–ऊतिः–इष्टि और आहुति मिलकर ऊति कहलाते हैं ।

ब्राह्मणकार ने उल्लेख किया है कि ये ऊतियां हैं । इनके द्वारा देवता यजमान के सोम यज्ञ में आते हैं । जो इष्टि रूप स्वर्ग के मार्ग हैं तथा (स्रुतयः) उन मार्गों के अवयवरूप में जो आहुतियां हैं–वे दोनों ऊतियां हैं तथा यजमान को स्वर्ग प्राप्त कराने वाली हैं–

"ऊतय; खलु वै ता नाम याभिर्देवा यजमानस्य हवमायान्ति ये वै पन्थानो याः स्रुतयस्ता वा ऊतयस्त उ एवैतत्स्वर्गयाणा यजमानस्य भवन्ति ।"[3]

इस कथन से ऊति शब्द के निर्वचन के लिये दो संकेत प्राप्त होते प्रतीत होते हैं–

(अ) एक संकेत द्वारा ऊति शब्द की व्युत्पत्ति "हवं" में विद्यमान √ह्वे आह्वाने से होती हैं । इसके अनुसार √ह्वे धातु से हूति बनाकर वर्णविकार के द्वारा हू का ऊ आदेश होने पर ऊति शब्द बनाया गया है ।

(आ) दूसरा संकेत "आयान्ति" क्रिया पद में मिलता है, जिससे आङ्. पूर्वक √या प्रापणे (प्रापणं गतिः) से वर्ण विकार होकर ऊति शब्द का निर्माण हुआ है । "ये स्वर्ग को प्राप्त कराती हैं" इस अर्थ में √या से ऊति का निर्माण लक्ष्य पर ठीक पहुंचता प्रतीत होता है ।

√या धातु से ऊति की निष्पत्ति भाषा-विज्ञान की दृष्टि से संगत प्रतीत नहीं होती । यास्क ने इसे √अव् धातु का संप्रसारण रूप माना है । √अव् धातु-पाठ में गत्यर्थक भी है· निघंटु में "अवति को गतिकर्मा धातुओं और ऊति को पदनामों में पढ़ा गया है । पदनामों को भी स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा डा० सुधीर कुमार गुप्त ने गत्यर्थक माना हैं । हो सकता है ऐतरेयकार ने "आयान्ति" का प्रयोग ऊति के √या धातु के पर्याय रूप में किया हो और उन्हे ऊति की निरुक्ति √अव् से ही अभिप्रेत हो । ऐसा ब्राह्मणों के निर्वचनों में अनेक बार देखने को मिलता है ।

आधुनिक सम्प्रदाय में ऊति शब्द की निष्पत्ति √अव् रक्षणे से की जाती है ।

१५–ग्रहः–सोम-पूरित उपांशु और अन्तर्याम नामक घटों पर रखे हुये छोटे प्याले (लघु चमस) ग्रह कहलाते हैं ।

१–ऐ०ब्रा० १.२ । २–तु०को०वै०ए०पृ० १०२ । ३–ऐ०ब्रा० १.२ ।

ऐतरेयब्राह्मणकार ने इस शब्द के निर्वचन का संकेत एक आख्यायिका द्वारा प्रदर्शित किया है-

"यज्ञ देवों के पास से चला गया। उसे प्रैष मंत्रों द्वारा प्राप्त किया गया। उस प्राप्त किये हुये यज्ञ को उन्होंने ग्रहों के द्वारा स्वीकार किया। इसीलिये इनको ग्रह कहते हैं"-

"तं (यज्ञं) वित्तं (लब्धं) ग्रहैर्व्यगृह्णत यद्वित्तं ग्रहैर्व्यगृह्णत तद्ग्रहाणां ग्रहत्वम्।"[1]

उक्त कथन में जो "व्यगृह्णत" क्रिया पद है-उसमें विद्यमान √ग्रह् (उपादाने) धातु से इसकी निरुक्ति प्रदर्शित की गई प्रतीत होती है। डा० फतहसिह ने शतपथब्राह्मण से कतिपय उद्धरण देकर दिखाया है कि इस पद के इसी प्रकार के निर्वचन के आधार पर ब्राह्मणों ने इसे अनेक अर्थों का वाचक माना है।[2]

१६-चतुष्टोमः-एक यज्ञ का नाम है। ऐतरेयब्राह्मणकार ने अग्निष्टोम, चतुष्टोम और ज्योतिष्टोम (यज्ञों को) अग्नि का ही रूप माना है।[3]

इस शब्द की निरुक्ति का संकेत ब्राह्मणकार द्वारा दी हुई एक आख्यायिका में मिलता है-

"चतुर्विध देवता वसु, रुद्र, आदित्य और विश्वेदेवा ने चार स्तोम त्रिवृत्, और पंचदश, सप्तदश तथा एकविंश से अग्नि की स्तुति की। इसलिये इसे चतुस्तोम कहा गया। चतुस्तोम का परोक्षरूप चतुष्टोम हो गया"-

"तं यच्चतुष्टया देवाश्चतुर्भिः स्तोमैरस्तुवंस्तस्माच्चतुस्तोमस्तं चतुस्तोमं सन्तं चतुस्टोम इत्याचक्षते।"[4]

इसमें चतुः शब्द के साथ √स्तोम् (आत्मगुणाविष्करणे) से इसकी निरुक्ति भासित होती हैं। अग्निष्टोम के निर्वचन में दिया हुआ विवरण भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

१७-ज्योतिष्टोमः-एक यज्ञ का नाम है।

अग्निष्टोम तथा चतुष्टोम के लिये जो आख्यायिका ब्राह्मणकार द्वारा प्रस्तुत की गई है, उसी के क्रम में ज्योतिष्टोम की निरुक्ति का भी संकेत प्राप्त हो जाता है। कहा गया है कि अग्नि की स्तुति उस समय की गई, जब वह ज्योतिभूत हुआ ऊपर जा रहा था-

"अथयदेनमूर्ध्वं सन्तं ज्योतिर्भूतं अस्तुवंस्तस्माज्योतिस्तोमस्तं ज्योतिस्तोमं सन्तं ज्योतिष्टोम इत्यावक्षते।"[5]

१-ऐ०ब्रा० ३.९। २-वै०ए०पृ० १२७। ३-ऐ०ब्रा० ३.४३।
४-वही ३.४३, तु०क० तै०ब्रा० १.५.११.५४। ५-ऐ०ब्रा० ३.४३।

ज्योतिः के साथ √स्तोम् (आत्मगुणाविष्करणे) धातु से ज्योतिस्तोम बना है। साथ ही यह भी बतलाया है कि ज्योतिष्तोम का परोक्ष रूप ज्योतिष्टोम हो गया है।[1]

उपर्युक्त प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ब्राह्मणकार को यहां ज्योतिः की निरुक्ति √द्युत् दीप्तौ से नहीं, प्रत्युत् √द्यु अभिगमने से अभिष्ट है। "ऊर्ध्वंसन्तं" में द्यु अभिगमने का संकेत मिलता है। ताण्ड्यमहाब्राह्मण में भी इसी प्रकार का संकेत मिलता है।[2]

१८-जातवेदस्-अग्नि का नाम है।

ऐतरेयकार ने अग्नि के जातवेदस् कहलाने के विषय में एक आख्यान प्रस्तुत किया है। उसी में जातवेदस् शब्द की निरुक्ति का संकेत निहित है। आख्यान इस प्रकार है-

"प्रजापति ने जो प्रजा बनाई, वह मुंह फेर कर चली गई। तब अग्नि ने उसको चारों ओर से घेर लिया। प्रजापति बोले कि इस उत्पन्न हुई प्रजा (–जाताः) को मैंने इस (अग्नि) के द्वारा (अविदम्) पाया। अतः अग्नि को जातवेदस् कहते हैं।

'प्रजापतिः प्रजा असृजत ताः सृष्टाः पराच्यएवाऽऽयन्न व्यावर्तन्त ता अग्निना पर्यगच्छन्ता अग्निमुपावर्तन्त तमेवाद्याप्युपावृत्ताः। सोऽ ब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविदमिति तज्जातवेदस्यमभवत्तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्।'[3]

इसमें 'अविदम्' क्रिया पद में विद्यमान √विद् (प्रापणे) धातु से जातवेदस् शब्द निष्पन्न बताया गया है।

दो अन्यस्थलों पर ऐतरेयब्राह्मण में जातवेदस् की निरुक्ति के विषय में संकेत प्राप्त होते हैं। एक स्थल पर वह वायु के लिये तथा दूसरे स्थल पर वह प्राण के लिये प्रयुक्त हुआ है-

(१) 'वायुर्वै जातवेदा वायुर्हीदं सर्वं करोति यदिदं किंच'[4]

वायु को जातवेद इसलिये माना है कि वह सम्पूर्ण जगत् को बनाता है। उपर्युक्त कथन के अनुसार जातवेदस् शब्द √विद् धातु से बना है, जो (करणे) निर्माण अर्थ में प्रयुक्त होती हैं।

(२) 'प्राणो वै जातवेदाः स हि जातानां वेद'[5]।

प्राण जातवेदस् कहे गये है, क्योंकि वे उत्पन्न हुओं को जानते हैं। यहां √विद् धातु (वेदने) जानने अर्थ में प्रयुक्त हुई है।

डा० फतहसिंह के निष्कर्ष भी एवंविध हैं।[6]

१-वर्ण-विकार के विषय में अग्निष्टोम के निर्वचन का विवरण देखें। २-तां०ब्रा० १६.१.१, १०.२.२, १६.७.२ इत्यादि। ३—ऐ०ब्रा० ३.३६। ४—ऐ०ब्रा० २.३४। ५—वही-२,३६। ६—वै०ए०पृ० १३३-१३४, वै०द० में जातवेदस् का विवचन भी देखें।

१९-तनूनपात्-तनूनपात् प्राण अथवा पुत्रादि शरीरों की रक्षा के निमित्त किये गये कर्म-विशेष के अर्थ में आता है।

प्राण के अर्थ में तनूनपात् की निरुक्ति का संकेत ऐतरेयकार के इस कथन में प्राप्त होता है कि 'प्राण ही तनूनपात् है, क्योंकि वह शरीरों की (पाति) रक्षा करता है-

'प्राणो वै तनूनपात्स हि तन्वः पाति'।[1]

इसमें तनू शब्द के साथ √पा (रक्षणे) से इसकी निरुक्ति की गई है। तनूनपात् की याज्या के पाठ से होता प्राण को प्रसन्न करता है और प्राण को यजमान में स्थापित करता है-कहकर ऐतरेयकार ने 'पाति' का व्याख्यान किया प्रतीत होता है।

कर्म विशेष के अर्थ में अन्य स्थल पर तनूनपात् की व्युत्पत्ति का संकेत एक आख्यायिका देकर किया गया है। इसके अनुसार असुरों से युद्ध करने के लिये उद्यत देवताओं का अपने सैनानी के चुनाव के विषय में विरोध हो गया। उन्हें डर हुआ कि कहीं असुर उनके इस पारस्परिक विरोध को न जानले। अतः वे दलों में बंट गये। अग्नि वसुओं के, इन्द्र रुद्रों के, वरुण आदित्यों के तथा बृहस्पति विश्वदेवा के साथ जाकर सोचने लगे कि यदि हम अपने प्रिय शरीरों को वरुण राजा के घर रखदें, तो अच्छा हो उन्होंने ऐसा ही किया। तभी से इस कर्म का नाम तानूनप्त्रम् हो गया-

'ते देवा अबिभयुरस्माकं विप्रेमाणमन्विदमसुरा आभविष्यन्तीति ते व्युत्क्रम्यामन्त्रयन्त.............................। तेऽब्रुवन्हन्त या एव न इमाः प्रियतमास्तन्वस्ता अस्य वरुणस्य राज्ञो गृहे संनिदधाम है.....................। ते यद्वरुणस्य राज्ञो गृहे तनूः संन्यदधत तत्तानूनप्त्रमभवत्।[2]

इस आख्यान में प्रधान कर्म तो शरीर-रक्षा ही है। 'संन्यदधत' क्रियापद की √धा धातु से इसकी निरुक्ति का यही संकेत है कि तनूनपात् में विद्यमान √पा धातु का अर्थ √धा धातु के समान धारण, पोषण तथा दान है। अथवा √पा का प्रयोग 'नपात्' में 'न+√पत्' (न गिरना, रक्षित होना, स्थापित करना) का भी द्योतक हो सकता है।

शतपथब्राह्मण के उल्लेखानुसार तनूतपात् में √तप् (तपने) धातु का योग माना गया है-

'ग्रीष्मो वै तनूनपात् ग्रीष्मोह्यासां प्रजानां तनूस्तपति।'[3]

यहां 'तप्' के 'त' को 'न' में परिवर्तित हुआ माना गया मालूम होता है। इस √तप् को पूर्व वर्णित √पा का अर्थ भी माना जा सकता है।[4]

२०-धाय्या-मरुत्वतीय शस्त्र में प्रक्षेपणीय ऋचाओं को धाय्या[5] कहते हैं।

१—ऐ०ब्रा० २.४। २—वही-१.२४। ३—श०ब्रा० १.५.३.१०। ४—वै०ए०पृ० १३५ भी द्रष्टव्य है। ५—धाय्या में प्रयुक्त ऋचायें ऋ० ३-२०.४, १-९१.२ तथा १-६४.६ हैं।

धाय्या को 'उपसदों का उक्थ भी कहा गया है—'तान्यु वा एतान्युपसदामेवोक्थानि यद्धाय्या'[1],

ऐतरेयब्राह्मण में धाय्या की निरुक्ति के संकेत एक ही स्थल पर तीन प्रकार से प्राप्त होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणकार इसकी एकधा-निरुक्ति से संतुष्ट नहीं है।

(१) पहला धाय्या-विषयक संकेत आख्यायिका में प्रयुक्त क्रियापद में मिलता है—'प्रजापति ने जिस-जिस लोक की कामना की उस-उस लोक को धाय्याओं के द्वारा (अधयत्) पान किया'-'धाय्याभिर्वै प्रजापतिरिमांल्लोकानधयद्यं यं काममकामयत'।[2]

यहां 'अधयत्' क्रिया पद में प्रयुक्त √धे (पाने) धातु से धाय्या की निरुक्ति हुई प्रतीत होती है।

(२) दूसरा संकेत निम्न आख्यान-भाग में प्राप्त होता है-'जहां जहां देवों ने यज्ञों के छिद्रों को जाना, उनको धाय्याओं द्वारा (अपिदधुः) ढक दिया'—

'यत्र यत्र वै देवा यज्ञस्य छिद्रं निरजानंस्तद्धाय्याभिरपिदधुस्ताद्धाय्यानां धाय्यात्वम्'।[3]

इसमें 'अपिदधुः' क्रिया-पद में विद्यमान √धा (धारणापोषणयोर्दाने च)(धातु से रखने अर्थ में धाय्या शब्द का निर्माण हुआ है।

(३) तीसरा निर्माण-संकेत निम्न प्रकार है—

'जिस प्रकार सुई से कपड़े को जोड़ते हैं, उसी प्रकार इन धाय्याओं द्वारा यज्ञ के छिद्र को जोड़ते हैं, इसीलिये इन्हें धाय्या कहा जाता है'।

'स्यूमहैतयज्ञस्य यद्धाय्यास्तद्यया सूच्या वासः संधधदियादेवमेवे ताभिर्यज्ञस्य च्छिद्रं संदधदेति य एवं वेद यद्वेवधाय्या।'[4]

यहां 'संदधत' क्रियापद में विद्यमान √दध् धातु से धाय्या की निरुक्ति प्रदर्शित की गई प्रतीत होती है। सम् उपसर्ग पूर्वक √दध् धातु का अर्थ 'तन्तु-सन्तान' अवलोकनीय है। सामान्य रूप से इसका प्रयोग धारण अर्थ में किया जाता है।

इन निरुक्तियों को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि संभवतः ऐतरेयकाल में √धा धातु के पान, धारण तथा सीचन अर्थ भी अभिप्रेत रहे हों और उसी से धाय्या शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती रही हो। इन अर्थों को व्यक्त करने के लिये ही ब्राह्मणकार ने अधयत, अपिदधुः तथा संदधत का आश्रय लिया हो।

धाय्या की निरुक्ति के लिये डा० फतहसिंह ने कौषीतकि, शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मणों के प्रसंगों का भी निर्देश किया है, किन्तु ऐतरेय जैसा विस्तृत-विवरण इनमें उपलब्ध नहीं होता।[5]

१—ऐ०ब्रा०३.१८। २—वही-३.१८। ३-वही ३.१८। ४-वही ३.१८
५—शै०ए०पृ०१४५-तु०क०कौ०ब्रा०२.४ श०ब्रा०१.४.१.३७, गो०ब्रा०२.३।

२१–न्यग्रोधः-बरगद का वृक्ष ।

न्यग्रोध की व्युत्पत्ति के विषय में ऐतरेयब्राह्मणकार स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हैं-'वे जो नीचे की ओर (रोहन्) बढ़े, उनको न्यङ्रोह कहेंगे । न्यग्रोह का ही न्यग्रोध रूप हो जाता है । 'न्यग्रोध' न्यग्रोह का ही वर्ण विकार से बना हुआ परोक्ष शब्द है–

'तँ यन्न्यंचोऽरोहंस्तस्मान्यङ्रोहति न्यग्रोहो न्यग्रोहो वै नाम तन्न्यग्रोहं सन्तं न्यग्रोध इत्याचक्षते' ।[1]

शतपथ ब्राह्मण में भी इसीप्रकार से इस शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाई गई है ।[2]

न्यग्रोध की व्युत्पत्ति को प्रस्तुत करने से पूर्व ब्राह्मणकार ने इस वृक्ष की उत्पत्ति की घटना, उत्पत्तिस्थल, प्रथमनाम आदि का विवरण इसके इतिहास के रूप में निम्न प्रकार दिया है–

'देवताओं ने कुरुक्षेत्र में यज्ञ किया और स्वर्ग को प्राप्त किया । उस यज्ञदेश में स्थित चमस (न्युब्जन्) टेढ़े हो गये, वे न्यग्रोधवृक्ष हो गये । इस समय भी कुरुक्षेत्र में न्यग्रोध को न्युब्ज के नाम से पुकारते हैं । कुरुक्षेत्र में प्रथम उत्पन्न हुये न्यग्रोधों से ही अन्य प्रदेशों में न्यग्रोध अत्यधिक रूप से फैले' ।

'यतो वा अधिदेवा यज्ञेनेष्ट्वा स्वर्गं लोकमायंस्तत्रैतांश्चमसान्न्युब्जंस्ते न्यग्रोधा अभवन्न्युब्जा इतिहाप्येनानेतर्ह्याचिक्षते, कुरुक्षेत्र ते ह प्रथमजा न्यग्रोधानां तेभ्यो हान्येऽधिजाताः' ।[3]

ऐतरेयब्राह्मण के समय कुरुक्षेत्र में न्यग्रोध को न्युब्ज कहा जाता था । इसके साथ ही सोमचमस से इसकी उत्पत्ति बतलाकर इस वृक्ष के अपूर्व वानस्पतिक गुणों की ओर भी संकेत किया प्रतीत होता है ।

२२– नानदम्–सामविशेष, जो शत्रुओं का नाशकर्त्ता माना जाता हैं-

'अभ्रातृव्यं वा एतद् भ्रातृव्यहा साम यन्नानदम् ।'[4]

इस शब्द की निरुक्ति का संकेत ब्राह्मणकार द्वारा दी हुई एक आख्यायिका में मिलता है- 'इन्द्र ने वृत्र को मारने के लिये वज्र उठाया और उस पर प्रहार किया । वज्रप्रहार से आहत होकर वह ऊंचे स्वर में शब्द करने लगा । उससे नानद साम बन गया'–

'इन्द्रो वै वृत्राय वज्रमुदयच्छत्तमस्मै प्राहरत्तमभ्यहनत्सोऽभिहतो व्यनदद्यद् व्यनदत्तन्नानदं सामाभवत्तन्नानदस्य नानदत्वम् ।'[5]

१-ऐ०ब्रा० ७.३० । २-श०ब्रा०१३.२.७.३, १२.७.१.६ ।
३–ऐ०ब्रा०७.३० । ४–वही–४.२ । ५-वही ४.२ ।

इसमें 'व्यनदत्' क्रियापद में प्रयुक्त √नद् (शब्दे) धातु से नानद की निरुक्ति भासित होती है। यहां भृशं अर्थ में अभ्यास को द्वित्व और द्विरुक्त-अंग के स्वर को दीर्घ हुआ होगा।[1]

नानद साम को सम्भवतः ध्वनिविशेष से उच्चारण किया जाता रहा होगा–ऐसा भी इस उल्लेख से प्रतीत होता है।

२३– निविद्–सोमपान के लिये देवताओं का आह्वान करने वाले मंत्र विशेष, जिनमें देवों की स्तुति हो, निविद् कहलाते हैं। निविदों को उक्थों का गर्भस्थानीय भी माना गया है–'गर्भा वा एत उक्थानां यन्निविदः'।[2]

निविद् शब्द की निरुक्ति का संकेत ब्राह्मणकार द्वारा दी हुई एक लघु आख्यायिका में मिलता है–

'यज्ञ देवों के पास से चला गया था। उसको पाकर देवों ने निविदों के द्वारा (न्यवेदयन्) निवेदन किया, इसीलिये निविद् नाम हुआ'–

"तं वित्त्वा निविद्भिर्न्यवेदयन्यद्वित्त्वा निविद्भिर्न्यवेदयंस्तन्निविदां निवित्त्वम्"[3]

यहां नि + √विद् प्रार्थनायां से निविद् शब्द की निरुक्ति की गई है। इस निवेदस का भाव ऐतरेयकार ने 'पुरस्तादुक्थानां प्रातःसवने धीयन्ते' कहकर व्यक्त किया है। तैत्तिरींय ब्राह्मण तथा शतपथब्राह्मण में भी इसी प्रकार निबिद् की निरुक्ति का संकेत प्राप्त होता है।[4] निघंटु कोष में निविद् को वाणी के ५७ नामों में गिनाया गया है।[5]

२४–पर्यायः– सोमपान को पुनः पुनः देने को पर्याय कहते हैं।

अपिशर्वराणि के प्रसंग में जो आख्यायिका दी गई है, उसी के एक अंश में 'पर्याय' की निरुक्ति का संकेत अस्पष्ट रूप से प्राप्त होता है– 'रात्रि के देवता छन्दों के साथ इन्द्र ने पर्यायों के द्वारा पर्याय का (अनुदन्त) निराकरण कर दिया। यही पर्याय का पर्यायत्व है'

'तान्वै पर्यायैरेव पर्यायमनुदन्त यत्पर्यायैः पर्यायमनुदन्त तत्पर्यायाणां पर्यायत्वम्'।[6]

१–पाणिते ने भृश और पौनः पुन्य अर्थ में यङ् का विधान किया है, जिसमें धातु को द्वित्व और अभ्यास को दीर्घ होते हैं। २–ऐ०ब्रा०३.१०।
३– वही३.९। ४–वै०ए०पृ०१५१ देखें। ५–नि०को०१.११।
६–ऐ०ब्रा०४.५।

इसमें परि तथा आङ् पूर्वक गत्यर्थक √या धातु से पर्याय शब्द की निरुक्ति का संकेत मिलता है। यहां 'अनुदन्त' क्रियापद परि + आ + √या के अर्थ का ही द्योतक प्रतीत होता है। डा० फतहसिंह ने भी इसकी निरुक्ति को अस्पष्ट कहा है।[1]

२५–परिसारकम्–सरस्वती नदी से सिंचित प्रदेश का नाम है।

इसकी निरुक्ति को प्रदर्शित करने के लिये ऐतरेयकार एक लोक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना का उल्लेख करते हैं–

'ऋषियों ने सरस्वती नदी के तट पर सोमयज्ञ करते हुए इलूषा के पुत्र कवष को यह कहकर निकाल दिया कि यह दासी पुत्र, ज्वारी, अब्राहण हमारे बीच कैसे दीक्षा प्राप्त करेगा। उन्होंने इसे रेगिस्तान में भगा दिया। कवष ने रेगिस्तान में में जाकर प्यास से दुःखी होने पर अपोनप्त्रीय मंत्रों को देखा। जल उससे मिलने गये। सरस्वती ने उसे चारों ओर से (परिससार) घेर लिया'

'तस्माद्धाप्येतर्हि परिसारकमित्याचक्षते यदेनं सरस्वती समन्तं परिससार।'[3]

इस उल्लेख में 'परिससार' क्रियापद में परिसारक की निरुक्ति छिपी हुई है। परि उपसर्ग पूर्वक √सृ (गतौ) धातु से इस शब्द का निर्वचन हुआ दिखाई देता है।

२६–प्रायणीयः–कर्म (यज्ञ) विशेष जिसके द्वारा यजमान स्वर्ग लोक के समीप पहुँच जाते हैं।

प्रायणीय शब्द की निरुक्ति ऐतरेयकार के इस उल्लेख से ज्ञात होती है कि इससे स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, यही प्रायणीय का प्रायणीयत्व है–'स्वर्गं वा एतेन लोकमुपप्रयन्ति यत्प्रायणीयस्तत्प्रायणीयस्य प्रायणीयत्वम्'।[3]

इसमें 'प्रयंति' क्रियापद में विद्यमान 'प्र' उपसर्ग तथा गत्यर्थक √या धातु से इसकी निरुक्ति की गई है।

२७–पुरोडाशः– इष्टियों में दी गई प्रधान हवि जो चावल या यव के आटे को गूंदकर बनाई जाती है, पहले उसे लकड़ी के टुकड़े पर आहवनीय अग्नि में पकाते हैं, अन्त में कपालों पर।

पुरोडाश के सम्बन्ध में एक आख्यायिका कही गई है –

'देवताओं' के सवन परस्पर जुड़े हुये नहीं रहते थे। उन्होंने पुरोडाशों को देखा। अतः जब सवनों के लिये पुरोडाशों के भाग किये जाते हैं, तब वह सवन जुड़े रहते हैं। देवताओं ने इनको (पुरोडाशों को) सोमाहुति से (पुरः) पहले काटा। इसलिये इनको पुरोडाश कहते हैं'–

१–वै०ए०पृ०१५६। २–ऐ०ब्रा०२.१९। ३–वही १.७।

'पुरो वा एतान्देवा अक्रत यत्पुरोडाशास्तत्पुरोडाशानां पुरोडाशत्वम्' ।[1]

इसमें पुरः शब्द के साथ √दाशृ दाने से इसकी निरुक्ति बतलाई गई है। सामान्य रूप से √दाश् हिंसायां से इस शब्द की व्युत्पत्ति दिखाई जाती है। शतपथब्राह्मण में √दाशृ दाने से इसकी निरुक्ति का संकेत मिलता है।[2]

२८–पुरोरुक्–उच्च स्वर में पढ़ी जाने वाली विशेष ऋचायें।

पुरोरुक् तूष्णींशंस का विपर्यय है। ऐतरेयब्राह्मण में कहा गया है–'उच्चैः पुरोरुचं शंसति'।[3]

पुरोरुक् की निरुक्ति का संकेत एक लघु आख्यायिका में मिलता है–'यज्ञ देवताओं के पास से चला गया। उसे प्राप्त करके उन्होंने पुरोरुच् के द्वारा चमकाया, इसलिये इन्हें पुरोरुक् कहते हैं'–

'यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत्त पुरोरुग्भिः प्रारोचयंस्तत्पुरोरुचां पुरोरुक्त्वम्' ।[4]

इसकी निरुक्ति प्रारोचयन् क्रियापद में प्रयुक्त पुरः शब्द पूर्वक √रुच् (दीप्तावभिप्रीतौ च) धातु से भासित होती है। शतपथब्राह्मण [2]में भी 'पुरोरुग्भिः प्रारोचयन्' का उल्लेख मिलता है।

सायणाचार्य ने 'वायुरग्रेगा' इत्यादि सात पुरोरुचाओं का कथन किया है।[3]

२९–प्रैषः–प्रैष का सामान्य अर्थ आज्ञा या प्रेरणा है। अध्वर्यु होता को कर्म के लिये आज्ञा या प्रेरणा देता है, उसे प्रैष कहते हैं। निरुक्ति के लिये प्रयुक्त प्रैष का अर्थ 'बुलावा' है।

इस शब्द की व्युत्पत्ति का संकेत ब्राह्मणकार द्वारा दी हुई लघु कथा से प्राप्त होता है–

'जब यज्ञ देवों के पास से चला गया, तब उन्होंने उसे प्रैषों के द्वारा बुलावा भेजने की (ऐच्छन्) इच्छा की। इसीलिये प्रैष को प्रैष कहा जाता है'–

'यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत्त प्रैषैः प्रैषमैच्छन्यत्प्रैषैः प्रैषमैच्छंस्तत्प्रैषाणां प्रैषत्वम्'।[7]

इसमें प्र उपसर्ग पूर्वक ऐच्छन्' में प्रयुक्त √इष् (इच्छायाम्) धातु विद्यमान है। अतः इसी से यह शब्द बनाया गया है। अन्य ब्राह्मणों से भी इसकी पुष्टि होती है।[8]

३०–महानाम्नी–ऋचाओं का वर्ग विशेष, जो देवों को महान् बनाने के उपयोग में आता है। महानाम्नी के निर्वचन के लिये ब्राह्मणकार किसी लोक-प्रसिद्ध आख्यान-वाक्य का उल्लेख इस प्रकार करते हैं–

१–ऐ०ब्रा०२.२३। २–श०ब्रा०१.५.१३–५, १.६.२.५ तथा वे०ए०पृ०१६१ देखें।
३–ऐ०ब्रा २.३६। ४–ऐ०ब्रा०३.९। ५–श०ब्रा०३.९.३.२८।
६–सायण भाष्य ऐ०ब्रा०पृ०३०८। ७–ऐ०ब्रा०३.९। ८–वे०ए०पृ०१७० देखें।

'पुराने समय में कभी इन्द्र ने इन महानाम्नियों के द्वारा अपने को महान् बना लिया। इसीलिये इनका नाम महानाम्नी हुआ'-

'इन्द्रो वा एताभिर्महानात्मानं निरमिमीत तस्मान्महानाम्न्योऽथो इमे वै लोका महानाम्न्य इमे महान्तः'।[1]

इसमें महानाम्नी की निरुक्ति महत्+नाम की गई मालूम पड़ती है। नामन् को यहां आत्मा से और 'अकरोत्' को 'निरमिमित' क्रिया-पद से व्यक्त किया मालूम पड़ता है।

ये भूरादि लोक भी महान् होने के कारण महानाम्नी कहे जाते हैं। ताण्ड्य महाब्राह्मण[2]और सामविधान ब्राह्मणों[3]में भी ऐसा उल्लेख आया है।

महानाम्नी का नाम ब्राह्मणकार ने 'सिमाः' भी बतलाया है। महानाम्नी के प्रसंग में ही उन्होंने कहा है-

'प्रजापति ने इन्हें सीमा से ऊपर पैदा किया। जो सीमा के ऊपर पैदा की गई वे सिमा कही गई'-

'ता ऊर्ध्वाः सीम्नोऽभ्यसृजत यदूर्ध्वाः सीम्नोऽभ्यसृजत तत्सिमा अभवं स्तत्सिमानां सिमात्वम्'।[4]

यहां 'सीमा' से सिमाः शब्द की निरुक्ति मानी प्रतीत होती है।

३१-मानुषम्-मनुष्य का वाचक शब्द है।

प्रजापति द्वारा मनुष्यों की उत्पत्ति-विषयक आख्यायिका का उल्लेख करते हुये मानुषम् शब्द की व्युत्पत्ति का संकेत ऐतरेयब्राह्मणकार निम्न प्रकार करते हैं-

'प्रजापति ने अपनी दुहिता से भोग करना चाहा। उसने स्वयं रिश्य (हिरन) तथा दुहिता ने रोहित (हिरनी) का रूप धारण कर लिया। देवों ने इस अकार्य को देखा। उन्होंने अपने घोरतम अंश को इकट्ठा करके भूतवान् नामक देव उत्पन्न किया। उसने प्रजापति के दुष्कर्म पर आक्रमण करके उसे बांध डाला। जो प्रजापति का रेतस् बहा, वह एक सरोवर बन गया। देवों ने कहा कि प्रजापति का यह वीर्य (मादुषत्) दूषित न हो। देवों ने मादुषत् कहा तो वह मादुषम् हो गया। उसी मादुषम् का परोक्ष रूप मानुषम् हैं'-

'तद्वा इदं प्रजापते रेतः सिक्तमधावत्तत्सरोऽभवत्ते देवा अब्रुवन्मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति यदब्रुवन्मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति तन्मादुषमभवत्तन्मादुषस्य मादुषत्वं मादुषं ह वै नामैतद्यन्मानुषं सन्मानुषमित्याचक्षते'।[5]

उपर्युक्त उल्लेख में मादुषं का मानुषम् बना है। मादुषं शब्द मा+दुषत् (दूषित न हो) से बन गया। मादुषं के दकार का नकार में परिवर्तन वर्ण-विकार के कारण हुआ माना गया है।

१-ऐ०ब्रा०५.७। २-तां०ब्रा०१३.४.१। ३-सा०ब्रा०३.११। ४-ऐ०ब्रा०५.७। ५-मैं०ब्रा०३.३३।

३२-यूप:-यज्ञ-स्तम्भ, जिसमें पशु बांधा जाता है।

यूप शब्द की निरुक्ति देवों के कार्य-विशेष के लिये प्रयुक्त क्रिया-पद में भासित होती है। ऐतरेयकार ने इसके लिये एक आख्यायिका प्रस्तुत की है-

'यज्ञ के द्वारा उन्नत होकर देव स्वर्गलोक को गये। उन्हें भय हुआ कि हमारे इस यज्ञ को देखकर मनुष्य और ऋषि हमारे समान हो जायेंगे। उन्होंने यज्ञ को यूप के द्वारा (आयोपयन्) रोक दिया, इसी से इसका नाम यूप हुआ'।

'यज्ञेन वै देवा उर्ध्वाः स्वर्गं लोकमायंस्तेऽविभयुरिमं नो दृष्ट्वा मनुष्याश्च ऋषयश्चानु प्रज्ञास्यन्तीति तं वै यूपेनैवायोपयंस्तं यद्यूपेनैवायोपयंस्तद्यूपस्य यूपत्वम्'।[1]

इस कथन में देवताओं द्वारा किया गया कर्म (आयोपयन्) रोकना है। इसमें प्रयुक्त धातु √यु है, जो संयमन के अर्थ में आती है। अतः यूप शब्द की निरुक्ति √यु धातु से प्रतीत होती है।

शतपथ[1] सामविधानादि[2] ब्राह्मणों में भी √यु धातु से ही इसकी व्युत्पत्ति का संकेत मिलता है। डा० फतहसिंह ने इसका निर्वचन √युप् प्रदर्शित किया है, तथा उणादि के √यु से निर्वचन का भी निर्देश किया है।[3]

३३-विराट्-छन्द विशेष का नाव है। इसको अन्न का पर्यायवाची भी कहा है।[4]

ऐतरेय-ब्राह्मण में कहा गया है कि जिसके पास बहुत अन्न होता है, वही व्यक्ति संसार में शोभा को प्राप्त होता है -

'तस्माद्यस्यैवेह भूयिष्ठमन्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति तद्विराजो विराट्त्वम्'।

इस कथन में वि उपसर्ग पूर्वक √राज् (दीप्तौ) धातु से इसकी निरुक्ति की गई है।

३४-वेदीः-यज्ञवेदी, जिसमें आहुति डाली जाती है।

वेदिः शब्द की निरुक्ति का संकेत एक आख्यायिका में प्राप्त होता है। इसी आख्यायिका में प्रैष, पुरोरुक्, ग्रह तथा निविद् शब्दों के निर्वचनों के संकेत पहले देखे जा चुके हैं-

'देवों के पास से यज्ञ चला गया। उसको उन्होंने वेदी में प्राप्त किया; इसीलिये वेदी शब्द बना'-

---

१-वही २.१। २-श०ब्रा०१.६.२.१। ३-सा०ब्रा०६.४४। ४-वै०ए०पृ० १८९। ५-ऐ०ब्रा०१.५-अन्नं वै विराट्। ६-वही १.५।

'तं वेद्यामन्वविन्दन्य द्वेद्यामन्वविन्दंस्तद्वेदेर्वेदित्वम्' ।[1]

यहां 'अन्वविन्दन्' क्रियापद में प्रयुक्त प्राप्ति अर्थवाली √विद् (प्रापणे) धातु से 'वेदिः' शब्द का निर्वचन किया गया है। शतपथ, तैत्तिरीय और जेमिनीय उपनिषद् ब्राह्मणों का भी ऐसा ही मत है ।[2]

३५–वैरूपम्-एक साम का नाम है ।

वैरूपसाम की उत्पत्ति के विषय में ऐतरेयब्राह्मणकार ने एक आख्यायिका प्रस्तुत की है। द्वादशाह यज्ञ के तीसरे दिन का विवरण प्रस्तुत करते हुये उन्होंने कहा है–

'तीसरे दिन के कृत्य द्वारा देवता स्वर्गलोक की ओर जा रहे थे। असुर राक्षसों ने उन्हें रोका। उन्होंने असुरों से कहा विरूप हो जाओ। तब सब असुर कुरूप होने लगे। इससे वैरूप साम उत्पन्न हुआ'–

'देवा वै तृतीयेनान्हा स्वर्ग लोकमायंस्तानसुरा रक्षांस्यन्ववारयन्त ते विरूपा भवत विरूपा भवतेति भवन्त आयंस्ते यद्विरूपा भवत विरूपा भवतेति भवन्त आयंस्त–द्वैरूपं सामाभवत्तद्वैरूपस्य वैरूपत्वम्' ।[3]

वैरूपम् शब्द की निरुक्ति के लिये 'विरूप' शब्द द्रष्टव्य है। विकारार्थ में अण् प्रत्यय लगाकर 'वैरूपम्' बना प्रतीत होता है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में भी ऐसा ही निर्वचन है ।[4]

३६–शक्वर्य्यः- विशेष प्रकार की ऋचायें जो शक्ति प्रदान करने वाली समझी गई हैं। इसमें जो छन्द होता है, वह ५६ अक्षरों का होता है। चार पादों में १४-१४ वर्ण होते हैं।[5] शक्वरी की निरुक्ति का आभास ऐतरेयकार द्वारा प्रस्तुत आख्यायिका में मिलता है–

'प्रजापति इन लोकों को उत्पन्न करके सर्व शक्तिमान हो गये। उनमें समस्त सृष्टि को निर्माण करने की शक्ति थी; इसीलिये उनसे शक्वरी उत्पन्न हुई'–

'इमान्वै लोकान्यप्रजापतिः सृष्ट्वेदं सर्वमशक्नोद्यदिदं किंच यदिमांल्लोकान्प्र–जापतिः सृष्ट्वेदं सर्वमशक्नोद्यदिदं किं च तच्छक्वर्योऽभवंस्तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम्' ।[6]

इसमें 'अशक्नोत्' क्रियापद में प्रयुक्त √शक् (शक्तौ) धातु से शक्वरी की निरुक्ति प्रतीत होती है ।[7]

इसी प्रकार का उल्लेख ताण्ड्य[8] तथा कौषीतकि[9] ब्राह्मणों में भी मिलता है।

१–ऐ०ब्रा०३.९। २–देखिये वै०ए०पृ०२१९। ३–ऐ०ब्रा०५.१। ४-ता०-ब्रा०१२.८.४। ५–ऐ०ब्रा० हिन्दी अनुवाद पृ० ५००। ६–ऐ०ब्रा० ५.७। ७–उ०को० ४.११३ में शक्वरी को √शल्क (शक्तौ) धातु से ष्वनिप् प्रत्यय करके सिद्ध किया गया है। ८–ता०ब्रा० १३.४.१। ९-कौ०ब्रा२३.२।

३७-षोडशी-यज्ञ विशेष का नाम, जिसमें सोलह स्तोत्र, शस्त्र इत्यादि होते हैं।

ऐतरेयब्राह्मण में षोडशी शब्द की नामोत्पत्ति के विषय में एक प्रश्न उठाया गया है-षोडशी नाम क्यों पड़ा-'तदाहुः किं षोडशिनः ?'[1] इसका उत्तर देते हुये इस प्रकार कहा गया है-'स्तोत्र सोलह होते हैं। शस्त्र भी सोलह होते हैं। सोलह अक्षरों के बाद यति होती है। सोलह अक्षरों के पश्चात् ओम् कहा जाता है। सोलह पदों का निविद् इसमें रखा जाता है। इसीलिये षोडशी नाम पड़ा है'-

'षोडशः स्तोत्राणां षोडशः शस्त्राणां षोडशभिरक्षरैरादत्ते षोडशभिः प्रणौति षोडशपदानिविदं दधाति तत्षोडशिनः षोडशित्वम्'।[2]

यहां षोडश शब्द से षोडशी बनाया गया है। इसका इसी प्रकार का उल्लेख अन्यत्र भी प्राप्त होता है।[3]

३८-संपातः-सूक्त विशेष का नाम जो निष्केवल्य तथा मरुत्वत्तीय शस्त्रों से उत्पन्न होता है-'संपातौ भवतो निष्केवल्य मरुत्वतीययोर्निविद्धाने'।[4]

ब्राह्मणकार ने संपात सूक्तों की प्रशंसा में एक आख्यायिका दी है। इसके अनुसार वामदेव ने इन तीनों लोकों को देखकर इन्हीं संपातों द्वारा उन्हें प्राप्त किया। इनके द्वारा (संपतत्) प्राप्त होने से इन्हें संपात कहते हैं-

'वामदेवो वा इमांल्लोकानपश्यत्तान्संपातैः समपतद्यत्संपातैः समपतत्तत्संपातानां संपातत्वम्'।[5]

इसमें सम्पूर्वक √पत् धातु प्राप्ति अर्थ में प्रयुक्त हुई है, उसी के द्वारा संपात की निरुक्ति दी गई है।

कौषीतकि[6] तथा गोपथ ब्राह्मण[7] में उल्लेख आया है कि संपातों के द्वारा देवता लोग स्वर्ग को गये-'सम्पातै र्वै देवाः स्वर्गं लोकं समपतन्'।

३९-स्वरसामानः-दिन विशेष अथवा इन लोकों का नाम है।

स्वरसाम के लिये कहा गया है कि स्वरसामों द्वारा यजमानों ने इन लोकों का सेवन किया, यही स्वरसामों का स्वरसामत्व है-

'इमान्वै लोकान्स्वरसामभिरस्पृण्वंस्तत्स्वरसाम्नां स्वरसामत्वम्'।[8]

१-ऐ०ब्रा०४.१। २-वही ४.१।
३-वै०ए०पृ०२२४ भी देखें। ४-ऐ०ब्रा०४.३०। ५-वही ४.३०।
६-कौ०ब्रा०२२.१। ७-गो०ब्रा०२.६.१। ८-ऐ०ब्रा० ४.१९।

उक्त कथन में सेवन करने अर्थ में 'स्पृण्वन्' क्रियापद का प्रयोग हुआ है। यह शब्द स्वर तथा साम के मेल से बना है। डा० फतहसिंह ने भी अपने ग्रन्थ [1] में इतना ही उल्लेख किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतरेयकार ने 'तद्यत्स्वरसाम्नउपयन्त्येष्वेवैनं तल्लोकेष्वाभजन्ति'-कहकर यह इंगित किया है कि यहां गमन और सेवन क्रियाओं के मेल से 'स्वरसाम' बना है। 'स्वर' गति-कर्मा स्वरति से निष्पन्न है। सा को 'सा' आदि किसी सेवनार्थक धातु से निरुक्त किया जाना अभीष्ट है।[2]

४०-साकमश्वम्-साम विशेष का नाम है। यह साम उक्थ नामक स्तोत्र का साधनभूत माना जाता है!

'सामकश्व' शब्द की निरुक्ति का आभास भरद्वाज ऋषि से सम्बन्धित एक आख्यायिका के उपसंहार-वाक्य में मिलता है। आख्यायिका इस प्रकार है-

'अग्निष्टोम में देवों ने और उक्थ्यों में असुरों ने आश्रय लिया। दोनों बराबर शक्ति वाले थे, इसलिये देव असुरों को निकालने में असमर्थ रहे। भरद्वाज ऋषि ने, (जो दुर्बल, लम्बे व वृद्ध थे) उनको देखा और कहा कि इनको कोई नहीं देख पा रहा है। इस पर उसने अग्नि को बुलाया। अग्नि घोड़ा वनकर उनके पीछे दौड़ा और उसने उनको पकड़ लिया। इससे साकमश्वं बन गया'-

'भरद्वाजो ह वै कृशो दीर्घः पलित आस। सोऽब्रवीदिमे वा असुरा उक्थेषु श्रितास्तान्वो न कश्चन पश्यतीति तानग्निरश्वो भूत्वाऽभ्यद्रवद्यदग्निरश्वो भूत्वाऽभ्यद्रवत् तत्साकमश्वं सामाभवत् तत्साकमश्वस्य साकमश्वत्वम्'।[3]

यह शब्द साकं और अश्वं से मिलकर बना है। साकं शब्द सह √अक् (कुटिलायां गतौ) धातु से 'अभ्यद्रवत्' क्रियापद के अर्थ को व्यक्त करता हुआ बनता है। अश्व शब्द की निरुक्ति इसी अध्याय के पृष्ठ १३१ पर दी जा चुकी है।

ताण्ड्य महाब्राह्मण में इस प्रकार का उल्लेख आया है-'ते (देवाः) अग्निसम्मुखं कृत्वा साकं (सार्द्धं) अश्वेन (अश्वरूपेणाग्निना) अभ्यक्रामन् यत्साकमश्वेनाभ्यक्रामंस्तस्मात् साकमश्वम्'।[4]

डा० फतहसिंह का भी निर्वचन इसी प्रकार का है।[5]

४१-सामन्-ऋचा विशेष अथवा स्तुतिगीत का वाची है। यह तृच है।

इस शब्द की निरुक्ति के लिये ब्राह्मणकार द्वारा एक आख्यायिका प्रस्तुत की गई है-

---

१—वै०ए०पृ०२३३। २—वै०प०को०-३,पृ०१३सं०४। ३—ऐ०ब्रा०३.४९। ४—ता०ब्रा०८.८.४। ५—वै०ए०पृ०२२९ देखें।

'पहले ऋक् और साम अलग–अलग थे। सा ऋक् और अमः साम था। सा जो ऋक् थी उसने अमः नाम के साम से कहा कि हम दोनों मिथुन बनकर प्रसंग करें कि सन्तान हो जाय। साम ने कहा, 'नहीं, मेरी महिमा बड़ी है। ऋक् के दो होने पर भी साम ने यही बात दोहराई। ऋक् के तीन होने पर साम तीन ऋचाओं से मिल गया'।

'ऋक्च वा इदमग्ने साम चाऽऽस्तां सैव नाम ऋगासीदमो नाम साम सा वा ऋक्सामो यावदन्मिथुनं संभवाव प्रजात्या इति नेत्यब्रवीत्साम ज्यायान्वा अतो मम महिमेति ते द्वे भूत्वो पावदतां..........................यद्वै तत्साचामश्च समभवतां तत्सामाभवत्तत्साम्नः सामत्वम्'।[1]

यहां स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि सा और अमः से मिलकर साम शब्द बना है।

डा० फतहसिंह ने सा और अमः को पुरुष और प्रकृति के रूप में स्वीकार करके इनके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का संकेत अपने वैदिक-दर्शन ग्रन्थ में किया है।[2]

४२-होता-एक ऋत्विज् का नाम है। इष्टि के अङ्गभूत याज्या और अनुवाक्यों का वक्ता होता कहलाता है।

होता शब्द का निर्वचन प्रस्तुत करने के लिये ऐतरेयकार ने ब्रह्मवादियों की ओर से प्रश्न की अवतारणा की है-'प्रश्न होता है कि जब आहुति देने वाला अन्य व्यक्ति (अध्वर्यु) होता है तो याज्य और अनुवाक्य पढ़ने वाले का नाम होता क्यों है'-

'तदाहुर्यदन्यो जुहोत्यथ योऽनुचाऽऽह यजति च कस्मात्तं होतेत्याचक्षत इति'?[3]

इसका उत्तर देते हुये ब्राह्मणकार ने कहा है-क्योंकि वह देवताओं को यथास्थान यह कहकर बुलाता है-'अमुक को बुलाओ, अमुक को बुलाओ-यही होता का होतापन है-

'यद्वाव स तत्र यथाभाजनं देवता अमुमावहामुमावहेत्यावाहयति तदेव होतुर्होतृत्वं होता भवति'।[4]

ब्राह्मणकार ने प्रश्न खड़ा करके √हु धातु से उनके काल में प्रचलित होता की व्युत्पत्ति का संकेत किया है। होता शब्द का नामकरण कर्मानुसार देवों के बुलाने के कर्म के आधार पर हुआ है। अतः देवों के आह्वान कर्म के अनुसार इसका निर्वचन होना चाहिये। 'आवाहयति' क्रियापद में प्रयुक्त √ह्वे (आह्वाने) धातु से होता पद की निरुक्ति का संकेत ब्राह्मणकार द्वारा दिया गया है।

यास्क ने भी आह्वान अर्थ वाली √ह्वे धातु से इसका निर्वचन किया है। और्णवाभ √हु (दानादनयोः) से इसे निष्पन्न समझते हैं।[5]

१—ऐ०ब्रा०३.२३। २—वै०द०पृ०२१२-२१७ देखें।
३—ऐ०ब्रा०१.२। ४—वही १.२। ५—नि०७.१५।

तैत्तिरीय[1] और गोपथ ब्राह्मणों[2] में भी √ह्वे धातु से इस शब्द को निष्पन्न माना गया है।

ए० या० इसे लोकप्रिय निर्वचन मानते हैं और लिखते हैं कि √ह्वे से व्युत्पत्ति अर्वाचीन है। ऐतरेयकार की ऊपर उद्धृत शंका से भी √ह्वे द्वारा इसके निर्वचन की अर्वाचीनता प्रतीत होती है।

ऐतरेयब्राह्मण में निर्वचन के सिद्धान्त-

यास्काचार्य ने निर्वचन का प्रमुख सिद्धान्त अर्थ की परीक्षा करना दिया है। कहा है कि अर्थ को मुख्य मानकर उसकी समानता से निर्वचन करे-'अर्थनित्यः परीक्षेत'।[3]

इस कथन के पूर्व यास्क ने कहा है कि जिन पदों में स्वर, धातु, प्रत्यय, लोप, आगम आदि संस्कार उपपन्न हों, व्याकरण-शास्त्र की प्रक्रिया से अनुगत-उनका उसी प्रकार व्याकरण की रीति से निर्वचन करले।[4]

अर्थ की प्रधानता के साथ व्याकरण की प्रक्रिया को उन्होंने प्रथम स्थान दिया है। जब हम यास्क के निर्वचनों पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें वहां दो प्रकार के निर्वचन प्राप्त होते हैं-

(१) ऐसे निर्वचन जिनमें शब्द को एक ही धातु से निष्पन्न माना है।

(२) दूसरे वे निर्वचन जिनमें यास्काचार्य ने पद के विभिन्न अक्षरों को विभिन्न धातुओं, नामों आदि से व्युत्पन्न माना है।

ऐतरेयब्राह्मण के निर्वचनों में ये दोनों ही प्रकार मिलते हैं।

ऐतरेयब्राह्मणकार का मुख्य लक्ष्य निरुक्त पदों के अर्थ की यज्ञक्रिया के साथ सार्थकता बतलाना रहा है। उन्होंने पदों के निर्वचन के लिये तीन आधार अपनाये हैं-

(क) धातु के अर्थ के आधार पर।

(ख) दो नामों के मेल के आधार पर।

(ग) तस्येदम् अथवा तस्यविकारः (तद्धित) के आधार पर।

(१) धातु के आधार पर अधिकांश शब्दों की निरुक्तियों का संकेत ब्राह्मणकार ने प्रस्तुत किया है। ब्राह्मणकार ने आख्यान द्वारा अथवा सामान्य रूप से पदों की निरुक्ति बतलाई है। उन्होंने कर्मविशेष के निर्देशन में निरुक्ति के कारण का निर्देश करने वाले क्रिया-पद में विद्यमान धातु से प्रायः उस पद की निरुक्ति का संकेत किया है।

१—तै०ब्रा०३.३२.१०।   २—गो०ब्रा० १.१.१३।   ३—नि०२.१।
४—वही २.१।

निर्वचन के लिये प्रस्तुत ४२ पदों में ३३ पद[1] ऐसे हैं, जिनकी निरुक्ति के संकेतों में धातु का आधार ग्रहण किया गया है।

उक्त पदों में केवल एक 'आज्य' शब्द ऐसा है, जिसकी निरुक्ति में दो धातुओं का योग प्रतीत होता है। अश्व और पर्याय ये दो शब्द इस प्रकार के हैं, जिनकी निरुक्ति कुछ अस्पष्ट सी रही है।

धातुओं के अर्थ के आधार पर जब इन पदों के निर्वचन पर दृष्टिपात करते है, तो ब्राह्मणकार की निम्न-धाराएं प्रकट होती हैं—

(१) सामान्यतः एक धातु से एक ही अर्थ में निर्वचन किया गया है। यथा अश्व आदि के निर्वचनों में।

(२) कुछ शब्दों का निर्वचन एक ही अर्थ में भिन्न-भिन्न धातुओं द्वारा भी निष्पन्न किया गया है। यथा धाय्या का निर्वचन।

(३) कुछ शब्दों का एक धातु से भिन्न भिन्न अर्थों में भी निर्वचन किया गया है। यथा जातवेदस् और तनूनपात् के निर्वचन।

(ख) दो नामों के मेल से भी शब्द बनाकर उनकी निरुक्ति दिखलाई गई है। इस प्रकार के शब्दों में अपिशर्वराणि, स्वरसाम, साकमश्वं तथा साम शब्द आते हैं।

(ग) तस्येदम् या तस्यविकारादि भाववाची प्रत्ययों को लगाकर भी कुछ शब्दों की निरुक्ति की गई है। ऐसे शब्दों के अन्तर्गत आश्विन, महानाम्नी, वैरूपसाम, शक्वरी तथा षोडशी गिने जा सकते हैं।

ऐतरेयकार द्वारा प्रदत्त विशेष पदच्छेद

ब्राह्मण के एक स्थल[2] पर प्रपद नामक तीन मंत्रों[3] के पाठ का विधान किया है। इनमें प्रयुक्त वृत्राणि, समर्यराज्ये, शवमना, तथा पुरंध्या पदों का पदच्छेद विशेष प्रकार से किया गया है। वृत्राणि का वृत्रा + णि-समर्यराज्ये का सम + र्य + राज्ये-शवमना का श + वमना तथा पुरंध्या का पुरं + ध्या पदच्छेद किया है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर[4] अक्षर पंक्ति का उल्लेख करते हुये ब्राह्मणकार ने सु, मत्,वद्, पग्, दः अक्षरों का प्रदर्शन किया है। निरुक्तकार यास्क द्वारा तो इस प्रकार पदच्छेद करके निरुक्ति में उनकी सार्थकता दिखलाई गई है, किन्तु ब्राह्मणकार के इस पदच्छेद का अभिप्राय

१—पदों की सूची इस प्रकार है—अग्निष्टोम, अभितृण्णवती, अष्ट, अश्व, अहीन, आग्नीध्र, आज्य, आतिथ्य, आरम्भणीय, आहुति, इष्टि, ऊति, ग्रह, चतुष्टोम, ज्योतिष्टोम, जातवेद, तनूनपात्, धाय्या, न्यग्रोध, नानद, निविद्, पर्याय, परिसारक, प्रायणीय, पुरोडाश, पुरोरुक्, प्रैष, मानुष, यूप, विराट्, वेदी, संपात और होता। २—ऐ०ब्रा०८.११। ३—ऋ०९.११०.१-३। ४—ऐ०ब्रा०२.२४।

निर्बचन की दृष्टि से सुव्यक्त नहीं है । डा० सुधीर कुमार गुप्त ने वैदिक भाषा की एकाक्षरात्मक उत्पत्ति के विषय का उल्लेख करते हुये इनकी सार्थकता अवश्य मानी है ।[1]

निषकर्ष-ऐतरेयब्राह्मण के निर्वचनों की सामान्य विशेषतायें-

ब्राह्मण में प्रस्तुत निरुक्तियों में हमें निम्नलिखित विशेषतायें प्राप्त होती हैं-

१-ऐतरेयकार ने निर्वचन की दृष्टि से निर्वचन नहीं दिये हैं। उन्होंने जिन पदार्थों द्वारा कर्म की सम्पन्नता या सार्थकता बतलाई है, उनके लिये प्रयुक्त क्रियापदों में निरुक्ति के संकेत मिल जाते हैं ।

२-ब्राह्मण में प्राप्त होने वाले सम्पूर्ण निर्वचनों पर यज्ञ की छाप है । सभी निर्वचन यज्ञ की पारिभाषिक शब्दावलि के अन्तर्गत आ जाते हैं । यहां तक कि प्राकृतिक-पदार्थ परिसारक (स्थान विशेष का नाम) और न्यग्रोध (वृक्ष का नाम) भी यज्ञ के उपकरण बनकर ही निरुक्त हुये हैं । ऐसे पदार्थों का स्वतन्त्र रूप से कोई अस्तित्व दृष्टि में नहीं आ पाता । इसी प्रकार अश्व और मानुष जैसे सामान्य शब्द भी येन केन प्रकारेण यज्ञ से सम्बन्धित हैं ।

३- निर्वचनों की एक बड़ी विशेषता यह है कि प्रायः तीन चौथाई निर्वचन आख्यानात्मक हैं । इन निर्वचनों में प्रस्तुत पद की निरुक्ति का संकेत आख्यान द्वारा प्रमाणित किसी कर्म-विशेष को इंगित करने वाले क्रियापद के अन्तर्गत उपलब्ध होता है । अग्निष्टोम, अपिशर्वराणि, अभितृण्णवती, अश्व, अष्ट, आग्नीध्र, आज्य, आश्विन, इष्टि, ग्रह, चतुष्टोम, ज्योतिष्टोम, जातवेद, तनूनपात्, धाय्या, न्यग्रोध, नानद, निविद्, पर्याय, परिसारक, पुरोडाश, पुरोरुक्, प्रैष, महानाम्नी, मानुष, यूप, वेदी, वैरूपसाम, शक्वरी, सम्पात, साकमश्वं, तथा सामन् शब्दों के निर्वचन आख्यानात्मक हैं ।

४- कहीं कहीं यह भी देखा गया है कि पदविशेष के निर्वचन के साथ ही साथ उसके पर्यायवाची पद का निर्वचन भी प्रस्तुत कर दिया गया है । जैसे 'महा-नाम्नी' के साथ 'सिमा' का तथा 'आरम्भणीय' के साथ 'चतुर्विंशम्' के निर्वचन का भी उल्लेख किया गया है ।

५- ऐतरेयकार इस मत को भी मानते प्रतीत होते हैं कि एक ही शब्द प्रकरण बल से भिन्नार्थक होने पर भिन्न-भिन्न धातुओं से निष्पन्न किया जा सकता है ।

६- कुछ पदों के पदच्छेद विचित्र हैं, जिन्हें निर्वचन कहना सम्भव नहीं है ।

४—देखिये मोनो सिलेबिक ओरीजिन ओफ दी वैदिक लेंग्वेज़ ।
(मध्यविद्या विश्वसम्मेलन, नईदिल्ली, १९६४ में वांचित निबन्ध)

ऐतरेयब्राह्मण में छन्दस् का स्वरूप

ऐतरेयब्राह्मण में छंद-कल्पना

ऐतरेयब्राह्मण छन्दों के विषय में अपनी अनुपम-धारणा प्रस्तुत करता है। ब्राह्मणकार द्वारा छन्द चेतना-शक्ति-सम्पन्न समझे गये हैं। देवों के सहचर के रूप में अनेकशः उनकी अवतारणा हुई है। देवताओं और पशुओं के वे उन्नायक हैं। देवों के समकक्ष ही वे दिव्य-आराधना के पात्र माने गये हैं। उनके द्वारा सुरक्षा,शक्ति और भौतिक-समृद्धि की प्राप्ति होती है। उनका चरित्र गाथेय है। विभिन्न-कामनाओं के वर्षक के रूप में कई बार उनका चित्रण हुआ है।

ऐतरेयब्राह्मण के यज्ञानुष्ठानों में छन्दों का महत्त्व-

यज्ञों के विभिन्न-क्रिया-कलापों में छन्दों का बड़ा महत्त्व माना गया है। कर्म-विशेष के समय कामनानुसार देवता, सवन, सूक्त स्तोम, साम आदि के साथ ही साथ तद्रुप छन्दों का निदर्शन भी प्राप्त होता है। ऐतरेयब्राह्मण में छन्दों की उत्कृष्ट-मान्यता का स्वल्पाभास हमें 'पिछले' अध्यायों में मिल चुका है। छन्द देवों तक हवि पहुँचाते हैं। ऐतरेयब्राह्मण के एक सन्दर्भ में उल्लेख हुआ है-'देवों के लिये हव्य ढ़ोते-ढ़ोते छन्द थक गये और यज्ञ के पिछले भाग में ठहर गये। वे थककर इस प्रकार ठहरे, जिस प्रकार घोड़ा या खच्चर बोझा लेजाने के बाद थककर ठहर जाता है।[1] तैत्तिरीय संहिता में भी इस उल्लेख का समर्थन हुआ है। वहां कहा गया है-'अग्नि छन्दों की सहायता से देवों के पास हवि पहुँचाता है।[2]

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि छन्द यज्ञ का एक आवश्यक तत्त्व है। यदि उसे यज्ञ का सर्वस्व कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं है। ब्राह्मणकार ने एक स्थल पर छंदों का यज्ञ से घनिष्ठ-सम्बन्ध बतलाते हुये कहा है कि छन्द वे साध्य-देव हैं, जिन्होंने सर्व-प्रथम अग्निद्वारा अग्नि में हवन किया-'छंदासि वै साध्यदेवास्तेऽग्निना ऽग्निमयजन्त।'[3]

यह विवरण ऋग्वेद के मंत्र-'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'[4] की व्याख्या समझा जा सकता है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार प्रजापति ने यज्ञ को उत्पन्न करके छन्दों की सृष्टि की।[5] इन कथनों से यही भाव व्यक्त होता है कि छन्दों का यज्ञ से अविभाज्य सम्बन्ध है।

१—ऐ०ब्रा० ३.४७। २—तै०सं०२.२.४.८। ३—ऐ०ब्रा०१.१६।
४—ऋ०१०--९०.१६। ५—तै०सं०--३.३.७.०--२।

वाजसनेयि-संहिता में छन्दों को यज्ञ का अभिन्न अंग समझा गया है। यज्ञ में धर्म के तेज से गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती की समानता बतलाई है।[1] यज्ञ का प्रारम्भ छन्दों से हुआ और छन्द यज्ञ का विशिष्ट-लक्षण है। यज्ञानुष्ठानों में उनके शुभाशुभ प्रभाव की ओर यज्ञकर्ताओं का ध्यान कई बार आकर्षित किया जाता है।[2] वाजसनेयि-संहिता में भी छन्दों के महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। गायत्री से सम्बन्धित हव्यान्न की कल्पना करते हुये कहा गया है-'एषते गायत्रो भागः'।[3]

उक्त-विवरण पर दृष्टिपात करते हुये ऐतरेयब्राह्मण में प्रदर्शित छन्दस् का स्वरूप जानने के लिये उनकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का विस्तुत-अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है।

ऐतरेयब्राह्मण में छन्दों का गाथेय-चरित्र

छन्दों का अत्यन्त उल्लेखनीय चरित्र तो यही है कि वैदिक पुरा कथा-शास्त्र में उनका अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्राह्मणकार ने उनको रात्रि का देवता बतलाया है। कहा है कि छन्द रात्रि को धारण करते हैं-'छंदांसि च रात्रीं वहन्ति।'[4] छन्दों के लिये ऐतरेयब्राह्मण में देविका आहुतियों का विधान किया गया है। गायत्री, त्रिष्टुभ्, जगती और अनुष्टुभ् को क्रमश. द्यौ, उष्षा, गो और पृथिवी के रूप में मानकर देविका आहुतियां दी जाती हैं।[5] वाजसनेयि-संहिता में छन्द विशेष के लिये बलि-विशेष की योजना प्रस्तुत की गई हैं-'गायत्री के लिये तीन अवि, त्रिष्टुभ् के लिये पांच अवि, जगती के लिये दो वर्ष का दितयवाह इत्यादि'।[6]

ऐतरेयब्राह्मण की देविका-आहुतियों से मिलता-जुलता प्रसंग तैत्तिरीय संहिता का है। उसमें एक आख्यान के रूप में कहा गया है-'छन्द देवों के पास से चले गये। देवों ने उनके लिये चार भागों में विभक्त आहुतियां दीं'।[7] इसी संहिता में एक स्थल पर गायत्री-इष्टि का वर्णन है, जो विशेषरूप से गायत्री के सम्मान में देवता द्वारा की जाती है।[8] मनुष्य ही नहीं देवताओं द्वारा भी छन्दों का सम्मान होता रहा है।

ऐतरेयब्राह्मण में वर्णित देवताओं में छन्दों का स्थान

छन्दों को 'देविका' भी कहा गया है।[9] छन्द देविका या छोटे देवता हैं। यही नाम तैत्तिरीय संहिता में भी 'छन्दांसि वै देविका'[10]-कहकर स्पष्ट कर दिया है। शतपथ ब्राह्मण में भी 'छन्दांसि देव्यः'[11] कहा गया है। छन्दों के साध्य-देव नाम का

१—वा०सं०३८.१८। २—अ-द्रष्टव्य ऐ०ब्रा०-१.२१ तथा १.२५ आदि। ३—वा०सं०४.२४। ४—ऐ०ब्रा० ४.५। ५—वही ३.४८। ६—वा०सं०२४.१२। ७—तै०स०२.६.३.२। ८—वही २.४.३.२। ९—ऐ०ब्रा०-३.४७। १०—तै०स०३.४.९.१। ११—श०ब्रा०९.५.१.३९।

उल्लेख किया जा चुका है। ब्राह्मण के एक अन्य स्थल पर यह कहा गया है कि केवल छंदों के ही सहारे देवताओं ने स्वर्ग की प्राप्ति की–'छन्देभिरिष्ट्वा देवाः स्वर्गलोकमजयत्'।[1] देवताओं के पास से जब यज्ञ उत्क्रमण कर जाता है, तब देवता छंदों के ही सहारे यज्ञ को प्राप्त करते हैं–'तमब्रुवन् ब्राह्मणेन च नश्छन्दोभिश्व सयुग्भूत्वाऽन्नाद्याय तिष्ठस्वेति तथेति तस्माद्धाप्येतर्हि यज्ञः सयुग्भूत्वा देवेभ्यो हव्यं वहति'।[2] यह कहा जा सकता है कि छन्दों में ही यज्ञ और स्वर्ग का विस्तार है।

छंदों को प्रजापति अथवा यज्ञ के अंग समझा गया है–'प्रजापतेर्वा एतान्यङ्गानि यच्छंदांसि'।[3] शतपथ ब्राह्मण ने भी एक स्थल पर इसी कथन को इस प्रकार दोहराया है–'प्रजापतिरेवच्छन्दोऽभवत्।'[4] देवताओं को गायत्री की ही प्रकृतिवाले बतलाया गया है।[5] ऐतरेयकार ने एक स्थल पर कहा है कि कुछ देवता छंदों में भाग लेने वाले हैं, उनको स्तुति और प्रशंसा से प्रसन्न किया जाता है–

'अथ यत्स्तुवन्ति च शंसन्ति च तेन स्तोमभागच्छन्दोभागाः इति'।[6]

विभिन्न पदार्थों एवं प्राणियों के सहचर रूप में छन्द

छंद दिव्य और चेतन हैं, प्रधानतः विभिन्न देवों के सहचर रूप में वर्णित हुये हैं। उनका सम्बन्ध मुख्य रूप से अग्नि से है। ऐतरेयब्राह्मण के प्रारम्भ में ही बतलाया गया है कि गायत्री अग्नि का छन्द है–'गायत्रमग्नेश्छन्दः'।[7] अग्नि भी स्वयं गायत्री कहलाती है, क्योंकि अग्नि गायत्री के साथ प्रजापति के मुख से निकली है। अग्नि के सूक्त प्रायः गायत्री छंद में हैं। अग्नि के साथ छंदों के सम्बन्ध का आधार यज्ञ है। अग्नि यज्ञ का प्रधान तत्त्व है, इसीलिये सारे छन्द उससे सम्बन्धित हैं। त्रिष्टुभ् दूसरा छन्द है, जो इन्द्र देवता का है। स्वर्ग से सोम लाने का कार्य गायत्री छन्द द्वारा ही सम्पन्न होता है। ऐतरेयकार ने उष्णिक् का सम्बन्ध सविता से, बृहती का बृहस्पति से, पंक्ति का मैत्रावरुण से और जगती का विश्वेदेवाः से बतलाया है।[8]

देवताओं के पश्चात् छंदों का सम्बन्ध यज्ञ और सवनों से है। सवनों की पूर्ण शक्ति छन्दों की सहायता से ही प्रस्फुटित होती है। ऐतरेयब्राह्मण में विभिन्न छन्दों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न सवनों से बतलाया गया है। गायत्री को त्र्यह के मध्य-सवन का वाहक कहा गया है–'ता उ गायत्र्यो गायत्र्यो वा एतस्य त्र्यहस्य मध्यंदिनं बहन्ति,'।

१—ऐ०ब्रा०१.९। २—वही ३.४५। ३—वही २.१८। ४—श०ब्रा० ८.२.३.९। ५—ऐ०ब्रा०३.१७। ६—वही २.१८। ७—वही १.१। ८—ऐ०ब्रा०८.६ तु०क०ऋ०१०।..............में देवताओं और छन्दों के सम्बन्ध का विवरण। ९—बही ५.१३।

ऐतरेयब्राह्मण में छन्दों की बिम्ब-सृष्टि या लाक्षणिक चित्रण

ऐतरेयब्राह्मण में छन्दों का चित्रण प्रायः लाक्षणिक रूप में पाया जाता है। यहां छन्दों को पक्षी के रूप में चित्रित किया गया है। छन्दों के पक्षी रूप के समर्थन के लिये ऐतरेयब्राह्मण का सौपर्ण-आख्यान प्रस्तुत किया जा सकता है। इस आख्यान में दूसरे लोक से सोम को लाने के लिये छन्दों का प्रयास वर्णित है। इस आख्यान में कहा गया है कि सोम राजा दूसरे लोक में था। देवो और ऋषियों ने विचार किया कि सोम उन तक कैसे आवे। उन्होंने छन्दों से कहा-'छन्दों ! तुम सोम राजा को हम तक लाओ'। वे मान गये और सुपर्ण बनकर उड़े। छन्दों के सुपर्ण बनकर उड़ने के कारण ही इस घटना को 'सोपर्णाख्यान' कहते हैं। जो छन्द सोम राजा को लेने के लिये उड़े थे, वे चार अक्षर के थे जगती, त्रिष्टुभ् और गायत्री क्रमशः उड़े। प्रथम दो छन्द अपने अभियान में असफल रहे। गायत्री ने लक्ष्य पर पहुँच कर सोम के संरक्षकों को डरा दिया और सोम को अपने पैरों और चोंच से पकड़ लिया। सोम--पालक कृशानु ने उस पर तीर छोड़ा, फिर भी वह सोमको लेकर लौट आई।[1]

इसी प्रकार ब्राह्मणकार ने अन्य स्थल पर गायत्री के बारे में स्पष्ट रूप से कहा है-'यह जो द्वादशाह है वह पक्षिणी, चक्षुष्मती, ज्योतिष्मती और भास्वती गायत्री ही है। दो अतिरात्र इसके दो पंख हैं, दो अग्निष्टोम दो आंखें और जो मध्य के आठ उक्थ हैं, वे इसकी आत्मा हैं।[2]

इस प्रकार सब छन्द विभिन्न पक्षियों के रूप में तो चित्रित किये ही गये हैं, किन्तु उनको सम्मिलित रूप में एक पक्षी मानकर, भिन्न-भिन्न अवयवों के रूप में उनका चित्रण किया गया है। शतपथ ब्राह्मण ८.६.२.६-१४ में इस प्रकार का उल्लेख हुआ है। छन्दों के समष्टि-रूप में पक्षी का सिर उक्त स्थल पर गायत्री को बताया गया है।

छंदों का पक्षी रूप में जो लाक्षणिक चित्रण मिलता है, उसका कारण हमें ऋग्वेद के एक मंत्र में मिलता प्रतीत होता है-

'यज्ञेन वाचः पदवीयमायंस्तामन्वविन्दन्नृषिसु प्रविष्टाम्।
ता मा भृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसंनवन्ते।[3]

इसका अर्थ यह है कि विदितार्थ धीर पुरुषों ने पद से प्राप्त होने योग्य वाक् के मार्ग को यज्ञ से प्राप्त किया और उस वाक् को अतिसूक्ष्म अर्थों के ज्ञाता ऋषियों में प्रविष्ट पाया। तदनन्तर उस वाक् को विस्तार से संवादन कर अनेक स्थलों पर

१—ऐ०ब्रा०३.२५। २—वही ४.२३। ३—ऋ०१०-७१.३।

फैलाया। ऐसी वाक् को शब्द करते हुये सात पक्षी चारों ओर फैलाते हैं। यहां पक्षी वाचक 'रेभ' शब्द से गायत्री आदि सात छन्द विवक्षित हैं।[1]

ऐतरेयब्राह्मण में छन्दों को पशु भी कहा गया है।[2] पशु स्वरवाची हैं–'पशवो वै स्वरः'।[3] समीकरण के द्वारा छन्द भी स्वर[4] अथवा वाक् के अर्थ का द्योतक हो जाता है।

ऐतरेयब्राह्मण में छन्दों का श्रेणीक्रम

संहिता और ब्राह्मणकालीन संस्कृति में सभी प्रमुख पदार्थों में वर्ण या श्रेणीक्रम दिखलाई पड़ता है। छन्द भी इस से तथा ऊंच नीच के भाव से अछूते नहीं रह पाये हैं। ऐतरेयब्राह्मण में कहा गया है–'गायत्रो वै ब्राह्मणः, त्रैष्टुभो वै राजन्यः, जागतो वै वैश्यो'[5] इत्यादि। इसमें गायत्री ब्राह्मण से, त्रिष्टुभ् क्षत्रिय से तथा जगती वैश्य से सम्बन्धित बतलाई गई है। तैत्तिरीय-संहिता में भी इसी प्रकार का वर्णन है–'गायत्रो हि ब्राह्मणो, त्रैष्टुभो हि राजन्यः'[6] इत्यादि। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि वर्णों जैसा श्रेणी-क्रम उनका उत्तरोत्तर तथा पारस्परिक उत्कृष्टता का द्योतक है।

ऋग्वेद में गायत्री के बड़प्पन के विषय में कहा गया है–'गायत्री अपनी महानता के गुण के कारण अन्य छन्दों से बढ़ गई'।[7] ऐतरेयब्राह्मण में छन्दों को प्रजापति के अंगों से उत्पन्न हुआ बतलाया गया है।[8] तैत्तिरीय संहिता में छन्दों की प्रजापति से उत्पत्ति बतलाते हुये प्रजापति के विभिन्न अंगों से विभिन्न छंदों की उत्पत्ति मानी है। वहां कहा गया है कि अनुष्टुभ् की उत्पत्ति प्रजापति के पैर से हुई है।[9]

छंदों के श्रेणीक्रम के विषय में एक सी मान्यता सर्वत्र नहीं देखी जाती। एक ही संहिता या ब्राह्मण में एक स्थल पर गायत्री की महिमा का गान किया गया है तो दूसरे स्थल पर उसी तीव्रता से अनुष्टुभ् की महानता का बखान हुआ है। ऐतरेय-ब्राह्मण ३.१३ में उल्लेख हुआ है–'प्रजापति का अपना छन्द अनुष्टुभ् था। उसको उसने अन्तिम अच्छावाकीय मंत्र में रख दिया। अनुष्टुभ् के आपत्ति उठाने पर प्रजापति ने अपना सोम यज्ञ लेकर अनुष्टुभ् को उसके मुख पर ही रख दिया'। इसी प्रकार तैत्तिरीयसंहिता में–'परमा वा एषा छन्दसां यद् अनुष्टुभ्' कहकर अनुष्टुभ् को सर्वोपरि स्वीकार किया है।[9]

१—देखो वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति पृ०५३। २—ऐ०ब्रा०४.२१।
३—वही ३.२४। ४—निघंटु १.११ में वाक् के नामों में गिना गया है।
५—ऐ०ब्रा०१.२८। ६—तै०सं०५.१.४.५। ७-ऋ०सं०१-१६४.२५।
८—ऐ०ब्रा०२.१८। तै०सं०७.१.१.१। ६—वही ५.४.१२.१।

ऐतरेयब्राह्मण में वर्णित छन्दों के विविध-कार्य

जिस प्रकार ऋग्वेद १-१६४.२४ में गायत्री के द्वारा सप्त-छंदों को मापने की व्यवस्था दी है; उसी प्रकार ऐतरेय-ब्राह्मण में भी चार चार अक्षर जोड़कर छन्दों द्वारा अक्षर-माप स्थिर किया गया है। छन्दों के व्यूढ़-क्रम से इस बात की पुष्टि की जा सकती है।[1] इस कथन के अनुसार छन्दों का प्रमुख कार्य तो माप-करना है। इसके अतिरिक्त रक्षा, वस्तु-प्राप्ति, अभ्युदय, कामनावर्षण, सृष्टि-सर्जन आदि छन्दों के कार्य बतलाये गये हैं। ऐतरेयब्राह्मण में वर्णित उनके कतिपय कार्यों का विवरण निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

(क) संरक्षण

छंदों का विशेष उल्लेखनीय कार्य संरक्षण है। उनका यह कार्य 'अपिशर्वराणि' शब्द के निर्वचन की पुष्टि में दी हुई आख्यायिका द्वारा सुस्पष्ट हो जाता है। इसमें छन्दों द्वारा इन्द्र को मृत्युरूपी अन्धकार से बाहर लाया जाना वर्णित है। इन्द्र स्वयं देवों का रक्षक है। उसे देवता व मनुष्य अपनी सहायता के लिये बुलाते हैं। यहां छंद उस रक्षक के रक्षक बनकर सामने आते हैं। अतः इन्द्र से कहीं अधिक शक्तिशाली प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार ऐतरेयब्राह्मण में वर्णित राज्याभिषेक-विधि में कहा गया है कि राजा दोनों हाथों से सिंहासन को पकड़कर कहता है-'हे सिंहासन ! तुझ पर अग्नि गायत्री छंदों से चढ़े। सविता उष्णिक् से, सोम अनुष्टुप् से, बृहस्पति बृहती से, मित्रावरुण पंक्ति से, इन्द्र त्रिष्टुप् से और विश्वेदेवा जगती से चढ़े।[2]

इसी प्रकार इन्द्र के महाभिषेक के वर्णन में ऐसे ही प्रसंग का उल्लेख हुआ है। इन्द्र स्वयं सिंहासन को सम्बोधन करके कहता है-'वसु तुझ पर गायत्री छन्द से, रुद्र त्रिष्टुभ् से, आदित्य जगती से, विश्वेदेवा अनुष्टुप् से, साध्य और आप्त्य पंक्ति छन्द से तथा मरुत् और अंगिरा तुझ पर अतिछन्दस् छंद से चढ़े।[3]

वाजसनेयि-संहिता में इसी प्रकार का प्रसंग मिलता है।[4] शतपथ-ब्राह्मण की एक आख्यायिका के अनुसार विष्णु देवों द्वारा छन्दों की सहायता से अभिरक्षित होते हैं।[5]

(ख) भौतिक पदार्थों की प्राप्ति में सहायता

ऐतरेयब्राह्मण के एक प्रसंग में कहा गया है कि यज्ञ जब देवों से उत्क्रमण कर अन्नादि में चला गया है, तब वे बड़े चिन्तित हुये। देवों ने विचार किया कि

१—ऐ०ब्रा०२.१८। २—ऐ०ब्रा०८.६।
३—वही ८.१२। ४—वा०सं०१०.१०-१४। ५—श०ब्रा०१.२.५ १-६।

ब्राह्मण और छंदों द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है। अतः उन्होंने ब्राह्मण और छंदों द्वारा यज्ञ को प्राप्त किया।[1] किसी भौतिक-पदार्थ की अवाप्ति में सहायता करना छन्दों का स्वभाव है। ऐतरेयब्राह्मण के एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि बृहती के दस अक्षरों द्वारा देवों ने इस लोक को प्राप्त किया।[2] तैत्तिरीय संहिता में भी कुछ भिन्न शब्दों द्वारा इसी कथन की पुष्टि होती है। वहां कहा गया है कि देवों ने छन्दों द्वारा इन लोकों को प्राप्त किया।[3]

(ग) देवों और मनुष्यों का उन्नयन

ब्राह्मण के कई स्थलों पर उल्लेख हुआ है कि छंद देवता और यजमान को स्वर्ग पहुँचाते हैं। ऐतरेयब्राह्मण के एक स्थल पर कहा गया है कि देव छन्दों द्वारा यज्ञ करके स्वर्ग को गये। इसी प्रकार यजमान भी छन्दों द्वारा यज्ञ करके स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है-'सर्वैं वै छन्दोभिरिष्ट्वा देवाः स्वर्गलोकमजयंस्तथैवैतद्यजमानः सर्वैंश्छन्दोभिरिष्ट्वा स्वर्गं लोकं जयति'।[4]

(घ) कामनाओं का वर्षण

प्रत्येक छन्द का एक विशिष्ट-लिंग माना गया है। निर्दिष्ट गुण अथवा विशेषता के अनुसार छन्दों का उपयोग करने वालों की तद्विषयक कामना पूर्ण हो जाती है। ऐतरेयब्राह्मण में इस विषय का उल्लेख निम्न प्रकार हुआ है-

'गायत्री तेज और ब्रह्मवर्चस् वाली है। जो गायत्री छन्द वाले मंत्रद्वय का पाठ करता है, वह तेजस्वी और ब्रह्मवर्चसी हो जाता है। उष्णिक् आयु वाला है। जो उष्णिक् छन्द वाले दो मंत्रों को पढ़ता है,वह पूर्ण आयु प्राप्त करता है। जो अनुष्टुभ् छन्द वाले मंत्रों को पढ़ता है, उसको स्वर्ग में प्रतिष्ठा मिलती है। छन्दों में बृहती छन्द श्री और यश वाला है। जो बृहती छन्द वाले मंत्रों को पढ़ता है, वह अपने में श्री और यश को धारण करता है। इसी प्रकार यज्ञ की कामना वाला पंक्ति छन्द वाले मंत्रों को, पराक्रम की कामना वाला त्रिष्टुभ् छन्द वाले मंत्रों को, पशु की कामना वाला जगती छन्द वाले मंत्रों को तथा अन्न की कामना वाला विराट् छन्द वाले दो मंत्रों को पढ़े,।[5]

इस प्रकार छन्द अपने उच्चारण-कर्ताओं की विभिन्न कामनाओं की पूर्ति करते हुये वर्णित किये गये हैं।[6]

१—ऐ०ब्रा०३.४५। २—वही ४.२४। ३—तै०सं१.७.५.४।

४—ऐ०ब्रा०१.६, श०ब्रा०५.६.३.१० में इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं।

५—ऐ०ब्रा०१.५। ६—तु०क०श०ब्रा०६.४.३.२ तथा तै०सं०५.१.३.५।

(ङ) पुराकथाओं की नीति में सक्रिय भाग

छन्द पुराकथाओं में प्रधान एवं शक्तिशाली पुरुष के रूप में चित्रित किये गये हैं। वे न्याय के पक्षपाती हैं तथा अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। ऐतरेयब्राह्मण ३.१३ की आख्यायिका (जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है) के अनुसार अनुष्टुभ अपने उचित स्थान के लिये संघर्ष करता है। प्रजापति अपनी भूल स्वीकार करके उसे सोमयज्ञ में प्रथम स्थान देता है। इस बात को ही दृष्टि में रखकर सब सवनों में पहले अनुष्टुभ् रखा जाता है।

देवासुरा-संग्राम में छन्द सदैव देवताओं का पक्ष लेते रहे हैं। ऐतरेयकार द्वारा बतलाया गया है कि उन्होंने पर्यायों द्वारा रात्रि से असुरों को निकाल दिया तथा इन्द्र की पूरी पूरी सहायता की।[1]

शतपथ ब्राह्मण में भी इसी प्रकार की एक आख्यायिका प्रस्तुत हुई है, जिसमें गायत्री देवासुर-संग्राम में देवों का पक्ष लेकर उनको विजय प्राप्त कराती है।[2] उसी ब्राह्मण में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि इन्द्र वृत्र पर वज्र गिराकर छिप गया। उसको अग्नि और बृहती छन्द खोजने के लिये निकले।[3]

ऐतरेयब्राह्मण में वर्णित छन्दों द्वारा सृष्टि

ऐतरेयब्राह्मण में बतलाया गया है कि छन्दों ने गर्भ धारण कर अन्य छन्दों को उत्पन्न किया है। गायत्री ने गर्भधारण किया और उससे अनुष्टुभ् की उत्पत्ति हुई। त्रिष्टुभ् के गर्भधारण से पंक्ति की उत्पत्ति हुई। जगती ने गर्भधारण किया और अतिच्छन्दस् पैदा हुआ-

'सा गायत्री गर्भमधत्त साऽनुष्टुभमसृजत, त्रिष्टुभ्गर्भमधत्त सा पङ्क्तिमसृजत, जगती गर्भमधत्त साऽतिच्छन्दसमसृजत।[4]

छन्दों का पक्षी रूप में चित्रण हुआ है। उनके अंगों से विभिन्न प्राणियों की उत्पत्ति हुई है। सौपर्ण-आख्यान[5] के उत्तरार्ध में बतलाया गया है कि 'जब गायत्री सोम लाने उड़ी, तब सोम के रक्षक कृशानु ने एक तीर छोड़ा। इससे गायत्री के बायें पैर का नाखून गिर गया। वह नाखून से ही (शल्यक्)[6] बना। नाखून से जो वसा गिरी, वह वशा (बकरी) बन गई। तीर की जो नोंक थी, वह काटने वाला सर्प बनी। जिस बल से तीर छोड़ा गया था, उससे स्वजनामी सर्प हुआ। जो पंख थे, उनसे

१—देखिये इसी ग्रन्थ में अपिशर्वराणि का निर्वचन। २—श०ब्रा० १.४.१.३४। ३-वही १.६.४.२। ४—ऐ०ब्रा०४.२८। ५-वही ३.२५२७।
६—अनुष्ठान-विशेष के समय आज भी शल्यक् का कांटा शिखा में धारण किया जाता है।

अश्वत्थ की हिलने वाली शाखायें बनीं । स्नायु से गंडूपद और तीर के तेज से अंधाहि (अंधसर्प) उत्पन्न हुआ ।

ऐतरेयब्राह्मण में छन्दों की प्राथमिक अवस्था का चित्रण

ऐतरेयब्राह्मण में वर्णित 'सौपर्ण-आख्यान' के पूर्वार्ध में उल्लेख हुआ है कि छन्द पहले चार अक्षरों के थे-'छन्दांसि वै तत्सोमं राजानमच्छाचरंस्तानि ह तर्हि चतुरक्षराणि चतुरक्षराण्येव च्छन्दांसि; ।[1]

जगती और त्रिष्टुभ् ने जब सोम को लाने के लिये स्वर्ग की ओर अभियान किया, उस समय उनके क्रमशः तीन और एक अक्षर जाते रहे । जगती एकाक्षरा और त्रिष्टुभ् त्र्याक्षर रह गया । गायत्री का सोमभियान पूर्ण हुआ । वह जगती और त्रिष्टुभ् के छोड़े हुये चार अक्षरों को भी साथ में लेती आई । इस प्रकार गायत्री के आठ अक्षर हो गये । गायत्री ने अपने आठ अक्षर त्रिष्टुभ् को दिये, अतः त्रिष्टुभ् ग्यारह अक्षरों का हो गया । गायत्री ने त्रिष्टुभ् के एकादशाक्षरों को जगती पर रख दिया, अतः जगती बारह अथरों वाली हो गई–

'साऽष्टाक्षरा गायत्री प्रात:सवनमुदयच्छन्नाशन्कोत्रिष्टुप्त्र्यक्षरा माध्यंदिनं सवनमुद्यन्तु तां गायत्र्यब्रवीदायान्यपि मेऽत्रस्त्विवति सा तथेत्यब्रवीत् त्रिष्टुप्तां वै मैतैरष्टाभिरक्षरैरुपसंधेहीति द्वादशाक्षरा जगती, इति' ।[2]

इस प्रकार गायत्री के आठ, त्रिष्टुभ् के ग्यारह और जगती के बारह अक्षर हुये ।

ऐतरेयब्राह्मण में वर्णित प्रमुख छन्द

ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार मुख्य छन्द गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती हैं । अन्य छन्द इनका ही अनुसरण करते हैं । यज्ञ में ये तीन ही विशेष उपयोगी समझे गये हैं 'एतानि वाव सर्वाणि च्छन्दांसि गायत्रं त्रैष्टुभं जागतमन्वन्यान्येतानि हि यज्ञे प्रतमामिव क्रियन्ते' ।[3] इस प्रसंग में यहां तक कह दिया गया है कि इन छंदों से किया हुआ यज्ञ सब छंदों द्वारा किये गये यज्ञ के समान होता है–'एतैर्ह बा अस्य च्छन्दोभिर्यजतः सर्वैश्छन्दोभिरिष्टं भवतिय एवं वेद' ।

इसी प्रकार ब्राह्मण के दूसरे स्थल पर गायत्री, त्रिष्टुभ्, जगती और अनुष्टुभ् को प्रधानता दी गई है। अन्य छन्द इनके अनुयायी माने गये हैं ।[4] इस प्रसंग में भी ऊपर जैसी ही शब्दावलि का प्रयोग किया गया है।

१—ऐ०ब्रा०३.२५ । २—वही ३.२८ । ३—वही १.९ ।
४—ऐ०ब्रा०३.४८ ।

ऋग्वेद में मुख्यतः गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती-इन्हीं तीन छन्दों का वर्णन हुआ है।[1] वाजसनेयि-संहिता में इन्हीं तीन छन्दों को विष्णु के त्रिपाद का प्रतीक कहा गया है।[2] ऐतरेयब्राह्मण में सात छन्दों का भी उल्लेख मिलता है। कहा गया है कि दोनों आश्विनों के लिये सात छन्द बोले जाते हैं, क्योंकि वाणी ने सात प्रकार से कहा। पूर्ण वाणी और पूर्ण ब्रह्म में ये ही सात छन्द हैं--

'सप्ताऽऽश्विनानि च्छंन्दास्यन्वाह सप्तधा वै वागवदत्ता वद्द्ँ वागवदत्सर्वस्यै वाचः सर्वस्य ब्रह्मणः परिगृहीत्यै'[3]।

ऋग्वेद के एक मंत्र में 'अक्षरेण मिमते सप्तवाणीः'[4] कहकर उपर्युक्त विषय की ओर इंगित किया प्रतीत होता है। सम्भवतः सात प्रकार की वाणी सात छन्दों के साथ ही साथ सप्त स्वरों का भी संकेत करती है। सप्त-स्वरों का विवेचन इसी अध्याय में आगे किया जायगा।

ऐतरेयब्राह्मण १.५ में गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ् और जगती इन सात छन्दों के साथ साथ विराट् छन्द का भी नाम आया है। विराट् छन्द के लिये कहा है कि इसमें तीन पाद होने से उष्णिक् और गायत्री के समान, पदों में ग्यारह अक्षर होने से त्रिष्टुभ् के समान और तैंतीस अक्षर होने से अनुष्टुभ् के समान है। इनके अतिरिक्त ऐतरेयब्राह्मण में रोहित छन्द, बृहत् छन्द, अतिच्छन्द और अति-जगती छन्द का उल्लेख भी अप्रधान रूप से हुआ है।

भिन्न-भिन्न छन्दों के मंत्र उच्चारण करने का कारण ऐतरेयकार ने बड़े सुन्दर ढंग से बतलाया है। कहा है कि होता भिन्न भिन्न छन्द वाले मंत्र इसलिये बोलता है कि यज्ञ रूपी शरीर के बाह्य अंग (हाथ पैर आदि) भिन्न-भिन्न परिणाम के हैं-'यज्ञस्यान्तस्त्यं विक्षुद्रमिव वा अन्तस्त्यमणीय इव च स्थवीय इव च तस्मादेता विच्छन्दसो भवति'।[5]

ऐतरेयब्राह्मण के छन्दों का व्यष्टिगत-निरूपण

विभिन्न यज्ञों के प्रसंगों में यज्ञानुसार विशिष्ट-विशिष्ट देवों के चुनाव के साथ ही साथ छन्दों के वैविध्य का निदर्शन प्राप्त होता है। गायत्री आदि छन्दों से सम्बन्धित प्रभूत सामग्री ऐतरेयब्राह्मण में बिखरी पड़ी है। इस अध्याय के अन्य शीर्षकों से बची हुई सामग्री नीचे प्रस्तुत की जाती है।

(अ) गायत्री छन्द और उसका स्वरूप

ऐतरेयब्राह्मण में गायत्री छन्द का सर्वाधिक वर्णन हुआ है। पूरे ग्रन्थ में साठ बार गायत्री का नामोल्लेख हुआ है। यज्ञ में अग्नि की प्रधानता है। गायत्री अग्नि

१—ऋ०१-१६४.२३। २—वा०सं० १.२७। ३—ऐ०ब्रा०२.१७।
४—ऋ०१-१६४.२४। ५—ऐ०ब्रा०१.२१।

का छन्द है।[1] ग्रन्थारम्भ में ही गायत्री का नाम मिलता है। कहा गया है कि गायत्री आठ अक्षरों वाली है। इसमें तीन चरण होते हैं--'अष्टाक्षरा वै गायत्री'।[2] अग्नि की ऋचायें गायत्री छन्द में होती हैं--'आग्नेयं गायत्रम्'।[3] सविता के मंत्र गायत्री छन्द में भी होते हैं--'सवितुर्गायित्र्यौ'।[4] गायत्री सोम का छन्द है--'तृचं सौम्यं गायत्र्यमन्वाह सोमे राजनि प्रोह्यमाणे स्वयैवैनं तद्देवतया स्वेन च्छन्दसा समर्धयति'।[5] इस प्रकार गायत्री का सम्बन्ध अग्नि, सबिता तथा सोम तीनों से है। गायत्री पाप के अनिष्ट फलों को निवारण करने वाली है--'पाप्मानं शमलमपाघ्नत गायत्र्यैवास्य तत्पाप्मानं शमलमपहन्ति'।[6] इसका भाव यह है कि गायत्री को अत्यन्त ही पवित्र समझा गया है। कहा गया है कि ब्राह्मण यजमान के लिये होता को गायत्री छन्द बोलना चाहिये, क्योंकि गायत्री का सम्बन्ध ब्राह्मण से है--'गायत्रीं ब्राह्मणस्यानुब्रूयात्, गायत्रो वै ब्राह्मणः'।[7] गायत्री प्राण का छन्द है।[8] यहां वाक् और प्राण को इन्द्रवायु के ग्रह कहा है। 'छन्दोभ्यां यथायथं क्लप्स्ये--(कलप्स्ये) ते 'कहकर ब्राह्मणकार ने वाक् का सम्बन्ध अनुष्टुभ् और प्राण का सम्बन्ध गायत्री से बतलाया प्रतीत होता है।

गायत्री के अक्षर--शरीर की दूसरे छन्दों से तुलना करते हुये उल्लेख हुआ है कि बारह अनुष्टुप् सोलह गायत्री के बराबर हैं।[9] प्रातः सवन के आरम्भ और अन्त में गायत्री छन्द का पाठ प्रशस्त कहा गया है--'गायत्रीमेव तदुभयतः प्रातः सवने ऽचीक्लृपताम्'।[10] प्रातः सवन का निर्माण स्वयं गायत्री ने किया है और उसे अपना स्थान बना लिया है--'सा यद्दक्षिणेन पदा समगृभ्णात्तत्प्रातः सवनमभवत्तद्गायत्री स्वमायतनमकुरुत'।[11] इस कथन के साथ ही गायत्री के सम्पर्क में आने के कारण प्रातः सवन को मुख्य और श्रेष्ठ कहा जाता है–'तस्मात्तत्समृद्धतमं मनयन्ते सर्वेषां सवनाना-मग्रियो मुख्यो भवति'[12] 'सौपर्ण–आख्यान' के प्रसंग में गायत्री द्वारा तीनों सवनों की उत्पत्ति का विवरण भी प्रस्तुत हुआ है।

गायत्री को ब्राह्मण बतलाते हुए एक स्थल पर कहा गया है कि रुद्र की बीभत्सता को दूर करने के लिये गायत्री छंद में रुद्र की उपासना करनी चाहिये।[13] गायत्री को अग्निष्टोम का प्रतीक माना है। कहा गया है कि अग्निष्टोम ही गायत्री है। गायत्री में चौबीस अक्षर होते हैं, तथा अग्निष्टोम में भी चौबीस स्तोम एवं शस्त्र हैं–

१—ऐ०ब्रा० १.१। २—वही--१.१०। ३-वही १.३०। ४-वही १.६। ५-वही १.१३। ६-वही २.१७। ७-वही १.२८। ८-वही २.२६। ९-वही २.३७। १०-वही ३.१२। ११-वही ३.२७। १२-वही ३.२७। १३– वही ३.३४।

'सा वा एषा गायत्र्येव यदग्निष्टोमश्चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री चतुर्विंशतिरग्निष्टोमस्य स्तुतशस्त्राणि'।[1]

गायत्री उन्नायक है। यजमान को स्वर्ग में पहुंचा देती है। जैसे एक अच्छा सधा हुआ घोड़ा सवार को आराम पहुंचाता है, वैसे ही गायत्री भी सुख पहुंचाती है।[2]

पुरुष गायत्री होता है–'गायत्रो वै पुरुषः'।[3] गायत्री ब्रह्म है–'ब्रह्म वै गायत्री'।[4] अनुमति गायत्री है–'याऽनुमतिः सा गायत्री'।[5] गायत्री का भी अपना लोक माना गया है। कहा गया है कि जो सूर्योदय से पूर्व अग्निहोत्र करता है, वह चौवीस वर्ष में गायत्री लोक में पहुंचता है, तथा जो सूर्योदय के पश्चात् अग्निहोत्र करता है वह बारह वर्ष में गायत्री लोक को प्राप्त करता है।[6]

(आ) त्रिष्टुभ् छन्द और उसका स्वरूप

ऐतरेयब्राह्मण में त्रिष्टुभ् छन्द का नामोल्लेख इक्यावन बार हुआ है। यह उन तीन प्रमुख छन्दों में से है, जिनकी यज्ञों के लिये नितान्त आवश्यकता है। यद्यपि त्रिष्टुभ् प्रधानतया इन्द्र का छन्द[7] माना गया है, फिर भी सोम और अग्नि के मंत्र भी त्रिष्टुभ् छन्द में पाये जाते हैं। ऐ० ब्रा० १.९ में जहां प्रायणीय–इष्टि का प्रसंग है, काम्यप्रयाजों और उनके देवताओं का निर्देश करके उनसे सम्बन्धित जो छन्द दिये गये हैं, उनमें उक्त कथन की पूर्णतया पुष्टि मिलती है। त्रिष्टुभ् को ओज या इन्द्रिय सम्बन्धी पराक्रम कहा है–'ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुभ्'।[8] जो ऋचायें त्रिष्टुभ् छन्द में होती हैं, वे इन्द्रियों की शक्ति प्राप्त करने में विशेष उपयोगी हैं–'त्रिष्टुभौ भवतः सेन्द्रियत्वाय'।[9] त्रिष्टुभ् छन्द में होने से ऋचायें वज्र बन जाती हैं।[10] त्रिष्टुभ् वीर्य या शक्ति है।[11] क्षत्रिय को त्रिष्टुभ् छन्द में मंत्र पढ़ना चाहिये। त्रिष्टुभ् वाला क्षत्रिय होता है। त्रिष्टुभ् ओज, इन्द्रियबल और पराक्रम से युक्त है।[12] कहा गया है कि प्रजापति ने दोपहर के सवन में इन्द्र और रुद्र देवताओं के लिये त्रिष्टुभ् छन्द प्रदान किया–'प्रजापतिर्वै यज्ञं छन्दांसि देवेभ्यो भागधेयानि व्यभजत्'……त्रिष्टुभमिन्द्राय रुद्रेभ्यो मध्यंदिने'।[13]

सौपर्ण–आख्यान में उल्लेख हुआ है कि त्रिष्टुभ् स्वर्ग से दक्षिणा को लेकर लौटा। इसीलिये त्रिष्टुभ् के माध्यंदिन सवन में ही दक्षिणा प्रदान की जाती है। गायत्री की सहायता से ही त्रिष्टुभ् दोपहर के सवन को उठाने में समर्थ होता है।[15]

१–ऐ०ब्रा ३.३९। २–वही ३.३९। ३–वही ४.३। ४–वही ४.११।
५–वही ३.४७। ६–वही ५.२९। ७–वही १.४। ८–वही १.५।
९–वही १.१७। १०–वही २.१६। ११–वही १.२१ १२–वही १.२८।
१३–वही ३.१३। १४–वही ३.२५–२७। १५–सौपर्ण आख्यान ३.२५–२७।

असुरों पर विजय प्राप्त करने के लिये त्रिष्टुभ् ने भी अग्नि का साथ दिया था।[1] राका त्रिष्टुभ् है। उषा राका है और वही त्रिष्टुभ् है–'योषा.सा राका सो एव त्रिष्टुभ्'।[2] ऐतरेयब्राह्मण में उल्लेख हुआ है कि पुरुष को वीर्य से मिलाकर वीर्यवान् कर दिया जाता है। वह पुरुष सब पशुओं से अधिक बलवाला हो जाता है।[3] इस कथन का व्याख्यान करते हुए ब्राह्मणकार ने पुरुष और त्रिष्टुभ् के सम्मिलित रूप की कल्पना प्रस्तुत की है। उन्होंने पुरुष को द्विपद और त्रिष्टुभ् को वीर्य कहकर उक्त उल्लेख का रहस्य खोला है।

तीन बार त्रिष्टुभ् का उच्चारण करने से सभी छन्दों की आवृत्ति समझी गई है। गायत्री और त्रिष्टुभ् से वषट्कार करने वाला ब्रह्मवर्चसी और ब्रह्मयशसी होता है।[4] पशुओं की प्राप्ति के लिये त्रिष्टुभ् और जगती मिला दिये जाते हैं।[5]

त्रिष्टुभ् की महत्वाकांक्षा के विषय में ऐतरेयब्राह्मण में एक लघु-आख्यायिका कही गई है। उसके अनुसार एक बार त्रिष्टुभ् ने गायत्री और जगती का स्थान प्राप्त करने की अभिलाषा की। प्रजापति ने व्यूढ़छन्दस् द्वादशाह को देखा और छन्दों की कामनायें पूर्ण कीं।[6]

त्रिष्टुभ् छन्द त्र्यह के प्रातःसवन का छन्द है। यह प्रातःसवन का वाहक है। उसके द्वारा होता सवन को स्थिर करता है और गिरने नहीं देता–'त्रिष्टुभ् प्रातःसवन एष त्र्यहः............तदु त्रैष्टुभं तेन प्रतिष्ठितपदेन सवनं दाधाराऽऽयतनादेवैतेन न प्रच्यवते'।[7] द्वादशाह के आठवें दिन का महद्वत् सूक्त त्रिष्टुभ् छन्द में होता है।[8] द्वादशाह के नवें दिन का छन्द भी त्रिष्टुभ् है। यह प्रतिष्ठित पद समझा जाता है।[9]

राजा और त्रिष्टुभ् का सम्बन्ध ऐतरेयकार ने बड़े ही रोचक ढंग से बतलाया है। कहा गया है कि त्रिष्टुभ् राजा की प्रतिपद (पतवार) है, जिससे समुद्र को पार करते हैं। जो द्वादशाह या संवत्सर यज्ञ करते हैं, वे समुद्र पर तैरने वालों के समान हैं। जैसे समुद्र के उस पार पहुँचने के लिये जलयान पर बैठते हैं, इसी प्रकार यज्ञ को प्रारम्भ करने के लिये त्रिष्टुभ् का सहारा लेना पड़ता है। यह वीर्यवान् छन्द यजमान को स्वर्ग में ले जाकर फिर लौटाता नहीं।[10]

उपर्युक्त कथन से यह भी भाव व्यक्त होता है कि द्वादशाह या संवत्सर में किया गया त्रिष्टुभ् का प्रयोग स्वर्ग के स्थायी निवास का प्रदाता है। 'क्षीणे पुण्ये

१–ऐ॰ब्रा॰३.३६। २–वही ३.४८। ३–वही ४.३। ४–वही ४.११। ५–वही ४.२१। ६–वही ४.२७। ७–वही ५.१६। ८–वही ५.१६। ९–वही ५.२१। १०–वही ६.२१।

मर्त्यलोकं विशन्ति'-यह उक्ति इसके प्रयोग से निरर्थक हो जाती है।

तीसरे सवन के अन्त में भी त्रिष्टुभ् छन्द पढ़ा जाता है। ऐतरेयकार इसका कारण बतलाते हुये कहते हैं कि त्रिष्टुभ् वीर्य है। अन्त में वीर्य की प्रतिष्ठा हो जाय, इसीलिये अन्त में त्रिष्टुभ् पढ़ा जाता है-

'अथाऽऽह यज्जागतं वै तृतीयसवनमथ कस्मादेषां त्रिष्टुभः परिधानीया भवन्तीति, वीर्यं वै त्रिष्टुभ् वीर्य एवं तदन्ततः प्रतितिष्ठन्तो यन्ति'।[1]

इसी प्रसंग को लेकर ऐतरेयब्राह्मण में अन्यस्थल पर जगती के स्थान पर त्रिष्टुभ् छन्द के पढ़ने का कारण दूसरे ही प्रकार से बतलाया गया है। कहा गया है कि जगती छन्द वाले तीसरे सवन में अनुष्टुभ् इसलिये लाया जाता है कि तीसरे सवन में सोम रस समाप्त हो जाता है। रसके न रहने से वह सवन धीतरस कहा जाता है। उस सवन में रस उत्पन्न करने के लिये शुक्रियछन्द-त्रिष्टुभ् पढ़ा जाता है-

'धीतरसं वै तृतीयसवनमथैदधीतरसं शुक्रियं छन्दो यत् त्रिष्टुभ् सवनस्य सरसताया इति ब्रूयात्'।[2]

(इ) ऐतरेयब्राह्मण में जगती छन्द का विवरण

जगती छन्द तीन प्रमुख छन्दों में तीसरा है। ऐतरेयब्राह्मण में इसका नाम चालीस बार आया है। पशुओं का सम्बन्ध जगती से माना गया है। कहा गया है कि जिसको पशु की कामना हो, वह जगती वाले छन्दों को पढ़े।[3] प्रवर्ग्य में पढ़ा जाने वाला सूक्त जगती छन्द में होता है। इसका कारण बतलाते हुये ब्राह्मणकार ने कहा है कि इसके पाठ से प्रवर्ग्य में पशु धारण कराये जाते हैं-'तदु जागतं जागता वै पशवः पशूनेवास्मिंस्तद्दधाति'।[4] वैश्य जगती वाला कहा गया है। पशु भी जगती वाले हैं। इस प्रकार इसके उपयोग से यजमान पशु से युक्त हो जाता है।[5]

अदिति के मंत्र जगती छन्द में होते हैं।[6] यज्ञ और छन्दों के भाग अलग करते समय प्रजापति ने विश्वेदेवों और आदित्यों के लिये जगती और तृतीय सवन को प्रदान किया।[7] अतः तृतीय सवन के आदि और अन्त में जगती छन्द के पाठ का विधान किया गया है।

जगती बारह अक्षरों से बनी होती है-'द्वादशाक्षरा वै जगती'।[8] गायत्री और जगती के मिलने से दो बृहती होते हैं-'यदु गायत्री च जगती च ते द्वे बृहत्यौ'।[9]

सोमाभियान में जगती के क्षीण हो जाने के कारण गायत्री की ही सहायता से

१-ऐ०ब्रा० ६.१५। २-वही ६.१२। ३-वही १.५। ४-वही १.२१। ५-वही १.२८। ६-वही १.६। ७-वही ३.१३। ८-वही ३.१२। ९-वही ४.१०।

वह तीसरे सवन को देवों तक पहुंचाने में समर्थ हो सकी है।[1]

असुरों पर आक्रमण के समय जगती ने भी अग्नि का साथ दिया था। एक आख्यायिका द्वारा बतलाया गया है कि अग्नि ने देवों की विजय के लिये असुरों पर प्रहार किया। आक्रमण के लिये जो तीन श्रेणियां बनाई गई थीं, उनमें जगती भी विद्यमान था।[2]

जगती को गौ तथा सिनीवाली कहा गया है–'या गौः सा सिनीवाली सो एवं जगती'।[3] मिथुन के लिये जगती और त्रिष्टुभ् को मिला दिया जाता है। इस मिथुन द्वारा पशुओं की प्राप्ति होती है–

'मिथुनानि सूक्तानि शस्यन्ते त्रैष्टुभानि च जागतानि च मिथुनं वै पशवः पशवश्छंदासि पशूनामवरुद्धय्'।[4]

इस मिथुन-प्रक्रिया के वर्णन में ऐतरेयकार को आधिदैविक सृष्टि का कोई चित्र प्रस्तुत करना अभिप्रेत प्रतीत होता है। सम्भवतः यहां जगती को गौ कहकर सूर्यरश्मि की ओर संकेत किया गया है। त्रिष्टुभ् छन्द को उषा कहा ही जा चुका है तथा पशु का पांसु या रेणु स्वरूप पर्याय-अध्ययन में देखा जा चुका है।[5]

इन सबको मिलाकर देखने से प्रतीत होता है कि उषा के प्रादुर्भाव के समय सूर्यरश्मि द्वारा अखिल-विश्व-व्याप्त रेणु-कणों का प्रकाशन ही यहां मिथुन-प्रक्रिया द्वारा वर्णित किया गया है।

द्वादशाह के तीसरे दिन जगती छन्द का उपयोग किया जाता है।[6] पांचवें दिन का छन्द भी जगती होता है। यह पशुओं का रूप समझा गया है।[7] जगती छन्द त्र्यह के मध्य सवन का छन्द है। त्र्यह के मध्य सवन का यही वहन करता है।[8] नवें दिन का रूप भी जगती छन्द में पूर्ण होता है। तीसरे सवन का सम्बन्ध जगती छन्द से है, इसलिये तीसरी सवन में जगती से स्तुति की जाती है–'तदु जागतं जगत्यो वा एतस्य त्र्यहस्य मध्यंदिनं वहन्ति तद्वै तच्छन्दो वहति यस्मिन्निविद्धीयते तस्माज्जगतीषु निविद दधाति'।[9]

तीसरे सवन की समृद्धि के लिये जगती छन्द की आवश्यकता होती है। इन्द्र जगत् के विजेता हैं, अतः जगती छन्द बोला जाता है।[10] तीसरे सवन के जगती से सम्बन्धित होने का कारण पुनः बतलाते हुये एक स्थल पर कहा गया है कि जगती

१-वही ३.२५-२७। २-ऐ०ब्रा० ३.३९। ३-वही ३.४८। ४-वही ४.२१। ६-ऐ०ब्रा० ५.१। ७-वही ५.६। ८-वही ५.१६,१९। ९-वही ५.२०। १०-ऐ०ब्रा० ६.१२।

जगत् की इच्छा के लिये है। जो कोई छन्द जगती के पीछे पढ़ा जाता है, वह भी जगती से सम्बन्धित हो जाता है।[1]

दूरोहण जगती छन्द में है। पशु की कामना वाला इन्द्र के जगती छन्द को पढ़ता है, क्योंकि पशु जागत (चलने वाले) हैं। वरु ऋषि का महासूक्त भी जगती छन्द में होता है।[2]

(ई) ऐतरेयब्राह्मण में अनुष्टुभ् छन्द का विवरण

सम्पूर्ण ऐतरेयब्राह्मण में अनुष्टुभ् शब्द का नामोल्लेख कुल मिलाकर चौबीस बार हुआ है। गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती-इन छन्दत्रय के पश्चात् इसका भी पर्याप्त कथन हुआ है।

कहा गया है कि अनुष्टुभ् बत्तीस अक्षरों का होता है। दो अनुष्टुभों में चौंसठ अक्षर होते हैं। अनुष्टुभ् स्वर्ग को प्राप्त कराने वाला है। जो मनुष्य स्वर्ग की कामना करे, वह अनुष्टुभ् छन्द वाले मंत्रों का पाठ करे।[3] ऐतरेयकार ने अनुष्टुभ् को वाक् का पर्याय माना है। अनुष्टुभ् छन्द बोलकर मानों वाणी को वाणी में छोड़ते हैं।[4] बारह अनुष्टुभ् सोलह गायत्री के बराबर है।[5] ऐन्द्रवायु घट में से आहुति देते समय दो अनुष्टुभ् छन्दों में पुरोनुवाक्य पढ़ने का विधान किया गया है। इसका कारण बतलाते हुये ऐतरेयकार ने कहा है कि ऐन्द्रवायव्य ग्रह, वाणी और प्राण का है।[6] अनुष्टुभ् भी वाणी[7] का वाचक है। अनुष्टुप् गायत्री है।[8] गायत्री प्राण है।[9]

सोमयज्ञ के अवसर पर अनुष्टुभ् छन्द का प्राधान्य स्वीकार किया गया है। ऐतरेयब्राह्मण में एक स्थल पर अनुष्टुभ् छन्द अग्नि के सहायक रूप में चित्रित हुआ है। मृत्यु को जीतने में वह अग्नि की सहायता करता है। इस विवरण के लिये ब्राह्मण में एक आख्यायिका कही गई है-[10]अग्नि देवताओं का होता था। मृत्यु उसके लिये वहिष्पवमान स्तोत्र में छिपा बैठा रहा। अनुष्टुभ् छन्द में आज्य शस्त्र आरम्भ करके उसने मृत्यु को जीता। दोपहर के सवन में अनुष्टुभ् के साथ मरुत्वतीय शस्त्र तथा तीसरे सवन में अनुष्टुभ् के साथ वैश्वदेव शस्त्र आरम्भ करके अग्नि ने पवमान स्तोत्र में छिपी हुई मृत्यु पर विजय प्राप्त की।'[11]

षोडशी के अनुष्टुभ् में अठारह अक्षर बतलाये गये हैं। गायत्री और पंक्ति मिलकर दो अनुष्टुभ् बन जाते हैं। सोलह अक्षरों के द्विपद् और अड़तालीस अक्षरों की जगती मिलकर चौंसठ अक्षरों के दो अनुष्टुभ् हो जाते हैं। प्रज्ञात अनुष्टुभों का पाठ

१-ऐ०ब्रा० ६.१५। २-वही ६.२५। ३-वही १.५। ४-वही १.२८। ५-वही २.३७। ६-वही २.२६। ७-वही १.२८। ८-कौ०ब्रा० १०.५। ९-कौ०ब्रा० ८.५.श०ब्रा०६.४.२.५-आदि। १०-ऊपर 'पुराकथा की नीति में छन्दों का सक्रिय-भाग' के अन्तर्गत इसका विवरण देखें। ११-ऐ०ब्रा०३.१४।

ऐसा है, जैसे कोई मार्ग से बहकने के पश्चात् लौटकर ठीक मार्ग पर आ गया हो।[1]

सबसे दूर स्थान वाला अनुष्टुभ् है। वाणी, कुहू और पृथिवी को अनुष्टुभ् कहा गया है।[2] अनुष्टुभ् को रात का छन्द माना गया है क्योंकि रात्रि आनुष्टुभी होती है।[3] अनुष्टुभ् और अन्धकार का सम्बन्ध यहां द्रष्टव्य है। अनुष्टुभ् छन्द द्वारा वाक् की शुद्धि बतलाई गई है। कहा गया है कि अनुष्टुभ् छन्द बोलकर वाक् को उसके अपने छन्द द्वारा पवित्र किया जाता है-'साऽनुष्टुभ् भवति वाग्वा अनुष्टुभ् स्वेन च्छन्दसा वाचं पुनीते।'[4]

(उ) ऐतरेय ब्राह्मण में विराट्-छन्द का स्वरूप

विराट् छन्द का नामोल्लेख ब्राह्मण में सतरह बार हुआ है। विराट् छन्द का भी महत्त्व कम नहीं है। उसके लिये कहा गया है कि भोजन की कामना वाला विराट् छन्द वाले मंत्रों को पढता है। बिराट् अन्न है। अत: जिसके पास अधिक अन्न होता है, वही संसार में अधिक प्रकाशित होता है।[5]

विराट् छन्द में पांच शक्तियां मानी गई हैं। तीन पाद से यह उष्णिक् और गायत्री के, ग्यारह अक्षरों से यह त्रिष्टुभ् के तथा तेंतीस-अक्षरात्मक होने से यह अनुष्टुभ् के समान है। इस प्रकार विराट् में उष्णिक्, गायत्री, त्रिष्टुभ् और अनुष्टुभ् की चार शक्तियाँ विद्यमान हैं। पांचवीं शक्ति विराट् स्वयं अपनी है। कहा गया है कि स्विष्टकृत् में जो दो विराट् छन्द वाले मंत्रों को पढ़ता है, वह सब छन्दों की शक्ति को ले लेता है। सब छन्दों की सायुज्यता, सरूपता और सलोकता को प्राप्त कर लेता है। अन्न का खाने वाला और अन्नपति होता है। प्रजा और अन्न उसको प्राप्त हो जाते हैं।[6]

प्रायणीय इष्टि को स्विष्टकृत् आहुति के संयाज्य मंत्रों के लिये विराट् छन्द का विधान बतलाते हुये कहा है कि देवों ने इन दो संयाज्यों को विराट् छन्द में पढ़कर स्वर्ग की प्राप्ति की-'विराड्भ्यां वा इष्ट्वा देवाः स्वर्गं लोकमजयन्'।[7]

एक स्थल पर कहा गया है कि होता चाहे तो विराट् छन्द में याज्य पढ़कर यजमान को घर की प्राप्ति करा दे अथवा विराट् छन्द में याज्य न पढ़कर उसे घर से वंचित करदे।[8]

गायत्री और विराट् से भी वषट्कार हो सकता है। गायत्री ब्रह्म है और विराट् अन्न। दोनों को मिलाकर ब्रह्म को अन्न से जोड़ने का कार्य हो सकता है। कहा गया

१-ऐ०ब्रा० ३.४७-४८। २-वही ४.६। ३-वही ६.३६। ४-वही १.५।
५-वही १.६। ६-वही १.१०। ७-वही ३.२२-२३।

है कि गायत्री और वषट्कार से वषट्कार करने वाला ब्रह्मवर्चसी और ब्रह्मयशसी होता है। वह ब्रह्म–अन्न का उपभोक्ता होता है–'ब्रह्मवर्चसी ब्रह्मयशसी भवति ब्रह्माद्यमन्नमत्ति यत्रैवं विद्वान्गायत्र्या च विराजा च वषट्करोति'।[1]

विराट् छन्द तेंतीस अक्षरों का कहा गया है–'सा विराट् त्रयस्त्रिंशदक्षरा भवति'।[2] ब्राह्मण के एक स्थल पर विराट् को तीस अक्षरों का भी कहा गया है–'त्रिंशदक्षरा वै विराट्'।[3] इन दोनों विरोधी कथनों को मिलाने से भ्रम पैदा हो जाता है। किन्तु ऐतरेयब्राह्मणकार ने ग्रन्थारम्भ[4] में यह बतलाया है कि एक या दो अक्षरों की कमी या वृद्धि से विराट् छन्दों में परिवर्तन नहीं होता–'एकेनाक्षरेण च्छंदांसि वियन्ति न द्वाभ्यां यद्विराट्'। इतना होते हुये भी तेंतीस अक्षरों का विराट् ही प्रशस्त माना गया है। तेंतीस अक्षरों का विराट् इसलिये कहा गया है कि देवता भी तेंतीस होते हैं। इसका एक एक अक्षर एक एक देवता के लिये होता है। अक्षरों के क्रम से ही देव सोमपान करते हैं। इस प्रकार इन अक्षर रूपी देवपात्रों से देवता तृप्त हो जाते हैं।[5]

विराट् की महिमा का गान करते हुये कहा गया है–'सूर्य दोनों ओर से विराट् से युक्त है। विराट् से युक्त होकर वह इन लोकों के बीच विघ्न को प्राप्त नहीं होता 'उभयतो हि वा एष विराजि प्रतिष्ठितस्तस्मादेषोऽन्तरेमांल्लोकान्यन्न व्यथते'।[6] ऋक् और साम को भी विराट् के अन्तर्गत ही माना गया है। इसका कारण बताते हुये ऐतरेयकार ने कहा है कि विराट् के दश भाग होते हैं।[7] इस कथन का भाव यह प्रतीत होता है कि ऋक् और साम के पांच पांच मिलकर दश हो जाते हैं। यज्ञ को भी दश भाग वाले विराट् में स्थापित माना गया है।[8]

विराट् द्वारा संतान को धारण किया जाता है। इस कथन के लिये ब्राह्मण–कार ने बड़ी सुन्दर युक्ति दी है। कहा गया है कि विराट् अन्न है। अन्न से वीर्य सींचा जाता है। वीर्य से सन्तान उत्पन्न होती है। अतः विराट् ही सन्तानोत्पत्ति का कारण है–

'ता दश शंसति दशाक्षरा विराट् अन्नं विराट् अन्नाद्रेतः सिच्यते रेतसः प्रजाः प्रजायन्ते प्रजातिमेव तद्धाति'।[9]

ऐतरेयकार ने एक स्थल पर यह भी लिख दिया है कि विराट् में स्थापना करने का अर्थ होता है–'अन्न में स्थापित कर देना'।[10]

१–ऐ०ब्रा० ४.११। २–वही २.३७। ३–वही ८.४। ४–वही १.६।
५–वही २.३७, –६वही ४.१८। –७वही ३.२२–२३। –८वही ३.२२–२३।
९–ऐ०ब्रा० ६.३६। १०–वही ८.४।

(ऊ) ऐतरेयब्राह्मण में पंक्ति-छन्द का स्वरूप

ऐतरेयब्राह्मण में इस छन्द का नामोल्लेख पन्द्रह बार हुआ है। पंक्ति छन्द से यज्ञ का घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया गया है। इस सम्बन्ध के विषय में यज्ञ के पर्याय-वाची शब्दों के विश्लेषण में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।[1] जिसको यज्ञ की कामना हो, वह पंक्ति छन्द को पढ़ता है। कहा गया है कि जो व्यक्ति पंक्ति छन्दवाले मंत्र को पढ़ता है, उसको यज्ञ नमस्कार करता है–'उपैनं यज्ञो नमति य एवं विद्वान्पंक्ती कुरुते'।[2]

गायत्री और पंक्ति को मिलाने से दो अनुष्टुभ् बन जाते हैं। पुरुष को गायत्री और पशु को पंक्ति कहा गया है। गायत्री और पंक्ति का सम्मिलन पुरुष और पशु का मिलन है।[3]

द्वादशाह के पांचवें दिन का रूप पंक्ति छन्द है।[4] पंक्ति में पांच पद होते हैं। यज्ञ पंक्ति वाला है। पशु भी पंक्ति वाले हैं। पशुओं की वृद्धि के लिये पंक्ति पढ़ा जाता है।[5] ब्राह्मणकार ने एक स्थल पर पंक्ति को अन्न का वाची मानते हुये कहा है कि अन्न की प्राप्ति के लिये पंक्ति छन्द पढ़ा जाता है।[6] पंक्ति का सम्बन्ध मित्रावरुण के साथ साध्व और आप्त्य से भी है।[7]

(ए) ऐतरेयब्राह्मण में बृहती के स्वरूप का विवरण

पंक्ति के समान ही ऐतरेयब्राह्मण में बृहती का नामोल्लेख भी पन्द्रह बार हुआ हैं। इस छन्द के लिये ब्राह्मणकार कहते हैं–

'छन्दों में बृहती छन्द श्री और यश वाला है। इस छन्द को पढ़कर यजमान अपने में श्री और यश को धारण कर लेता है।[8] छन्दों का साधारण क्रम जो व्यूढ़ कहा जाता है, वह क्रम बृहती को बीच से न उठाने पर अव्यूढ़ हो जाता है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ् और जगती–यह छन्दों का व्यूढ़-क्रम है। गायत्री में चौबीस अक्षर होते हैं। चार चार अक्षर हर दूसरे छन्द में बढ़ते जाते हैं। प्रातरनुवाक में छन्दों का क्रम टूट जाता है। गायत्री, अनुष्टुभ्, त्रिष्टुभ्, बृहती, उष्णिक्, जगती और पंक्ति क्रम हो जाता है। यह अव्यूढ़ता बृहती को बीच से उठाने पर टूट जाती है।[9]

बृहती में ३६ अक्षर होते हैं। द्वादशाह भी ३६ दिन का होता है। द्वादशाह बृहती का अयन (स्थान) है। बृहती से देवों ने इन सब लोकों को पाया है। इसी से यह लोक, इसी से अन्तरिक्ष और इसी से द्युलोक जीता है। ऐतरेयब्राह्मण में बृहती

१—देखिये यही प्रबन्ध पृ० ५४-५५। २—ऐ०ब्रा० १.५। ३—वही ४,१। ४—वही ५.६। ५-वही ५.१८। ६-वही ६.२०। ७-वही ८.६ तथा ८.१२। ८-वही १.५। ९-वही २.१८।

पर एक प्रश्न किया गया है-'जब अन्य छन्द इससे बड़े और प्रबल हैं, फिर इसको बृहती क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर देते हुये ऐतरेयकार ने बताया है कि इससे देवों ने सबलोकों को जीता था। दश अक्षर से यह लोक, दश से अन्तरिक्ष, दश से द्युलोक, चार से चार दिशायें और दो से इस लोक में प्रतिष्ठा। इस प्रकार बृहती अकेला ही सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ हैं-'एतया हि देवा इमांल्लोकानाश्नुवत ते वै दशभिरेवाक्षरैरिमं लोकमाश्नुवत दशभिरन्तरिक्षं दशभिर्दिवं चतुर्भिश्चतस्रो दिश द्वाभ्यामेवास्मिंल्लोके प्रत्यतिष्ठंस्तस्मादेतां बृहतीत्याचक्षते'।[1]

बृहती प्राण हैं। दोपहर के सवन में बृहती छन्दों में मृत्यु नहीं बैठ सकता। होता दोपहर के सवन में बृहती छन्द द्वारा पाठ कराता है। बृहती के प्राण होने के कारण बृहती का पाठ मानो प्राणों की रक्षा करता है।[2] बृहती मंत्रों को सामगान करने वाले रौरव और योधा लोग जयस्वरों में तीन बार दुहराकर पढ़ते हैं।[3] उष्णिक् और बृहती मिलकर दो अनुष्टुभ् होते हैं। पुरुष उष्णिक् है और पशु बृहती। उष्णिक् और बृहती को मिलाने का तात्पर्य है-पुरुष को पशुओं से मिलाना।[4] गायत्री और जगती के मिलाने से दो बृहती बन जाते हैं। बृहती को छोड़ना मानो प्राणों को छोड़ना है, अतः बार्हत प्रगाथ का पाठ करने के कारण बृहती को भुलाया नहीं जा सकता।[5]

बालखिल्य पढ़ते हुये प्रगाथ बनाने के लिये कुछ लोग दो बृहती और दो सतोबृहती को मिलाते हैं। ऐतरेयब्राह्मणकार का कहना है कि इससे प्रगाथ नहीं बनता। एक पद अधिक मिलाकर पढ़ा जाय तो प्रगाथ बन जाते हैं। बृहती आत्मा है और सतोबृहती प्राण है। बृहती के पढ़ने से आत्मा बनता है और सतोबृहती से प्राण बनता है। बृहती आत्मा है और सतोबृहती पशु।[6]

पशु की बांट के लिये छत्तीस टुकड़े होते हैं। ब्राह्मणकार ने बृहती के छत्तीस अक्षरों को लेकर पशु के छत्तीस टुकड़ों का रहस्य खोला है। कहा है कि पशु के टुकड़ों में से हर एक एक-एक अक्षर है, जो यज्ञ को ले जाते हैं। इसके साथ ही स्वर्ग की विशेषता बतलाते हुये कहा गया है कि स्वर्ग लोक बृहती वाले हैं।[7]

(ऐ) ऐतरेयब्राह्मण में उष्णिक् छन्द का विवरण

ऐतरेयब्राह्मण में उष्णिक् छन्द सात बार आया है। यह छंद दीर्घायु प्रदान करने वाला कहा गया है। इस छन्द द्वारा पूर्णायु की प्राप्ति होती है-'सर्वमायुरेति य एवं विद्वानुष्णिहौ कुरुते'।[8] उष्णिक् और बृहती मिलकर दो अनुष्टुभ् के बराबर हैं।

१—ऐ०ब्रा० ४.२४। २—वही ३. १४। ३—वही ३.१७।
४—वही ४,३। ५—वही ४.१०। ६—वही ६. २८। ७—वही ७.१।
८—वही १.५।

ब्राह्मणकार ने उष्णिक् को पुरुष कहा है ।[1]

(ओ) अतिच्छन्द, बृहत् छन्द, रोहित छन्द और अतिजगती छन्द

ऊपर वर्णित छन्दों के अतिरिक्त ऐतरेयब्राह्मण में अतिच्छन्द का सात बार, बृहत् छन्द का दो बार, रोहित छन्द का एक बार और अतिजगती का एक बार नामोल्लेख हुआ है ।

द्वादशाह के छठे दिन का छन्द अतिछन्द हैं । अतिच्छन्द सात पदों वाला होता है । यह द्वादशाह के छठे दिन का रूप है–

'अतिच्छन्दाः सप्तपदं षष्ठेऽहनि षष्ठस्यान्हो रूपम्' ।[2]

बृहत् छन्द में रैवत पृष्ठ होता है। यह द्वादशाह के छठे दिन का रूप है ।[3] वैश्वदेव शस्त्र के प्रतिपद और अनुचर बृहत् छन्द में होते हैं ।[4]

रोहित छन्द का उल्लेख परुच्छेप ऋषि वाली ऋचा के प्रसंग में आया है । इस छन्द का अत्यधिक महत्त्व बतलाते हुये ब्राह्मणकार ने कहा है कि इस छन्द के द्वारा इन्द्र सात स्वर्गों को चढ़ गया था । इस छन्द के रहस्य को समझने वाला सात स्वर्गों को चढ़ जाता है–'रोहितं वै नामैतच्छन्दो यत्पारुच्छेपमेतेन वा इन्द्रः सप्त स्वर्गाल्लोकानरोहत् । रोहति सप्त स्वर्गाल्लोकान् य एवं वेद' ।[5]

अतिजगती का उल्लेख एवयामरुत् सूक्त के प्रसंग में हुआ है । ऐतरेयब्राह्मणकार ने जगती और अतिजगती के भेद को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है । कहा गया है कि यह जो कुछ संसार में है, वह या तो जागत (जगम) है या अति जागत (स्थावर) है । अतिजगती का सम्बन्ध स्थावर से है–'सं जागतो वाऽति जागतो वा सर्वं वा इदं जागतं वाऽतिजागतं वा ।[6]

ऐतरेयब्राह्मण में प्रयुक्त–छन्दों में रस की कल्पना

ऐतरेयब्राह्मण में छन्दों के रस से सम्बन्धित एक आख्यायिका प्रस्तुत हुई है । उसमें कहा गया है कि षडह–यज्ञ के छठे दिन छन्दों का रस बहने लगा । प्रजापति को भय हुआ कि यह रस बाहर निकल कर लोकों में न फैल जाये । उसने छन्दों को दूसरे स्थान पर रखकर उनके रस को दबा दिया । उसने नाराशंसी से गायत्री का रस दबाया । रैभि से त्रिष्टुभ् का, पारिक्षिति से जगती का और काव्य से अनुष्टुभ् का रस दबाया । इस प्रकार प्रजापति ने छन्दों को फिर से रस युक्त कर दिया । यज्ञ को पूरा करने के लिये रसयुक्त छन्दों की आवश्यकता होती है ।[7]

१—ऐ०ब्रा०४.३ । २—वही ५.१२ ३—वही ५.१२ । ४—वही ५.१६ ।
५—वही ५.१० । ६—वही ६.३० । ७—वही ६.३२ ।

ऐतरेयब्राह्मण में 'ऐतशप्रलाप' का वर्णन करते हुये कहा गया है कि यह 'ऐतशप्रलाप' छन्दों का रस है। 'ऐतशप्रलाप' का पाठ करके यज्ञ करने वालों का यज्ञ रस युक्त छन्दों वाला हो जाता है। वह सरस छन्दों से यज्ञ का सम्पादन करता है–

'छन्दसां हैष रसो यदैतशप्रलापश्छन्दः स्वेव तद्रसं दधाति, सरसैर्हास्य च्छन्दोभिरिष्टं भवति सरसैश्छन्दोभिर्यज्ञं तनुते य एवं वेद'।[1]

ऐतरेयब्राह्मण में छन्द पद का अर्थ

एक स्थल पर ऐतरेयकार ने लिखा है कि होता उस व्यक्ति को बनाना चाहिये जो ऋचा में छन्द उत्पन्न कर सके–

'तदाहुः स वै होता स्याद्य एतस्यामृचि सर्वाणि च्छन्दांसि प्रजनयेत्'।[2]

इस कथन में यह प्रतीत होता है कि ऋचा[3] का सामान्य अर्थ स्तुतिवाक्य है, जिसमें छन्द अर्थात् लय उत्पन्न करके पढ़ना आवश्यक होता है। ब्राह्मणकार ने ऋक् और साम को इन्द्र के घोड़े कहा है–'ऋक्सामे इन्द्रस्य हरी'।[4] यहां प्रयुक्त ऋक् को हम आदित्य रश्मि अथवा मन की शक्ति मानकर चलें तो छंद शब्द गति का वाचक बन जाता है।

इसी प्रकार ऐतरेयकार ने दूसरे स्थल पर कहा है कि छंदों, देवताओं, ब्रह्म और अमृत से युक्त होकर मनुष्य देवताओं से मिल जाता है। जो इनसे युक्त हो जाता है, वही ज्ञानी है। इनका ज्ञान प्राप्त कर लेना ही अध्यात्म विद्या और आधिदैवत विद्या है–'यो वै तद्वेव तथा छंदोमयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः संभूय देवता अप्येति तत्सुविदितम्, इत्यध्यात्ममथाधिदैवतम्'।[5]

उक्त सन्दर्भों के प्रकाश में यह ज्ञात होता है कि ऐतरेयकार को छंदों के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों अर्थ अभिप्रेत हैं।

छन्द-पद का दार्शनिक अर्थ

डा० फतहसिंह ने छंद का दार्शनिक अर्थ प्रस्तुत किया है। अर्थ–वैविध्य को एक सूत्र में बांधते हुये उन्होंने बतलाया है कि समस्त सृष्टि ही छंद है, क्योंकि उसका मूल उस तत्त्व से है, जो सब कुछ को अपने में आच्छादित किये हुये है।[6]

'दी वैदिक एटीमोलॉजी' में छंद के अनेक अर्थों और निर्वचनों की वैज्ञानिक परीक्षा हुई है। छंद को √छद् आच्छादने से व्युत्पन्न माना गया है। छंद का अर्थ स्तुति

१—ऐ०ब्रा० ६.३३। २—वही २.१६। ३-ऋचा-ऋच्यते स्तूयतेऽनया, ऋच्+क्विप्। ४—ऐ०ब्रा २.२४। ५—वही २.४०। ६—डा० सुधीर कुमार पी०एच०डी० थीसिस-स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेदभाष्यपद्धति को देन पृ० १०३।

या प्रार्थना है जिसमें स्तुतिकर्त्ता की कामना छिपी रहती है। छंद देवों को प्रसन्न करने के लिये बनाये गये हैं। छंद का सामान्य अर्थ छंद ही है। वह एक किले के रूप में है, जिसमें स्तुति छिपी रहती है। आध्यात्मिक दृष्टि से छंद के सृजनात्मक शक्ति, मन आदि भी अर्थ होते हैं।[1] वैदिक-दर्शन में लिखा है–

'अतः वाक् (जगत) में अग्नि और सोम वा गायत्र तथा त्रैष्टुभ् दोनों तत्त्व विद्यमान हैं और यही वाक् (गायत्रत्रैष्टुभ्मयी) अक्षर (ब्रह्म) के साथ साथ एक से द्विपद तथा चतुष्पद होकर सात वाणियों के रूप में प्रकट हुई। सप्तवाणियों (पिण्डाण्ड में सप्त शीर्षण्य प्राण, ब्रह्माण्ड में सप्तरश्मि) या सारे विश्व में अग्नि, सोम तथा इन्द्र अथवा गायत्र, त्रिष्टुभ् तथा जगती तत्त्व पाये जाते हैं, जो वास्तव में अग्निष्टोम (गायत्र-त्रैष्टुभ्) नामक दो तत्त्वों के अन्तर्गत अथवा इन्द्र नामक एक तत्त्व के अन्तर्गत आ सकते हैं'।[2]

वेदार्थ में छन्दों की उपयोगिता

स्कन्द स्वामी जैसे वेदभाष्यकार ने अपने ऋग्वेद के भाष्य के आरम्भ में कहा है कि छन्दों का वेदार्थ में कोई उपयोग नहीं है। सायणाचार्य तथा मध्वरचित ऋग्भाष्य के व्याख्याकार जयतीर्थ अवश्य ही छंदों के ज्ञान को वेदार्थ में उपयोगी मानते हैं, किन्तु उसकी उपयोगिता के प्रतिपादन और स्पष्टीकरण में वे सर्वथा असमर्थ रहे हैं।

डा० सुधीर कुमार गुप्त मानते हैं कि वेद मंत्रों के अर्थ में उनके गान्धार आदि स्वरों के ज्ञान की उपयोगिता है–'गायन के स्वर से पद्यस्थ रसों और भावों की अभिव्यक्ति का होना निर्विवाद ही है, अतः इनका वेदार्थ ज्ञान में सहयोग मानना अनुचित न होगा'[3]। डा० गुप्त ने लिखा है कि 'स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किसी स्थल पर स्पष्ट लिखा हो कि ऋषि और छंद का ज्ञान वेदार्थ के लिये उपयुक्त है, ऐसा ज्ञात नहीं।'[4] परन्तु उनके वेदभाष्यों में ऋषि, देवता और छंद के अर्थों से उनके मन्त्रार्थ की संगति लगती मालूम होती है।[5] डा० गुप्त के मत में 'मन्त्र से सम्बद्ध ऋषिपद मन्त्र के अर्थ का सार है, देवता उसका विषय है और छन्द (√छदि आल्हादने से) उसका नियामक है'।[6] ऐतरेयकार के छंदों के ऊपर दिये गये विवरण से विशेषतः ऋषियों और देवताओं से उनके साहचर्य-सम्बन्ध विधान से ऐसा आभास मिलता है मानों ऐतरेयकार छंदों के अर्थों को वेदार्थ में उपर्युक्त वर्णानुसार उपयोगी मानते हों। स्वामी दयानन्द सरस्वती का भी यही मत मालूम पड़ता है।[7]

१—वै०ए० पृ० १३०-१३१। २—वै०द०पृ०१५२। ३—ऋग्वेद के ऋषि और उनका सन्देश और दर्शन पृ० १३। ४-—ऋ०स०द०-पृ० ६। ५—ऋ०स०द०-पृ०१८ तथा वे०भा०प० २६।१७। ६—ऋ०स०द०पृ० १२। ७-वे०भा०प० २६।१७-१६।

ऐतरेयब्राह्मणकार द्वारा उल्लिखित ऋचा में छंद उत्पन्न करने के प्रसंग[1] की संगति इस दृष्टि से लगती प्रतीत होती है। स्वा० दयानन्द सरस्वती ही एक मात्र ऐसे वेदभाष्यकार हैं जो अपने भाष्य में मंत्रों के षड्जादि स्वरों का निर्देश करते हैं। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ् तथा जगती के साथ क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत. और निषाद स्वरों का निर्देश करके उन्होंने आचार्य पिंगल की भांति ही षड्जादि सप्त स्वरों को गायत्र्यादि वैदिक सप्त छंदों के साथ सम्बद्ध किया है।

स्वामीजी के इस स्वर निर्देश का आधार विद्वानों की दृष्टि में अभी तक नहीं आया है। गायत्री छंदों के साथ षड्ज स्वर ही क्यों लिखा गया, जबकि एक छंद के गान में एकाधिक स्वरों का प्रयोग होता है। प्रतीत होता है कि स्वामीजी ने छंद के 'न्यासस्वर' का निर्देश किया है। छंद में स्वर-संचार के समय यह अनुभव होता है कि कुछ स्वरों पर कुछ देर ठहरें। दूसरे स्वरों पर ठहरने की इच्छा नहीं होती। प्रत्येक छंद में एक ऐसा स्वर है, जहां जाने पर आगे या नीचे बढ़ने की इच्छा नहीं होती। छंद के ध्वनि विस्तार की इच्छा से विवश होकर एक नया प्रस्थान करना पड़ता है। जहां हमें इस प्रकार स्थिर रहने की इच्छा होती है, वह न्यास-स्वर कहलाता है। न्यास-स्वर छंदोंका आधार है, जहां अनेक संचार के पश्चात् सरगम की समाप्ति होती है।[2]

स्वर प्रयोग में, आवश्यक विशिष्ट भाव के अनुसार स्वरगत श्रुतियों में उस भाव से सम्बन्ध रखने वाली श्रुति कुछ अधिक देर ठहरानी पड़ती है। स्वरों के भी अपने-अपने विशिष्ट रस भाव हैं। षड्ज और ऋषभ-वीर, अद्भुत और रौद्ररस प्रधान हैं। धैवत, वीभत्स और भयानक रस का अभिव्यंजक है। गान्धार और निषाद करुण रस प्रधान हैं। मध्यम और पंचम-हास्य और श्रृंगार रस की व्यंजना करते हैं। छंदों में नवरसों का सामजस्य निम्न प्रकार बैठाया गया है–

गायत्री—षड्ज, उष्णिक्–ऋषभ } वीर, अद्भुत व रौद्र रस

अनुष्टुभ्—गान्धार] करुण रस

बृहती—मध्यम, पंक्ति-पंचम] हास्य और श्रृंगार रस

त्रिष्टुभ्—धैवत] वीभत्स और भयानक रस

जगती—निषाद] करुण रस

पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है कि समस्त ब्रह्माण्ड का मूलाधार वाक् है।

१—ऐ०ब्रा०२.१६। २—संगीत शास्त्र-वासुदेव शास्त्री।

वैदिक कोष के अनुसार छंद, स्वर, श्रोत्र आदि वाक् के पर्यायवाची शब्द हैं। ऐतरेय-ब्राह्मण के वाक्, ब्रह्म, पशु, छंद आदि पर्यायों में तदनुरूप पदों के समीकरण से उपर्युक्त पर्यायवाची शब्द बन जाते हैं। दर्शनशास्त्रानुसार स्वर, नाद या शब्द आकाश का गुण है। तर्क शास्त्र में कहा गया है-'शब्दगुणकमाकाशम्' श्रोत्र द्वारा अनुभूत तत्त्व का नाम आकाश है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि छंद, स्वर, श्रोत्र, वाक् आदि का अर्थ आकाश है। आकाश पचमहाभूतों में ऐसा महाभूत है, जिसमें अन्य महाभूतों के गुणों की मिलावट आंशिक रूप में भी नहीं पाई जाती। यह शुद्ध, बुद्ध और चेतन है। केवल नाद ही इसका गुण है। सृष्टि-क्रम में सर्व प्रथम इसी का स्थान है। इसी एक से अनेक का भाव प्रारम्भ होता है। वायु, अग्नि, आप तथा पृथ्वी का प्रादुर्भाव इसी महाभूत से होता है।[1]

संगीत-शास्त्र के दूसरे परिच्छेद में के० वासुदेव शास्त्री ने लिखा है-'शब्द या नाद जो आकाश का गुण है, आहत तथा अनाहत भेद से दो प्रकार का होता है। हमारे शरीर में चेतन का स्थान हृदय है। हृदय में 'दहराकाश' नाम से एक छोटा सा स्थान शुद्ध आकाश से व्याप्त है। उसमें बिना आघात के नाद का आविर्भाव निरंतर होता रहता है। भावाभिव्यक्ति के लिये आत्मा मन को प्रेरित करता है'। ऐतरेयब्राह्मण में लिखा है-'मनसा वा इषिता वाग्वदति' अर्थात् मन से प्रेरित होकर ही वाणी बोलती है'।[2] मन शरीरस्थ अग्नि को जगाता है। नाभि के नीचे' ब्रह्म-ग्रन्थि नामक स्थान है। उसमें रहने वाले वायु को अग्नि उठा देता है। हृदय की ऊर्ध्वनाड़ी में संलग्न तिरछी बाईस नाड़ियां हैं, उन पर वायु का आघात होने से २२ ध्वनियां उच्च तथा उच्चतर रूप में उत्पन्न होती हैं। इन ध्वनियों को श्रुति कहा जाता है। अक्षर संख्या के नियामक छंद की मूल ये श्रुतियां हैं। श्रुतियों के नाम इस प्रकार हैं-तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा, छन्दोवती, दयावती, रंजनी, रतिका, रौद्री, क्रोधा, वज्रिका, प्रसारिणी, प्रीति, मार्जनी, क्षिति, रक्ता, संदीपनी, आलापिनी, मदन्ती, रोहिणी, रम्या, उग्रा और क्षोभिणी।

प्रथम चार श्रुतियों से षड्ज, पांचवीं, छटी और सातवीं से ऋषभ, आठवीं, नवीं से गान्धार, दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं से मध्यम, चौदहवीं, पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं से पंचम, अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं से धैवत तथा इक्कीसवीं और बाईसवीं से निषाद स्वर की उत्पत्ति होती है।

यद्यपि स्वर दो, तीन या चार श्रुतियों से उत्पन्न होता है, तथापि एक नियत श्रुति पर स्वर का ठहराव कुछ अधिक देर तक रहता है। जहां स्वर अधिक

१—सदानन्द कृत वेदान्तसार-पृ०६-पूना संस्करण, १९२९।

२—ऐ०ब्रा०२.२८।

ठहरता है, उसे नियतश्रुति या स्वर-स्थान कहते हैं। षड्ज की छन्दोवती, ऋषभ की रतिका, गान्धार की क्रोधा, मध्यम की मार्जनी, पंचम की आलापिनी, धैवत की रम्या तथा निषाद की क्षोभिणी नियत श्रुति है। श्रति और स्वर सदैव रस भाव से सम्बन्धित रहते हैं।

निष्कर्ष

छंदों के इस अध्ययन से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-काल में छन्द दिव्य-शक्ति सम्पन्न समझे जाते थे। वे मनुष्य और देवों का संरक्षण करने वाले थे। वे शक्ति और भौतिक-कल्याण के दाता थे। उनका विकास यज्ञानुष्ठानों के लिये हुआ है। यज्ञ और छन्द का तो अक्षुण्ण सम्बन्ध रहा है। उनका वेदार्थ में भी उपयोग है। वे देवों और ऋषियों के सहचर हैं।

ऐतरेयब्राह्मण में आख्यान

ऐतरेयब्राह्मण में आख्यानों की सत्ता

ऐतरेयब्राह्मण में अनेक आख्यान प्रस्तुत हुये हैं। अनुमानत: अस्सी से ऊपर आख्यान हैं, जो प्रायः ब्राह्मण की सभी पंचिकाओं में पाये जाते हैं। इन सब आख्यान की सूची इस ग्रन्थ के परिशिष्ट १में दी गई है।

आख्यानों का मुख्य उद्देश्य याज्ञिक-सिद्धान्तों को हृदयंगम कराना है। यज्ञ की विशेष-विधियों, उनमें प्रयुक्त विभिन्न स्तोमों, छंदों. देवताओं और पदार्थों की अमोघता अथवा औचित्य सिद्ध करने के लिये आख्यानों का सृजन किया गया है। यज्ञ-कर्म की प्रेरणा देने का कार्य भी इन आख्यानों द्वारा सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ है।

ऐतरेयब्राह्मण के आख्यानों का वर्गीकरण

ऐतरेयब्राह्मण के आख्यानों का अध्ययन चार वर्गों में किया जा सकता है-

१-देवता-सम्बन्धी आख्यान।

(क) सृष्टि-उत्पत्ति
(ख) देवता और यज्ञ
(ग) देवासुर-संग्राम
} से सम्बन्धित आख्यान

२-छंद-सम्बन्धी आख्यान।

३-इतिवृत्तात्मक आख्यान।

(च) ऋषियों से सम्बन्धित।

(छ) यज्ञ के प्रतिपोषक राजाओं से सम्बन्धित।

४-प्रकीर्ण-आख्यान।

१-देवता-सम्बन्धी आख्यान

(क) सृष्टि-उत्पत्ति

सृष्टि-उत्पत्ति के सभी आख्यान प्रजापति से सम्बन्धित हैं। प्रजापति द्वारा दुहिता से समागम और मानुष की सृष्टि,[1] प्रजापति के संचित वीर्य से आदित्य, भृगु, अंगिरस, बारहसिंहे, भैंसे, हिरन, ऊंट, गधे और अन्य पशुओं की उत्पत्ति, प्रजापति द्वारा सृष्टिसर्जना, जातवेद अग्नि द्वारा प्राणियों को लौटाना,[3] प्रजापति द्वारा अपनी दुहिता सूर्यासावित्री का विवाह-देवों को सहस्त्र मंत्रों वाले शस्त्र की भेंट,

---

१—ऐ०ब्रा० ३.३३। २—वही ३.३४। ३—वही ३.३६।

[1]प्रजापति द्वारा सृष्टि की अभिलाषा, अपने अंगों और प्राणों में द्वादशाह को देखना,[2] प्रजापति द्वारा लोक-निर्माण-शक्वरी द्वारा शक्ति का संवर्धन,[3] प्रजापति द्वारा सन्तानोत्पत्ति की अभिलाषा-पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनों वेद तथा ओंकार की उत्पत्ति[4] और प्रजापति द्वारा यज्ञ की रचना और उससे ब्रह्म व क्षत्र की उत्पत्ति[5] के आख्यान इस उपवर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

उपर्युक्त आख्यानों को देखने से प्रतीत होता है कि ब्राह्मणकार ने इन आख्यानों द्वारा किसी आधिदैविक तथ्य की ओर संकेत किया है। ऐतरेयकार द्वारा प्रजापति को यज्ञ कहा गया है–'प्रजापतिर्वै यज्ञः'[6]। ब्राह्मणकार सृष्टि–व्याप्त यज्ञ से ही अखिल विश्व की सृष्टि मानते प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिये हम प्रथम आख्यान को लेते हैं। इस कथा[7] के अनुसार प्रजापति ने अपनी दुहिता से समागम करना चाहा। वह रिश्य बन गया और दुहिता रोहित बन गई। ब्राह्मणकार ने आख्यान के आरम्भ में ही स्थिति को स्पष्ट करते हुये कह दिया है कि प्रजापति की दुहिता को कुछ द्यौ कहते हैं और कुछ लोग उषा कहते हैं–

'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यमन्य आहुरुषसमित्यन्ये'।

इसके अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रजापति ने द्युलोक या उषा से समागम किया। ऐतरेयब्राह्मण ४.७ में प्रजापति की दुहिता को सूर्या सावित्री नाम दिया गया है।

प्रजापति का अर्थ यहां यज्ञ या पवमान है।[8] जिसे सविता, प्राण आदि नामों द्वारा भी पुकारा गया है। प्राण शब्द के पर्यायों से प्रजापति का सविता नाम स्पष्ट हो जाता है। सविता और द्यौ या उषा का यह मिथुन सूर्योदय से पूर्व की अरुणिमाभ प्रकृति की ओर संकेत करता दिखाई देता है। रिश्य और रोहित शब्द भी अरुण-वर्ण का भाव प्रकट करते हैं।

प्रजापति का शुक्र अग्नि परमाणुओं का एक प्रकार विशेष प्रतीत होता है।[9] प्रजापति के आख्यान में प्रजापति को वायु भी माना जा सकता है। अतः प्रजापति का वीर्य प्रातःकालीन वायु में व्याप्त शुद्ध परमाणुओं का द्योतक है।

इसका अनुवर्तन करती हुई दूसरी कथा है, जिसमें प्रजापति के संचित शुद्ध शुक्र द्वारा आदित्य की सृष्टि होती है। कहा गया है कि देवों ने इस वीर्य को वैश्वानर अग्नि से घेर लिया। मरुतों ने उसे हिलाया। वैश्वानर अग्नि ने उसे चलाया।

१—ऐ०ब्रा०४.७-८। २—वही ४.२३। ३—वही ५.७। ४—वही ५.३२। ५-वही ७.१९। ६-वही ४.२६। ७-यह कथा तीसरे अध्याय में मानुष के निर्वचन में भी दी गई है। ८—ऐ०ब्रा० ४.२६। ९-वै०धि९नि० पृ० १६१।

उस वीर्य से जो पहले ऊपर दीप्त हुआ, वह आदित्य हुआ—'यद्रेतसः प्रथममुद्दीप्यत तदसावादित्योऽभवत्' ।[1]

यहां मरुत् शब्द भी द्रष्टव्य है। ऋग्वेद ५-५१.४ में उन्हें 'वातत्विषः'—वात की दीप्ति वाले कहा गया है। अतः मरुत् आपः कणों की विद्युत–युक्त रश्मियां हैं।[2]

प्रजापति की सृष्टि सम्बन्धि एक अन्य कथा है-'प्रजापति द्वारा सृष्टि हो गई, किन्तु प्राणी प्रजापति से विमुख होकर लौट गये। अग्नि जातवेद ने उन्हें घेरकर पुन: लौटाया।[3] इसका भाव स्पष्ट है कि प्रजापति में सृजन शक्ति है, किन्तु प्राणियों को गति देने का काम अग्नि तत्त्व द्वारा ही सम्पन्न होता है।

ऐतरेयब्राह्मण ४.२३ में प्रजापति द्वारा अपने अंगों और प्राणों से द्वादशाह की उत्पत्ति बतलाई गई है। प्रजापति ने द्वादशाह को बारह गुना कर दिया। द्वादशाह से यज्ञ करके ही वह प्रजापति बनता है-

'प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्स्यादिति, स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेमं एवांगेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च द्वादशधा निरमिमीत तमाहरत्तेनायजत। ततो वै सोऽभवत्'।

यहां द्वादशाह को बारहगुना कर देने का भाव बारह महीने से प्रतीत होता है। इसमें संवत्सर की कल्पना स्पष्ट हो जाती है। जो स्वयं यज्ञ है वह अपने अंगों से यज्ञ को उत्पन्न करके यज्ञ करता है। आदित्य को अग्निष्टोम कहा गया है वह अपनी रश्मियों द्वारा विश्व–यज्ञ की सृष्टि करके स्वयं अपनी रश्मियों द्वारा उसमें आहुति देता है। इस यज्ञ से सृष्टि होती है, जिसके कारण उसका प्रजापति नाम सार्थक हो जाता है।

(ख) देवता और यज्ञ—

देवता और यज्ञ सम्बन्धी आख्यानों को हम दो भागों में बांट सकते हैं

(१) देवों का यज्ञ और आहुति द्वारा स्वर्ग-गमन।

(२) यज्ञ और दीक्षा का देवों से उत्क्रमण-विभिन्न साधनों द्वारा उनकी प्राप्ति।

द्वादशाह द्वारा देवों का स्वर्ग-गमन—असुरों की विरूप होने का शाप,[4] देवों का यज्ञ द्वारा स्वर्ग-गमन—यूप को उल्टा गाड़कर रहस्य को छिपाना,[5] देवों की यज्ञ, श्रम, तप और आहुतियों द्वारा स्वर्ग पर विजय वपाहुति का रहस्य[6]आदि का आख्यान प्रथम कोटि में आते हैं।

१-ऐ०ब्रा० ३.३४। २-वे०वि०नि०पृ० १४३। ३-ऐ०ब्रा ३.३६।
४- वही५.१। ५-वही २.१। ६-वही २.१३-१४।

दीक्षा का देवों से उत्क्रमण-इष्टि,[1] अदिति,[2] प्रैष[3] तथा ब्राह्मण[4] द्वारा प्राप्ति, यज्ञ के उत्क्रमण पर देवों द्वारा उसे विकलांग बना देना—अश्विनों द्वारा उसकी चिकित्सा [5]आदि आख्यान दूसरे प्रकार के अन्तर्गत आते हैं।

यज्ञ द्वारा स्वर्ग-गमन का उल्लेख ब्राह्मण में सर्वत्र मिलता है। यज्ञ स्वर्ग का साधन है। मानव-समाज को यज्ञ की प्रेरणा देने के लिए ही सम्भवतः इस प्रकार की कथाओं का सृजन हुआ हो। देवों से यज्ञ के उत्क्रमण के आख्यानों में यज्ञ-प्राप्ति के विभिन्न साधनों और कर्म-विशेष की सार्थकता की ओर सकेत किया गया है।

प्रथम प्रकार के आख्यानों में अन्तिम को छोड़कर सभी आख्यानों का विवरण पिछले अध्यायों में दिया जा चुका है। इस अवशिष्ट आख्यान में कहा गया है—

देवों ने यज्ञ, श्रम, तप आहुतियों द्वारा स्वर्ग लोक को जीता। वपा की आहुति देने के अनन्तर ही स्वर्ग लोक उनको दिखाई दिया। उन्होने दूसरे कृत्यों को सर्वथा छोड़कर वपा की आहुति द्वारा ही स्वर्ग लोक की प्राप्ति की।''[6]

ब्राह्मणकार ने वपाहुति का रहस्य समझाने के लिए कहा कि "वपा की आहुति अमृत की आहुति है। अग्नि की आहुति अमृत की आहुति है। आज्य की आहुति अमृत आहुति है तथा अमृत की आहुति सोम की आहुति है। ये सब आहुतियां अशरीरी हैं। इन्हीं अशरीरी आहुतियों द्वारा यजमान अमृतत्व को प्राप्त करता है"— "सौमाहुतिरेता वा अशरीरा आहुतयो या चैकाश्चाशरीरा आहुतयोऽमृतत्वमेव ताभिर्यजमानो जयति।"[7]

विश्व-व्याप्त यज्ञ में जो सोम की आहुति है, वही वपाहुति कही गई है। अग्नि में अग्नि की आहुति तथा अग्नि में सोम की आहुति ही वास्तविक यज्ञ है। अशरीरा आहुति कह कर ब्राह्मणकार ने यहां भी आधिदैविक या आध्यात्मिक तथ्य की ओर संकेत किया है। सोम तत्व सर्वत्र व्यापक है। उसे अमृत इसलिए कहा प्रतीत होता है कि इसकी आहुति से यजमान अमरता प्राप्त कर लेता है।

दीक्षा और यज्ञ के देवों से उत्क्रमण के कुछ आख्यान निर्वचनों के अन्तर्गत आ चुके है। यहां ब्राह्मण द्वारा यज्ञ प्राप्ति के आख्यान का विवरण देना पर्याप्त होगा-

"यज्ञ एक बार देवों को छोड़कर अन्नादि में चला गया। उन्होने उसे लाने के लिए विचार किया। उन्होंने चाहा कि यज्ञ को भी ले आवें, साथ ही अन्नादि को भी। देवों ने ब्राह्मण और छन्दों द्वारा यज्ञ को लाने का विचार किया। उन्होंने एक ब्राह्मण

१-ऐ०ब्रा०१.२.। २-वहीं १.७। ३-वही ३.६। ४-वही ३.४५।
५-वही १.१८। ६-वही २.१३। ७-वही २.१४।

को छन्दों द्वारा दीक्षित किया। उसमें दीक्षणीय इष्टि से लेकर पत्नी-समयाज तक का पूरा कृत्य किया। उन्होंने प्रायणीय से यज्ञ का सामीप्य प्राप्त किया [1]।'

इस आख्यान में प्रायणीय इष्टि, आतिथ्य इष्टि, उपसदों का कृत्य तथा उपवसथ का महत्व और यज्ञ में इनकी प्रधानता बतलाई गई है। इनकी प्रेरणा देने के लिए ही इसका निर्माण किया प्रतीत होता है। स्वयं ऐतरेयकार ने भी लिख दिया है कि देवों ने दीक्षणीय इष्टि से लेकर पत्नी-समयाज तक सब कृत्य किया, इसलिए मनुष्य भी उन्हीं का अनुकरण करते हैं—"ते ब्राह्मणं छन्दोभिरदीक्षायंस्तस्याऽऽन्तं यज्ञमतन्वतापि पत्नीः समयाजयंस्तस्माद्धाप्येतर्हि दीक्षणीयायामिष्टावान्तमेव यज्ञं तन्वते।"

(ग) देवासुर-संग्राम

देवताओं को यज्ञ की सम्पन्नता के लिए असुरों से कई बार युद्ध करना पड़ता था। देवताओं के यज्ञ में बाधा पहुंचाना असुरों का प्रमुख कार्य है। देवासुर-संग्राम की कथाओं को भी हम दो वर्गों में अध्ययन कर सकते हैं—

(१) इन्द्र के वृत्र-वध आदि साहसिक कार्य।

(२) देवताओं का असुरों से युद्ध तथा यज्ञ के कर्म विशेष द्वारा असुरों की पराजय।

प्रथम कोटि में इन्द्र द्वारा वृत्र-वध तथा कृत्य में पितरों को प्राथमिकता,[2] इन्द्र द्वारा वृत्रवध—मरुतों द्वारा उसकी सहायता,[3] इन्द्र की प्रजापति के समान बनने की अभिलाषा,[4] इन्द्र द्वारा असुरों को उक्थों से निकालना[5] आदि आख्यान आते हैं।

ऐ० ब्रा० ३.१५ में उल्लेख हुआ है कि इन्द्र ने वृत्र को मारकर यह सोचा कि सम्भवतः मैं इसको न हरा सका और दूर दूर फिरता रहा। यहां तक कि वह बहुत दूर देश में जा पहुंचा। ब्राह्मणकार ने दूरदेश का आख्यान करते हुए कहा है कि यह दूर देश अनुष्टुभ् है और वाणी ही अनुष्टुभ् है। वह इन्द्र वाणी में प्रवेश करके वहीं पड़ा रहा। पितरों ने उसे एक दिन पूर्व खोज निकाला, देवों ने एक दिन पीछे। इसलिए पितरों के लिए कृत्य एक दिन पहले किया जाता है।

यहां इन्द्र का अर्थ यज्ञ प्रतीत होता है। ऐतरेयकार ने ५.३४ में "इन्द्रो वै यज्ञः" कहकर इन्द्र का अर्थ स्पष्ट किया है। इस आख्यान का भाव यह है कि यज्ञ में पितरों का कृत्य पहले करना चाहिए। यज्ञ वाणी में छिपा रहता है, जिसे पितर पहले

१—ऐ०ब्रा० ३.४५। २—वही ३.१५। ३—वही ३.१६ तथा ३,२०। ४—वही ३.२१-२२। ५—वही ६.१४।

खोजकर निकालते हैं। पितर का अर्थ यहां सौम्यप्राण प्रतीत होता है।[1]

इसी प्रकार मरुत्वतीय, निष्केवल्य शस्त्र आदि का महत्व प्रदर्शित करने के लिए इन्द्र सम्बन्धी आख्यान प्रस्तुत हुए हैं।

देवासुर-संग्राम-उक्थों से साकमश्वं द्वारा असुरों का निष्कासन,[2] मित्रावरुण से पयस्या प्राप्त करके प्रातः सवन की रक्षा,[3] उपसद्-आहुतियों द्वारा असुरों का निष्कासन,[4] देवों द्वारा वरुण के पास अपने शरीरों का न्यास,[5] असुरों का भयभीत होना-अपोनप्त्रीय के पाठ द्वारा समाधान,[6] आग्नीध्र के पास देवों का पराजित न होना,[7] अग्नि द्वारा तीन श्रेणियां बनाकर असुरों से युद्ध,[8] देवों द्वारा पारुच्छेपीय छन्द से असुरों का निष्कासन,[9] देवों द्वारा युद्ध और माया से असुरों पर विजय,[10] विभिन्न शस्त्रों द्वारा असुरों का निष्कासन,[11] देवों द्वारा उत्तरपूर्व दिशा में असुरों पर विजय-प्राप्ति, [12]यज्ञ धारा असुरों का देवों के समान शक्ति-अर्जन-तूष्णींशंस द्वारा देवों की विजय,[13]आदि आख्यान देवासुर-संग्रामकी कथाओं के अन्तर्गत आते हैं।

समष्टि रूप में इन आख्यानों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि असुर देवों के यज्ञ कर्म में प्रायः बाधा पहुंचाते रहते हैं। यज्ञ के रहस्यों को जानने के लिए असुर अनेक उपाय किया करते थे। देवता उनसे यज्ञ के रहस्यों को छिपाकर रखा करते थे। ऐ० ब्रा० २.३० के अख्यान से पता चलता है कि एक समय असुरों ने यज्ञ किया और वे देवताओं के समान शक्तिशाली बन गये। देवासुर-संग्राम से सम्बन्धित अधिकांश आख्यानों का विवरण पिछले अध्यायों में दिया जा चुका है। यज्ञ के लिए विशेष कर्म, स्थान, दिशा, स्तोम आदि की प्रेरणा देने के लिए इन आख्यानों का निर्माण हुआ प्रतीत होता है।

उपसद्-आहुतियों का महत्व प्रदर्शन करने के लिए ऐ० ब्रा० १.२३ में इस प्रकार आख्यान दिया गया है—

"देव और असुर इन लोकों में लड़ने लगे। असुरों ने इन लोकों को इस प्रकार अपना गढ़ बना लिया जैसे शक्तिशाली राजा बना लेता है। उन्होंने इस (पृथ्वी) को अयस्मयी (लौह का) दुर्ग बनाया। अन्तरिक्ष को चांदी का तथा द्युलोक को सोने का बनाया देवों ने इनको देखा और कहा कि असुरों ने इन लोकों को इस प्रकार बना दिया है, हमें भी इनके प्रतिरूप रचना करनी चाहिये। उन्होंने पृथ्वी से "सदस्"

१—द्रष्टव्य ऐ०ब्रा० ३.३७ तथा ७.५ तथा वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति पृ० १३६। २—ऐ०ब्रा० ३.४९। ३—वही २.२०। ४—वही १.२३। ५—वही १.२४। ६—वही २.१६। ७—वही २.३६। ८—वही ३.३९। ९—वही ५.११ ! १०—वही ६.२४। ११-वही ६.४। १२-वही १.१४ या ८.१०। -१३वही२.३०।

अर्थात् बैठने का स्थान बनाया। अन्तरिक्ष से "अग्नीध्र" अर्थात अग्नि-स्थान तथा द्यौ से दो हविर्धान (हविपात्र) बनाये। इसके पश्चात् देवों ने कहा कि "उपसद्" नाम की आहुतियां दें, क्योंकि इनके द्वारा महापुर को जीत लेते हैं। जब उन्होंने पहली आहुति दी तो उन असुरों को पृथ्वी लोक से निकाल दिया। दूसरी आहुति से उन्हें अन्तरिक्ष से तथा तीसरी से उन्हें द्युलोक से निकाल दिया। असुर तीनों लोकों से निकल कर ऋतुओं में जा घुसे। देवताओं ने कहा कि आओ, उपसद् नामी आहुतियों को दें। तीन उपसदों को उन्होंने दो बार पढ़ कर छै कर लिया और असुरों को ऋतुओं से निकाल दिया। असुर ऋतुओं से हटकर मासों (महीनों) में चले गये। देवों ने छै उपसदों को पुनः दुगुनाकर लिया अर्थात एक एक की दो दो बार आहुति दी। इस प्रकार बारह उपसदों से उन्होंने महीनों से असुरों को निकाल दिया। असुर पुनः पक्षों (अर्धमासों) में चले गये। बारह उपसदों को उन्होंने दुगुना करके आहुति दी। इस प्रकार चौबीस पाखों से भी असुरों का निष्कासन कर दिया गया। पाखों के पश्चात् वे रात-दिन में चले गये। देवताओं ने पुनः उपसद् आहुतियां दी। जो दोपहर के पहले उपसद् आहुति दी, उससे देवों ने असुरों को दिन से निकाल दिया और जो दोपहर के बाद दी, उससे उनको रात्रि से निकाल दिया। तब से पहली आहुति पूर्वान्ह में दी जाती है और दूसरी अपरान्ह में। ऐसा करने से यज्ञ करने वाला शत्रु के लिए केवल इतना ही स्थान छोड़ता है, जितना दिन और रात के बीच में है। कहा है—

'तस्मात्सुपूर्वान्हे एव पूर्वयोपसदा प्रचरितव्यं स्वपरान्हेऽपरया तावन्तमेव तद्द्विषते लोकं परिशिनष्टि'।

उपसद् कर्म की प्रधानता को हृदयंगम कराने के लिये यह आख्यान रचा गया होगा। इसी प्रकार इस विभाग के अन्तर्गत आख्यानों का तत्त्व जाना जा सकता है। वस्तुतः ये अर्थवाद की कोटि में आते माने जा सकते हैं। प्राचीनों का भी ऐसा ही मत प्रतीत होता है। सायण ने ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिका में लिखा है कि ब्राह्मण दो प्रकार के हैं- विधि और अर्थवाद-

'द्विविधं ब्राह्मणम्-विधिरर्थवादश्चेति'।

यज्ञ की विशेष प्रवृत्तियों के निदर्शक इन आख्यानों के आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ ही ऐतरेयकार को अभीष्ट हैं। विस्तार-भय से एक ही आख्यान का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

२—छन्द-सम्बन्धी आख्यान

छन्द सम्बन्धी आख्यानों की सम्पूर्ण सामग्री का विवरण ऊपर अध्याय ४ में दिया जा चुका है। यहां इतना विशेष कहा जा सकता है कि स्वरों के निर्माण करने

वाली श्रुतियों के अध्ययन[1] से भी छन्द सम्बन्धी आख्यानों के अर्थ पर प्रकाश डाला जा सकता है। छन्द सम्बन्धी आख्यानों में सबसे प्रसिद्ध सौपर्ण-आख्यान है।[2]

गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती के स्वर क्रमशः षड्ज, धैवत और निषाद हैं। गायत्री की तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा और छन्दोवती चार श्रुतियां हैं। त्रिष्टुभ् की मदन्ती, रोहिणी और रम्या-तीन श्रुतियां हैं तथा जगती की उग्रा और क्षोभिणी श्रुतियां हैं। जगती की यथार्थ में एक ही श्रुति होनी चाहिये। दो श्रुतियों का निर्देश इसलिये है कि एक श्रुति से कभी स्वर का निर्माण नहीं होता।[3] उग्रा श्रुति स्वर निर्माण के लिये जोड़ी गई प्रतीत होती है। गायत्री, त्रिष्टुभ् और जगती के चार, तीन और एक अक्षरात्मक होने के आख्यान से इसका सामंजस्य बैठ जाता है। स्वर का ऊर्ध्व-गमन होता है, अतः छन्दों के सुपर्ण बनकर ऊपर उड़ने का भाव इसमें दीख पड़ता है। गायत्री का न्यास स्वर षड्ज है। इसी प्रकार त्रिष्टुभ् का धैवत तथा जगती का निषाद है। गायत्री अपने अक्षरों के साथ त्रिष्टुभ् और जगती द्वारा छोड़े हुये अक्षर साथ लेकर आती है। इसका भाव यह दिखाई देता है कि गायत्री छन्द के स्वरारोह के समय षड्ज तथा अवरोह के समय षड्जधैवत और निषाद का उपयोग होता है। इस प्रकार गायत्री आठ श्रुतियों या आठ अक्षरों वाली हो जाती है।

३-इतिवृत्तात्मक आख्यान

ऐतरेयब्राह्मण में कुछ आख्यान इस प्रकार के हैं जो इतिहास की सामग्री प्रस्तुत करते से दिखाई देते हैं। इन आख्यानों में दो प्रकार के आख्यान हैं। एक ऋषियों से सम्बन्धित और दूसरे यज्ञ के प्रतिपोषक राजाओं से सम्बन्धित।

(च) ऋषियों से सम्बन्धित आख्यानों के अन्तर्गत अंगिरा द्वारा कृत्य में भूल-नाभानेदिष्ट द्वारा भूल सुधार,[4] आदित्य और अंगिरा में कलह,[5] ऋभुओं द्वारा तप करके सोमपान का अधिकार प्राप्त करना,[6] ऐतशमुनि द्वारा ऐतशप्रलाप का दर्शन,[7] सर्प ऋषि द्वारा देवों का पथ-प्रदर्शन,[8] बुलिल ऋषि का विश्वजित् में होता बनना-शिल्पों पर विचार,[9] मनु के पुत्र शर्यात द्वारा अंगिरा के षडह कृत्य में भूल सुधार,[10] वाम देव को संपातों द्वारा त्रिलोक प्राप्ति,[11] विश्वतर द्वारा श्यापर्णों का निष्कासन,[12] वृषशुष्म और गन्धर्वगृहीता का अग्निहोत्र-काल पर विवाद,[13] सरस्वती के तट पर ऋषियों द्वारा सत्र तथा कवष का यज्ञ से निष्कासन[14] आदि आख्यान आते हैं।

१—देखिये यही प्रबन्ध २—ऐ०ब्रा० ३.२५-२८। ३—के०वासुदेव शास्त्री कृत सगीत शास्त्र पृ० १५।
४—ऐ०ब्रा० ५.१४। ५—वही ४.१७। ६—वही ३,३०। ७—वही ३.३०।
८—वही ६.१। ९—वही ६.३०। १०—वही ४.३२। ११—वही ४,३०।
१२—वही ७. २७-२८। १३—वही ३,२९। १४—वही २.१९।

इन कथाओं को समग्र रूप में देखने से पता चलता है कि ऋषियों की ये कथायें किसी न किसी प्रकार के यज्ञ कर्म से सम्बन्धित हैं। कृत्यों में त्रुटि होने पर ऋषियों द्वारा उचित मार्ग-दर्शन, कर्म विशेष के लिये नवीन सूक्त का निर्देशन आदि संकेत इन कथाओं में प्राप्त होते हैं। आगे अध्याय ६ में इनका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

(छ) यज्ञ के प्रतिपोषक राजाओं से सम्बन्धित आख्यानों में कुछ तो ऐसे आख्यान हैं जिनमें इन्द्र के महाभिषेक के समान राज्याभिषेक या राजसूय यज्ञ कराने वाले राजाओं की लघु कथायें आई हैं। इन राजाओं के नाम के साथ ही इनके राज्या-भिषेक आदि करने वाले पुरोहितों और उपदेशकर्ताओं के नाम भी दिये गये हैं। ऐसे नामों की सूची परिशिष्ट १ के ६४ वें आख्यानों के अन्तर्गत दे दी गई है। यज्ञ के प्रतिपोषकों की ये कथायें प्रायः आठवीं पंचिका में प्रस्तुत हुई हैं।

इन आख्यानों के अन्तर्गत शुनः शेप का प्रसिद्ध आख्यान मिलता है। यह आख्यान इक्ष्वाकु वंश के वैधस राजा के पुत्र हरिश्चन्द्र से सम्बन्धित है। इस आख्यान का पूर्वार्ध राजा की कथा से तथा उत्तरार्ध ऋषियों की कथा से सम्बन्धित है।

इन्द्र के महाभिषेक से अपना राज्याभिषेक कराने वाले राजाओं के इतिवृत्त जो ब्राह्मणकार ने दिये हैं, उनका उद्देश्य महाभिषेक की इस विशेष विधि की ओर प्रतिपोषक राजाओं का ध्यान आकर्षित करना तथा उन्हें प्रभूत दान के लिये प्रेरित करना रहा होगा। इस प्रकार की दो एक कथायें नीचे दी जा रही हैं–

'इन्द्र के इसी अभिषेक से अत्रि के लड़के उदमय ने अंग का अभिषेक किया। उससे अंग ने समस्त पृथिवी मंडल को जीत लिया और अश्वमेध यज्ञ किया। उस अलोपांग राजा अंग ने एक बार कहा था, 'हे ब्राह्मण, मैं तुझे दश हजार हाथी और दश हजार दासियां देता हूं, यदि तू मुझे अपने यज्ञ में बुलाये'। इसके सम्बन्ध में पांच श्लोक भी दिये गये हैं, जिनका अर्थ निम्न प्रकार है–

'प्रिय मेघ के पुत्रों ने अंगराज के पुरोहित अत्रि-पुत्र उदमय से दक्षिणा रूप में जितनी-जितनी गायों को देने के लिये कहा था। उतनी ही गायें अर्थात् दो दो हजार गायें उदमय ने मध्यसवन में उनको दे दीं। विरोचन के पुत्र अंगराज ने ८८ हजार श्वेत घोड़ों को रस्सियां खोल दीं और उन्हें यजमान पुरोहित उदमय को दे दिया। उदमय ने देश-देश से एकत्र की हुई दस हजार स्वर्णाभरण-भूषित(निष्ककंठी) दासियों को दान कर दिया। अवचत्नुक देश में अत्रि के लड़के ने दश हजार हाथी दिये। थके हुये ब्राह्मण ने अंग के दान को लेने के लिये नौकरों को कहा-'सौ तुझको' 'सौ तुझको,' ऐसा कहते कहते वह थक गया। तब उसने कहा 'हजार तुझको,' 'हजार तुझको'-और फिर थककर श्रमपरिहार के लिये ठहर गया (क्योंकि दान के लिये

बहुत अवशेष था)-'शतं तुभ्यं शतं तुभ्यमिति स्मैव प्रताम्यति। सहस्रं तुभ्यं सहस्रं तुभ्यमित्युक्त्वा प्राणान्स्म प्रतिपद्यत इति'।[1]

इसी प्रकार की एक अन्य कथा दुष्यन्त के पुत्र भरत के राज्याभिषेक से सम्बन्धित है-

'ममता के पुत्र दीर्घतमा ने इसी इन्द्र के महाभिषेक से दुष्यन्त के पुत्र भरत का अभिषेक किया। इससे भरत ने सब पृथिवी की परिक्रमा की और अश्वमेध यज्ञ किया। इसके दान के विषय में निम्न-उल्लेख किया गया है'-

'भरत ने मष्णार देश में १०७ काले और सफेद दांतों वाले, स्वर्णाभूषित हाथियों के (बद्वानि) झुंड या समूह दिये। जब दुष्यन्त के पुत्र भरत ने साचीगुण नामक नगर में अग्निचयन कर्म किया, तब हजारों गायों के गल्ले ब्राह्मणों को दान किये। दुष्यन्त के पुत्र भरत ने ७८ घोड़े यमुना किनारे तथा ५५ गंगा के किनारे इन्द्र के लिये बांधे। दुष्यन्त के पुत्र भरत ने ३३०० मेध्य घोड़ों को बांधा और अपनी प्रबल माया से माया वाले शत्रु को पराजित कर दिया। जैसे पांचजन में से कोई भी अपने हाथों से आकाश नहीं छू सकता, इसी प्रकार भरत के महाकर्म को न कोई पा सका, न पा सकेगा'।[2]

यज्ञ के प्रतिपोषकों की ये कथायें 'परकृति'[3] शब्द से अभिहित की जा सकती हैं। परकृति का शाब्दिक अर्थ दूसरे के द्वारा निष्पादित कर्म है। राजाओं के द्वारा यज्ञ समाप्ति पर ब्राह्मण पुरोहितों को दिये गये दान की ये कथायें हैं।

विस्तार की दृष्टि से ब्राह्मणों में दो प्रकार के आख्यान मिलते हैं-(१)स्वल्पकाय (२) विशालकाय।

ऐतरेयब्राह्मण के आख्यान प्रायः लघुकाय हैं। सारे निर्वचनात्मक आख्यान इस कोटि में आते हैं। बृहत्काय आख्यानों में सौपर्ण-आख्यान, तथा शुनः शेप का आख्यान मुख्य है।

शुनः शेप का आख्यान जितना विस्तार पूर्वक इस ब्राह्मण में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। शुनः शेप के आख्यान के कारण भी वैदिकवांमय में इस ब्राह्मण का महत्त्व बढ़ा है। अतः इस आख्यान का विस्तृत-अध्ययन अपेक्षित है।

ब्राह्मण में वर्णित आख्यान इस प्रकार है-

इक्ष्वाकु वंश के वैधस राजा हरिश्चन्द्र निस्सन्तान थे। एक बार पर्वत और नारद ऋषि उनके अतिथि बने। राजा ने नारद से पूछा कि ज्ञानी हो या अज्ञानी सभी पुत्र की कामना करते हैं। इससे उन्हें क्या लाभ होता है? नारद ने दश गाथाओं

१—ऐ०ब्रा० ८.२२। २—वही ८.२३। ३—शाबर भाष्य २.१.८।

में इसका उत्तर दिया। उन्होंने पुत्र के गुणों का वर्णन करते हुये कहा, 'अन्न प्राण है, वस्त्र शरण है, विवाह पशु-सम्पन्नता है, स्त्री सखा है तथा पुत्री दैन्य का हेतु है, किन्तु पुत्र उस लोक में भी ज्योति है। नारद ने हरिश्चन्द्र को परामर्श दिया, 'राजा वरुण के पास जाकर कहो कि मुझे पुत्र दो। मैं उस पुत्र से तुम्हारा यज्ञ करूंगा'।

हरिश्चन्द्र वरुण के पास गया। वरुण ने उसे पुत्र दिया जिसका नाम रोहित रखा गया। उस हृदय की ज्योति के उत्पन्न होने से राजा अपने कथन से परांमुख हो गया। उसने वरुण के बार बार स्मरण दिलाने पर भी बहाने बनाकर थोड़े समय के लिये उस भयंकर घटना को स्थगित करा लिया। रोहित जब शस्त्र धारी हो गया, तब पिता ने उससे वरुण के यज्ञ का प्रस्ताव किया। रोहित अपने पिता की उपेक्षा करके, धनुष लेकर जंगल की ओर चल दिया, जहां वह वर्ष भर भ्रमण करता रहा।

अब वरुण ने इक्ष्वाकु को पकड़ लिया। उसे महोदर रोग उत्पन्न हो गया। रोहित यह बात सुनकर घर की ओर लौटा। इसी बीच में इन्द्र ब्राह्मण-वेष धारण करके उससे मिला और उसे विचरण करते रहने का उपदेश दिया, उसकी बात मानकर रोहित बन में विचरता रहा। इस प्रकार पांच वर्ष तक वह विचरता रहा। छठे वर्ष विचरण करते हुये उसे क्षुधा-पीडित सुयबस ऋषि के पुत्र अजीगर्त मिले। उनके शुनः पुच्छ, शुनः शेप और शुनोलांगूल तीन पुत्र थे। रोहित ने ऋषि से कहा, 'मैं आपको सौ गायें दूंगा. आप मुझे इन पुत्रों में से एक को दे दो, जिसमें मैं अपने आप को बचा सकूं'।

ऋषि के स्वीकार करने पर रोहित मध्य पुत्र शुनः शेप को जंगल से ग्राम में ले आया। वरुण के समीप जाकर उसने कहा, 'इससे मैं तुम्हारा यजन करूंगा' वरुण ने क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण को श्रेष्ठ मानकर अपनी स्वीकृति दे दी और उसे राजसूय-यज्ञ की विधि बतला दी।

हरिश्चन्द्र राजा के इस राजसूय अनुष्ठान में विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वशिष्ठ ब्रह्मा और अयास्य ऋषि उद्गाता थे। अजीगर्त ने पुनः सौ गायें लेकर शुनः शेप का नियोजन (यूप-बन्धन) कर्म किया। विशसन (वध कर्म) कर्म के लिये भी वह सौ गायें और लेकर उद्यत हो गया। पिता के द्वारा इस अमानुषिक कर्म की चरम सीमा को देखकर शुनः शेप अपनी रक्षा के निमित्त देवताओं के समीप दौड़ा। पहले वह प्रजापति के पास गया, प्रजापति ने उसे अग्नि की, अग्नि ने सविता की, सविता ने वरुण की, वरुण ने पुनः अग्नि की, अग्नि ने विश्वेदेवों की, विश्वेदेवों ने उसे इन्द्र की स्तुति करने के लिये प्रेरित किया। इन्द्र ने अपनी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे स्वर्ण-रथ दिया और अश्विनों की स्तुति करने का निर्देश दिया। अश्विनों ने उससे उषा की स्तुति के लिये कहा। उषा के मंत्र पढ़ते हुये उसके बन्धन शिथिल होते गये और राजा हरिश्चन्द्र स्वस्थ होता गया।

ऋत्विजों ने यह देखकर शुनःशेप से यज्ञ में भाग लेने के लिये कहा। शुनःशेप ने निमन्त्रण स्वीकार करते हुये 'अंजःसव' (सोम–रस निकालने की विशेष विधि) की विधि को निकाला।

यज्ञानुष्ठान की समाप्ति पर शुनःशेप विश्वामित्र की गोद में जाकर बैठ गया। अजीगर्त ने ऋषि से अपना पुत्र मांगा। ऋषि ने कहा, 'देवों ने इसे मुझे दिया है'। तब से शुनःशेप का नाम 'देवरात वैश्वामित्र' हो गया। पिताजी ने शुनःशेप को भी बहुत समझाया, पर उसने अपने पिता के पास जाना स्वीकार न किया। शुनःशेप ने विश्वामित्र को राजपुत्र शब्द से सम्बोधन करके पूछा, 'हे राजपुत्रमैं अंगिरा का पुत्र आप के गोत्र का कैसे बन सकूंगा'। विश्वामित्र ने उसे पुत्रों में ज्येष्ठ और दाय का अधिकारी मानते हुये कहा, 'मैं मंत्रों से तुझे पुत्र बनाता हूं'।

"विश्वामित्र के सौ पुत्र थे। पचास मधुच्छन्दा से बड़े और पचास छोटे। बड़ों को पिता का यह कार्य अच्छा नहीं लगा। विश्वामित्र ने उन्हें शाप दे दिया, अतः वे अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिंद आदि दस्यु जातियों के हो गये। पिता से सहमति प्रकट करने वाले छोटे लड़कों को उसने आशीर्वाद दिया। वे देवरात शुनःशेप के अनुचर बने। देवरात भी इस प्रकार जन्हु के वंश की सम्पत्ति और गाथि के वंश की विद्या का उत्तराधिकारी बना। अन्त में फलश्रुति देते हुये कहा गया है कि जिसको संतान की कामना हो, वह शुनःशेप की कथा सुने। उसको अवश्य ही संतान की प्राप्ति होगी।

शुनःशेप की कथा का मूल

शुनःशेप के इस आख्यान का मूल हमें ऋग्वेद–संहिता में मिलता है। यद्यपि ऋग्वेद–सहिता में आख्यानों की कोई सत्ता नहीं है, फिर भी अनेकों कथाओं और घटनाओं के संकेत इसमें विद्यमान हैं। उत्तरवैदिक वाङ्मय में इन संकेतों का उपबृंहण किया गया है। ब्राह्मण–साहित्य में इस उपबृंहण–कला का पूर्ण विकास दीख पड़ता है। शुनःशेप के आख्यान का बीज ऋग्वेद में वर्णित 'शुनःशेप की वरुण–पाश से मुक्ति' के प्रसंग में मिलता है। ब्राह्मणकार ने स्वयं इसके ऋग्वेदिक आधार की ओर संकेत करते हुये कहा है कि सौ से अधिक ऋचाओं में यह शुनःशेप का आख्यान है–'तदेतत्परं ऋक्शतगाथं शौनःशेपमाख्यानम्'।[1]

ऋग्वेद की एक सौ सात ऋचायें[2] शुनःशेप से सम्बन्धित हैं। इन ऋचाओं का द्रष्टा शुनःशेप है। इन ऋचाओं में विभिन्न देवताओं की स्तुति की गई है। आख्यान में भी उन्हीं देवताओं का प्रसंग आया है, जिनकी स्तुति इनमें मिलती है। शुनःशेप

१—ऐ०ब्रा० ७.१८। २—ऋ० १-२४. से ३०सूक्त=९७ + ऋ०९–३सूक्त=१० =१०७ ऋचायें।

का नाम तो ऋग्वेद के केवल तीन मंत्रों में आया है। दो मंत्रों [1]में वरुण से पाश-मुक्ति के लिये याचना करते हुये शुनःशेप का चित्रण है तथा तीसरे मंत्र मे[2] अग्नि द्वारा उसकी शतशः पाश-मुक्ति का वर्णन है। इस प्रकार शुनःशेप की यूप-स्तम्भ से मुक्ति वैदिक तथ्य है।

यह आख्यान ऐतिहासिक घटना के रूप में दिखाई देता है, किन्तु संहिता के प्रसंग से निरा काल्पनिक सिद्ध हो जाता है। थोड़े परिवर्तन के साथ यह आख्यान शांखायन श्रौत्र सूत्र में भी मिलता है। इस कथा का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों में ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न कराना प्रतीत होता है।

इस आख्यान का अध्ययन प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन की जानकारी के लिये भी उपयुक्त है। वह युग कर्मकाण्ड-प्रधान युग था। वरुण उस समय के शक्तिशाली देवता थे। दैवी प्रकोप दुःख का मूल है। दत्तक पुत्रों की प्रथा का आभास भी इसमें मिलता है।

मैक्समूलर ने इस आख्यान में भारतीय जीवन के तीन तत्त्वों का अध्ययन बतलाया है। यह तत्त्व राजा, पुरोहित तथा वन में निवास करने वाले मनुष्य के द्वारा प्रकट किये गये हैं।[3]

डा० एच०एल० हरियप्पा ने इस आख्यान का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। आख्यान का क्रमिक विकास बतलाते हुये जो निष्कर्ष उन्होंने दिये हैं, वे इस प्रकार हैं-[4]

१-शुनःशेप की पाश-मुक्ति का आख्यान वैदिक तथ्य है।

२-ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य संहिताओं में वरुण के द्वारा शुनःशेप के गृहीत होने का वर्णन है। ऋ० १-२४.१५ के पाठ द्वारा उसकी पाश-मुक्ति होती है।

६-ऐतरेयब्राह्मण में यह आख्यान विस्तृत रूपमें मिलता है। शांखायन-श्रौतसूत्र, सर्वानुक्रमणिका, हरिवंश, वायु, ब्रह्म, भागवद् और देवीभागवत् पुराणों में ऐतरेय के समान ही अथवा किंचित् परिवर्तन के साथ यह आख्यान वर्णित है।

४-यह आख्यान उस समय के सामाजिक जीवन के अध्ययन के लिये उपयोगी है।

५-शुनःशेप के नाम का अध्ययन भी डा० हरियप्पा ने दिया है। उन्होंने इस नाम को सौख्य-स्तम्भ (पिलर ऑफ हेपीनेस) का द्योतक माना है।

१—ऋ०१-२४.१२ और १३। २—वही ५.२.७ – इस मंत्र का द्रष्टा अत्रिपुत्र कुमार है। ३—प्राचीन सं० साहित्य का इतिहास पृ०२१५-२२१। ४—ऋग्वेदिक लीगेन्ड्स थ्रू दी ऐजेज, पूना १९५३, पृ०१८४-२४०।

कुछ लोग इस आख्यान को देखकर यह कह सकते हैं कि उस काल में पुरुष-मेध की प्रथा थी और ब्राह्मण अपने लड़कों को इस कार्य के लिये बेच दिया करते थे। ऐतरेयब्राह्मणकार ने स्वयं एक स्थल पर पुरुष मेध का निषेध किया है। बतलाया गया है कि पुरुष आदि से मेध निकलकर पृथिवी में चला गया और चावल बन गया।[1]

प्रकीर्ण-आख्यान

गायों द्वारा गवामयन सत्र,[2] मेध्य का भूमि-प्रवेश करके चावल बन जाना,[3] पशुओं का देवभोजन से विमुख हो जाना,[4] पशुओं द्वारा देवानुसरण में मृत्यु को देखना,[5] वसतीवरि और एकधना जलों का पारस्परिक-कलह,[6] सोमक्रय के आख्यान[7] आदि प्रकीर्ण कहे जा सकते हैं।

गवामयन-सत्र के आख्यान में गायों द्वारा खुर और सींग की इच्छा से यज्ञ किया गया। दसवें महीने में उनके खुर और सींग निकल आये। उन्होंने कहा, 'जिस के लिये हमने यज्ञ किया था वह प्राप्त कर लिया, अब उठें'। जो उठ गई वे सींग वाली हुईं। जिन्होंने यह सोचा कि हम साल भर पूरा करलें, उनके सींग अश्रद्धा के कारण चले गये। वे बिना सींग वाली रह गईं। उनको ऊर्ज् (शक्ति) प्राप्त हुआ। सब ऋतुओं को प्राप्त करके अर्थात् बारह महीने यज्ञ करके वे ऊर्ज् के साथ उठीं। इस प्रकार गौएं सबकी प्रेमास्पद हुईं और उन्हें चारुता मिली।

ऐतरेयकार ने इस आख्यान को प्रारम्भ करने से पूर्व गो के अर्थ की ओर ध्यान आकर्षित किया है। गो का अर्थ उन्होंने आदित्य बतलाया है-'गावो वा आदित्याः'।

यहां आदित्य द्वारा यज्ञ किया जाता है। यह वार्षिक सत्र आदित्य-अयन कहा गया है। ऐतरेयकार को यहां आधिदैविक अर्थ अभिप्रेत है, ऐसा प्रतीत होता है। आदित्य रश्मियां उसके खुर और सींग मानी जा सकती हैं। वर्षाकाल में अर्थात् दश महीने पश्चात् उनकी रश्मियां लुप्त हो जाती हैं तथा दो महीने पश्चात् इतनी तेजी से निकलती हैं कि उनमें ऊर्ज ओतप्रोत रहता है।

इसी प्रकार वसतीवरि और एकधना जल जो यज्ञ के लिये लाये जाते हैं, परस्पर झगड़ पड़े कि हम यज्ञ को पहले ले जावें। भृगु ने इनको देखा और ऋ०२.३५.३ से शान्त किया।

इस आख्यान में भी ऐतरेयकार का संकेत प्राकृतिक दृश्य की ओर दिखाई देता है। ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्र में वर्ष्य तथा वैद्युत् जलों का वर्णन दिखाई देता

१-ऐ०ब्रा०२.८। २—वही ४.१७। ३—वही २.८। ४—वही २.३। ५-वही २.६। ६-वही २.२०। ७—वही १.१२ तथा १.२७।

है। वसतीवरि वर्ष्य-आप हैं तथा एकधना अपांनपात् के साथ रहने वाले हैं। भृगु की उत्पत्ति के विषय में ऐ०ब्रा० ३.३४ में बतलाया जा चुका है कि प्रजापति के वीर्य की प्रथम दीप्ति से आदित्य और द्वितीय दीप्ति से भृगु पैदा हुआ। अतः भृगु प्रकाश पुंज का द्योतक है। सम्भवतः यह सूर्य का वाची है। सूर्य के प्रकाश से दोनों आप अपना अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं, उनका कलह समाप्त हो जाता है। इस प्रकार प्राकृतिक-यज्ञ अबाध गति से चलता रहता है।

निषकर्ष:-ऐतरेयब्राह्मण के आख्यान और वेदार्थ

ऊपर के समस्त विवेचन से यह जाना जा सकता है कि इस ब्राह्मण में उपलब्ध आख्यान प्रायः रूपकात्मक हैं, जिनमें बड़ी गम्भीर और तात्त्विक बातों का संकेत मिलता है। जैसा छन्दों सम्बन्धी आख्यानों के विवेचन में दिखाया गया है, इन संकेतों द्वारा वेद मंत्रों के अर्थ समझने में अवश्य ही सहायता मिल सकती है। कुछ आख्यान ऐसे हैं, जिनमें ऋषियों आदि के इतिवृत्त मिलते हैं। इनके द्वारा तात्कालिक संस्कृति का अध्ययन सुचारु रूप से हो सकता है।

ऐतरेयब्राह्मण में ऋषि-विचार

ऐतरेयब्राह्मण में ऋषि-शब्द

ऐतरेयब्राह्मण में ऋषि-शब्द किसी व्यक्ति-विशेष के नाम[1] के साथ अथवा अकेला[2] भी प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण में यह शब्द सामान्य पदार्थ जैसे प्राण तथा व्यक्तिवाचक दोनों अर्थों में मिलता है। इनका परीक्षण आगे यथास्थान किया जाएगा। ऋषि के अतिरिक्त ग्रन्थ में मुनि[3] और यति[4] शब्दों का भी एकशः उल्लेख हुआ है।

ब्राह्मणकार द्वारा ऋषि मंत्र या सूक्त द्रष्टा, पौरोहित्यकर्म के सम्पादक तथा यज्ञ की नवीन विधियों के आविष्कर्त्ता के रूप में स्मरण किये गये है। मंत्र और ऋषि का तो अविभाज्य सम्बन्ध है। स्वयं ऐतरेयकार ने एक स्थल पर लिखा है कि मंत्र ऐसे बोलने चाहिये, जिनका सामंजस्य ऋषियों के साथ मिल सके। इस सामंजस्य से यजमान (यज्ञ करने वाले) की ऋषियों के साथ बन्धुता स्थापित हो जाती है-

'ताभिर्यथऋष्याप्रीणीयाद्यद्यथऋष्याप्रीणाति यजमानमेव तद्बन्धुताया नोत्सृजति'।[5]

इसका भाव स्पष्ट है कि ऋषियों के ज्ञान के बिना मंत्रों का ज्ञान अधूरा है।

ऐतरेयब्राह्मण में ऋषि-नाम

ऐतरेयब्राह्मण में वर्णित विभिन्न कर्मों या मंत्रों के साथ विभिन्न ऋषियों के नाम मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं-

अंगिरा, अजीगर्त, अत्रि, अयास्य, अर्बुद, अवत्सार, अश्व, अश्वतर, अष्टक, इलूषा, उदमय, उद्दालकआरुणि, उपाविः, उशीनर, ऋषभ, एकादशाक्ष, ऐतशमुनि, और्वाण ऋषि, कक्षीवान्, कद्रु, कवष, कश्यप, कुषारु, कौषीतकि, गन्धर्व-गृहिता कुमारी, गाधि, गृत्समद, गौरिवीति, च्यवन, जनश्रुति, जमदग्नि, जातूकर्ण, तुरः काविषेय, दीर्घतमा, देवभाग, देवरात वैश्वामित्र, नाभानेदिष्ट, नारद, नोधा, परुच्छेप-ऋषि, पर्वत, पैंग्य, प्रियव्रतसोमपा, बुलिल, भरद्वाज, भृगु, मधुच्छन्दा, मनतन्तु, मनु, मृगयु, रामभार्गवेय, रेणु, लांगलायन, वतावत्, वरु, वशिष्ठ, वामदेव, विमद, विश्वा-

---

१-ऐ०ब्रा ६.१ आदि। २-वही २.२५, ३.१९ आदि। ३-वही ६.३३। ४-वही ७.२८। ५-वही २.४।

मित्र, वाजरत्न, वृषशुष्म, शुचिवृक्षगोपालायन, शुनोलांगूल, शुनःपुच्छ, शुनःशेष, श्रुत-ऋषि, सत्यकामजाबाल, सत्यहव्य, सर्पऋषि, सुकीर्ति सुपर्ण, सुयवस, सोमशुष्मा और हिरण्यस्तूप ।[1]

इन नामों के साथ विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि ब्राह्मणकार किसी ऋषि विशेष का नाम देते हुये उसके पिता तथा पितामह के नाम का भी उल्लेख कर देते हैं। जैसे ऐ०ब्रा० ५.२९ में वृषशुष्म के परिचय के लिये वतावत्, पिता का और 'जतूकर्ण' पितामह का नाम दिया गया है। इसी प्रकार ऐ०ब्रा० ६-२९ में बुलिल के साथ 'अश्वतर' और 'अश्व' नामों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार एक नाम के साथ तीन तीन नामों का उल्लेख इस सूची की वृद्धि का कारण है।

ब्राह्मणकार की उक्त पद्धति सम्भवतः उस काल की परम्परा की निर्देशिका हो।

मंत्र कर्त्ता या सूक्त द्रष्टा ऋषि

ऋषि मंत्रकर्त्ता या मंत्र द्रष्टा कहे गये हैं। ऐ०ब्रा० २.१९ के एक ऋषि आख्यान में कवष को अपोनप्त्रीय मत्रों का द्रष्टा कहा गया है-'एदतपोनप्त्रीयमपश्यत्' इसी प्रकार ऐ०ब्रा० ६.१ में सर्प ऋषि के लिये मंत्रकृत् शव्द विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है-'अर्बुदः काद्रवेयः सर्पऋषिर्मन्त्रकृद्'।

ऋषियों के लिये 'मंत्रकृत्' शव्द अन्यत्र भी मिलता है[2]। 'मंत्रकृत्' शव्द का अर्थ यहां 'मंत्रद्रष्टा' ही अभिप्रेत है। इसका कारण यह है कि मंत्र मूलतःमनस्तत्त्व है।[3] उसके स्थूल रूपान्तरों को सम्भवतः ब्रह्म और वचः भी कहा जा सकता है। ऋग्वेद १०-१३४.७ में प्रयुक्त 'मंत्रश्रुत्यं चरामसि' से प्रकट होता है कि मंत्र निर्माण की क्रिया उस मानसिक ध्यान के समान होती है, जिसको निर्गुण सन्तों की वाणी में अनाहत नाद श्रवण की क्रिया कहा जाता है। अतः ऋषियों के लिये 'मंत्रकृत्' शव्द का प्रयोग अन्य अर्थ का द्योतक नहीं है।

ऋषि और सूक्त

द्वादशाह आदि यज्ञों में विभिन्न सूक्तों का विनियोग किया गया है। ब्राह्मण-कार द्वारा दृष्ट सूक्तों के प्रथम मत्र के द्वारा संकेत भी दिया है। ब्राह्मण में तेरह

१-इन नामों का प्रयोग ग्रन्थ में यत्र-तत्र हो गया है। अतः इनके ब्राह्मण-संकेत यथा स्थान दे दिये गये हैं। पुनःसंकेत देने की आवश्यकता नहीं समझी गई है।

२-तै० आ० ४.११.१-नमः ऋषिभ्यो मंत्रकृद्भ्यः, तां०ब्रा०१३.३.२४-आंगिरसो मंत्रकृतां मंत्रकृदासीत्, सत्याषाड श्रौ०सू०३.१-ऋषिभ्यो मंत्रकृद्भ्यः आदि।

३-ऋ० १.३१.१३।

स्थल ऐसे हैं, जहां सूक्तों के निर्देश के साथ ऋषियों द्वारा उनके दर्शन और उनके द्वारा विशेष लाभ की चर्चा की गई है। इनका विवरण निम्न प्रकार है–

(१) इलूषा के पुत्र कवष ने ऋग्वेद १०.३० के अपोनप्त्रीय मंत्रों को देखा। इसका पूरा विवरण 'परिसारक' शब्द के निर्वचन के प्रकरण में दिया जा चुका है।[1]

(२) ऐतशमुनि 'ऐतशप्रलाप' मंत्रों का द्रष्टा हुआ। इन मंत्रों का संकेत ब्राह्मण में 'अग्नेरायुः' दिया गया है। इसके साथ ही अथर्ववेद २०-१२९.१ का संकेत भी प्रस्तुत हुआ है।[2]

(३) शक्ति के पुत्र गौरिवीति ने स्वर्ग लोक के पास ऋग्वेद १०-७३ को देखा और इसके द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया।[3]

(४) ऋषि गृत्समद ने ऋ० २.१२ को देखा। इस सूक्त से ऋषि ने इन्द्र के परम धाम को पाया।[4]

(५) विमद ऋषि के द्वारा ऋ० १०.२१ दृष्ट हुआ।[5]

(६) ऋग्वेद १०.६३ को गय सूक्त कहा गया है। इसको ऋषि प्लत का पुत्र गय बताया गया हैं। इसके द्वारा उसने देवों के परम धाम को पाया और परम लोक को जीता।[6]

(७) परुच्छेप ऋषि के द्वारा ऋ० १.१२९ तथा १.१३० देखे गये।[7]

(८) नाभानेदिष्ट मनु का पुत्र था। भाइयों ने उसे सम्पत्ति से अलग कर दिया। पिता ने उससे ऋग्वेद १०.६१ व १०.६२ सूक्तों को अंगिराओं के यज्ञ में पढ़ने को कहा। नाभानेदिष्ट ने इन्हें पढ़ा, इससे उन्हें यज्ञ और स्वर्ग का ज्ञान प्राप्त हुआ। नाभानेदिष्ट को भी धन लाभ हो गया।[8]

(९) कक्षीवान् के पुत्र सुकीर्ति ने ऋग्वेद १०.१३१ को देखा। इसके द्वारा उसने गर्भ को बच्चा उत्पन्न करने योग्य बनाया।[9]

(१०) वशिष्ठ ने ऋ० ७.२३ सूक्त देखा उसके द्वारा वशिष्ठ इन्द्र के प्रिय धाम को पा गया और उसने परमलोक को जीता।[10]इस सूक्त के साथ ही ऋ० ७.१९ का द्रष्टा भी वशिष्ठ को माना गया है।[11]

(११) नोघा ऋषि ऋ० १.६१ का द्रष्टा कहा गया है।[12]

(१२(भरद्वाज ने ऋ० ६.२२ को देखा यह सूक्त सम्पात सूक्त है।[13]

(१३) विश्वामित्र ने सम्पात सूक्त देखे। ऋग्वेद के ४.१९, ४.२२ तथा

१—ऐ०ब्रा० २.१९। २—वही ६.३३। ३—वही ३.१९। ४-वही ५.२। ५—वही ५.४। ६—वही ५.२। ७—वही ५.१२-१३ ८—वही ५.१४। ९—वही ५.१५। १०—वही ६.२०। ११-वही ६.१८। १२-वही ६.१८। १३—वही ६.१८।

४.२३ इन तीन संपात सूक्तों का प्रथम द्रष्टा विश्वामित्र हुआ। विश्वामित्र के देखे हुये इन मंत्रों को वामदेव ने फैला दिया। विश्वामित्र ने वामदेव द्वारा इन सूक्तों का प्रचार देखकर उनके प्रतिमान रूप में ऐसे ही सूक्त बना दिये। ये सूक्त ऋग्वेद ३.४८, ३.३४, ३.३६ व ३.३८ हैं। ब्राह्मणकार ने ऋ० ३.४८ के लिये कहा है कि यह सूक्त स्वर्ग से सम्बन्धित है। इसी से देवों और ऋषियों ने स्वर्ग को जीता है।[1]

इन ऋषियों और सूक्तों के सम्बन्ध की जानकारी से निम्नांकित तथ्य सामने आते हैं—

(त) ऐतरेयकार ने कुछ सूक्तों के ऋषि का निर्देश करते हुए, उसमें विद्यमान विषय की ओर भी संकेत किया है। अतः निर्दिष्ट सूक्त के साथ जिस बात का उल्लेख हुआ है, उसका वर्णन उस सूक्त में मिलना चाहिये। जैसे विश्वामित्र से सम्बन्धित ऋ० ३.४८ के विषय में कहा गया है कि यह सूक्त स्वर्ग से सम्बंधित है, अतः इसमें स्वर्ग का वर्णन होना चाहिये। इसी प्रकार विश्वामित्र के ये सम्पात सूक्त जिन सूक्तों के प्रतिमान रूप में देखे गये हैं, उनमें भी वैसे ही भाव और विषय की विद्यमानता होनी चाहिये।

(थ) विश्वामित्र के सम्पात सूक्तों के विवरण से पता चलता है कि ऋग्वेद के कतिपय सूक्त मूल में किसी दूसरे ऋषि द्वारा दृष्ट हो सकते हैं, किन्तु अन्य ऋषि द्वारा उनका प्रचार होने से वे प्रचार करने वाले के द्वारा दृष्ट मान लिये गये हैं।[2]

(द) संहिता के सूक्तों के ऋषियों के विषयमें विप्रतिपत्ति होने पर अन्य साक्षियों के साथ ब्राह्मण के इस प्रकार के उल्लेखों से उसे दूर करने में सहायता मिल सकती है।[3] जैसे अनुक्रमणिका के अनुसार ऋ० ३.३६ अंगिरस का दर्शन है, किन्तु ब्राह्मण के अनुसार यह विश्वामित्र द्वारा दृष्ट हुआ। अतः इसे विश्वामित्र से सम्बन्धित मानना समीचीन होगा।

देवों के सहचर ऋषि

ऐतरेयब्राह्मण के कतिपय स्थलों पर देवताओं और ऋषियों का सहचर-भाव बतलाया गया है। कहीं वे अपनी किसी सम्मिलित समस्या पर विचार करते हुये पाये जाते हैं, तो कहीं एक दूसरे के सहायक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

१— ऐ०ब्रा० ६.१८।

२–तु०क० आर्य सिद्धान्त विमर्श, में संकलित लेख संख्या ५ और १०।

३-डा० सुधीर कुमार गुप्त के लेख 'औथरशिप ऑफ सम ऑफ दी हिम्ज ऑफ दी ऋग्वेद' में मन्त्रों के रचयिताओं के निर्णय के कुछ सिद्धान्त दिये गये हैं।

ब्राह्मण के दो स्थलों पर हम दोनों को सम्मिलित होकर सोम को एक दूसरे लोक से लाने का विचार करते हुये देखते हैं। प्रथम स्थल के अनुसार[1] जब सोम गन्धर्वों के पास था तब देवों और ऋषियों ने विचार किया कि सोम किस प्रकार प्राप्त किया जाय-वाणी ने कहा कि मुझे स्त्री बनाकर गन्धर्वों से सोम ले लो-देवों और ऋषियों ने कहा कि "हम तुम्हारे बिना नहीं रह सकते," परन्तु वाक् के द्वारा सुझाव प्रकट करने पर कि 'मैं' तुम्हें प्राप्त हो जाऊंगी" उन्होंने उसे बेचकर सोम प्राप्त किया और कुछ समय पश्चात् वाक् भी उन्हें प्राप्त हो गई। इसी प्रकार का दूसरा प्रसंग है, जब देवों और ऋषियों ने छन्दों की सहायता से सोम को प्राप्त किया।[2]

ऋषि लोग यज्ञ क्रिया में परिवर्तन के लिये देवताओं को सुझाव दिया करते थे। जतूकर्ण के पौत्र तथा वतावत् के पुत्र वृषशुष्म ने कहा कि हम देवताओं से कह देंगे कि जो अग्निहौत्र दोनों दिन किया जाता है, वह तीसरे दिन किया जाय।[3]

ब्राह्मण के एक प्रसंग में ऋषि देवताओं की यज्ञ में भूल को ठीक करते हुये दिखाये गये है। कहा गया है कि 'देवता गण सर्वचरु में सत्र करने बैठे। वे पाप के फल को दूर न कर सके। उनसे कद्रु का पुत्र, सर्पऋषि, मंत्र का कर्त्ता अर्बुद बोला, 'होता से की जाने वाली एक क्रिया तुमसे छूट गई है, उसे मैं कर दूं। तब तुम पाप के फल से छूट जाओगे'। देवताओं ने इसे स्वीकार कर लिया। हर मध्यदिन के सवन में वह आया। उनके पास बैठकर उसने सोम को निचोड़ा। इस प्रकार यहां ऋषि देवताओं के सहायक के रूप में चित्रित हुये हैं।[4]

मनुष्यों के सहचर ऋषि

ऋषि वह बीच की कड़ी है, जो एक ओर देवों से तथा दूसरी ओर मनुष्यों से सम्बन्धित है। कभी-कभी देवता यज्ञ से सम्बन्धित ऐसे रहस्यमय कार्य कर दिया करते थे, जिन्हें जानना कठिन होता था। ऐसे प्रसंगों में ऋषियों और मनुष्यों का सम्पर्क बतलाया गया है।

ऐ०ब्रा० २.१ में कहा गया है कि मनुष्य और ऋषि देवों के यज्ञ करने के स्थान पर आकर सोचने लगे कि हमें भी यज्ञ के विषय में कुछ ज्ञान हो जाय। उन्होंने यूप को उखाड़ कर उसका सिरा ऊपर कर दिया और यज्ञ का ज्ञान प्राप्त करके स्वर्ग को देख लिया।

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर वर्णन आया है कि 'वपाहुति से देव स्वर्ग

१—ऐ०ब्रा० १.२७। २—वही ३.२५-२७। ३—वही ५.२६।
४—वही ६.१।

लोक को चले गये । इसके पश्चात् मनुष्य और ऋषि देवों के स्थान पर गये । उन्होंने घूम फिर कर एक मृतक पशु को देखा, जिसकी अंतड़ियां निकली हुई थीं । तब उन्होंने जाना कि यज्ञ के पशु में वपा का होना आवश्यक है '।[1]

यज्ञ विधियां और आविष्कर्त्ता ऋषि

ऐतरेयब्राह्मण में ऋषियों का यज्ञ से घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाया गया है । यज्ञ की नवीन विधियों के आविष्कर्त्ता के रूप में भी उनका उल्लेख किया गया है । यज्ञ से सम्बन्धित कई तात्त्विक बातों का विवेचन तथा यज्ञ की असाधारण क्रियाओं के ज्ञान का दिग्दर्शन उनके द्वारा मिलता है । संक्षेप में इनका विवरण इस प्रकार है-

१-श्रोत्रिय के मुख के सौंदर्य-वर्धन का कारण-जनश्रुति के लड़के उपाविःने उपसदों के विषय में कहा-'इसी उपसद् के कारण कुरूप श्रोत्रिय का मुख भी भरा-भरा लगता है । उसने यह इसलिये कहा कि उपसदों की आज्य-हवि का घृत गले और मुख के सौंदर्य को बढ़ा देता है ।[2]

२-हविरग्नेवीहि आहुति-पुरोडाश की हर सवन की स्विष्टकृत् आहुति 'हविरग्नेवीहि' है । इसको समझने वाले अवत्सार ऋषि थे । इसी के द्वारा वे अग्नि के प्रिय धाम को पा गये ।[3]

३-देविका और देवियों के लिये पुरोडाश देने से लाभ-इन दोनों के लिये पुरोडाश देने से बलिष्ठ पुंसन्तति की वृद्धि होती है । यह पुरोडाश उनको पानी में डूबने से बचाता है । इस प्रसंग में शुचिवृक्ष-गोपालायन ने वृद्धद्युम्न प्रतारिण के यज्ञ में देविका और देवियों दोनों के लिये पुरोडाश दे दिया । इसलिये उस राजा का पुत्र जल पर तैरता था तथा राजा के चौंसठ पुत्र और पौत्र ऐसे थे, जो हर समय कवच पहने रहते थे ।[4]

४-समझकर यज्ञ करने वालों की पहिचान-नगरी के निवासी विद्वान् जानश्रुतेय ने मनतन्तु की सन्तानएकाद शाक्ष से कहा कि 'हम सन्तान से पहचानते हैं कि किसीने समझकर यज्ञ किया अथवा वे समझें '। उन्होंने बतलाया कि जो सूर्योदय के पश्चात् हवन करता है, उसके अनेक सन्तानें होती हैं ।[5]

५-शिल्पों के विषय में विचार-संवत्सर के विश्वजित् यज्ञ के मध्यसवन में दो सूक्त पढ़ने के पश्चात् एवयामरुत् न पढ़कर विष्णु की छाप वाले इन्द्र सूक्त का पाठ करना चाहिये यह गौश्ल का मत है ।[6]

ऐ०ब्रा० २.१३ । २—वही १.२५ । ३—वही २.२४ । ४—ऐ०ब्रा० ३.४८ ।
५—वही ५.३० । ६—वही ६.२९-३० ।

६–सोमपान से वंचित क्षत्रिय को सोमपान के अधिकार की प्राप्ति–ऐतरेयकार ने रामभार्गवेय का आख्यान दिया है। वह श्यापर्ण था, जिसने वेदों का अध्ययन किया था। सुषद्मा के पुत्र विश्वतर ने इसको यज्ञ के अधिकार से वंचित कर दिया था। किन्तु इसने ऐसी विधि का आविष्कार किया जिससे सोमपान से वंचित क्षत्रिय को पुनःसोमपान का अधिकार प्राप्त हो सके[1]

७-व्याहृति पूर्वक मंत्र-पाठ का विधान-सत्यकाम जाबाल का कथन है कि यदि व्याहृतियों को छोडकर मंत्र बोला जाय और अभिषेक किया जाय तो इसी जीवन की सिद्धि होती है। इसी कथन की पुष्टि में दूसरे ऋषि उद्दालक आरुणि कहते हैं कि जो व्याहृतियों सहित अभिषेक होता है, उसमें राजा विजय पाकर सभी वस्तुओं की प्राप्ति कर लेता है।[2]

८—अंजः सव' क्रिया के आविष्कार का वर्णन शुनःशेप के प्रसंग में पिछले अध्याय में किया जा चुका है।[3]

९—दशपूर्णमास में उपवास के दिन व्रत न करने का प्रायश्चित्त-यदि उपवास के दिन (यज्ञ से एक दिन पूर्व) कोई व्रत न करे तो देवता हवि को ग्रहण नही करते। इसके प्रायश्चित स्वरूप पूर्णमासी के प्रथम भाग में उपवास करे, यह पैंग्य की राय है। उत्तरभाग में व्रत करे यह कौषीतकि का मत है[4]

१०– ब्रह्म परिमर क्रिया–इस त्रिया का पूर्ण विवरण ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में दिया जायेगा। इस क्रिया को कुषारु के पुत्र मैत्रेय ने कृषि के पुत्र भर्ग-गोत्री राजा सत्वन् से कहा था।[5]

ऋषि शब्द-प्राण वाचक

ऐतरेयब्राह्मण में उल्लेख हुआ है कि वाणी प्राण के साथ बुलाई गई। दिव्य ऋषि जो शरीरों की रक्षा करने वाले और तप से उत्पन्न हुये हैं, बुलाये गये।[6] यहां दिव्य, तनूपा और तपोजा विशेषण शब्द द्रष्टव्य हैं। इसी प्रसंग में ब्राह्मणकार ने ऋषि का अर्थ स्पष्ट करते हुये कहा है कि प्राण ही ऋषि हैं-'प्राणा वा ऋषयः'। यहीं मन के साथ आंख और आत्मा के साथ कान को बुलाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि प्राण रूप ऋषि इन सबमें व्याप्त रहते हैं। ब्राह्मण के एक दूसरे स्थल पर[7] ऋग्वेद का १०–७३.११ मंत्र दिया गया है–

१—ऐ०ब्रा७.२७ व ३४। २–वही ८.७। ३–वही ७.१८। ४-वही ७.११। ५—वही ८.२९। ६-वही २.२७। ७—वही ३.१९।

वयःसुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अपध्वान्तमूर्णु हि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान् ।

इसका अर्थ है कि प्रिय विचार वाले ऋषि सुन्दर परों वाले पक्षियों के समान इन्द्र के पास गये। उन्होंने प्रार्थना की कि अन्धकार को दूर करदो। आंख को प्रकाश से भरदो तथा निधा या पाश से बंधे हुये हम लोगों को मुक्त करदो। ऐतरेयब्राह्मण में प्राणों को वयः [1] कहा गया है। यहां भी ऋषि शब्द का आशय प्राण प्रतीत होता है।

यह तो सम्भवतः निश्चित प्रतीत होता है कि ऐतरेयकार ऋषि सामान्य का अर्थ प्राण से ही करते दिखाई देते हैं और इस ऋषि सामान्य की स्थिति पिंडांड तथा ब्रह्माण्ड में समान रूप से मानते प्रतीत होते हैं। डा० सुधीर कुमार गुप्त वेद मंत्रों से सम्बद्ध ऋषिनामों को मन्त्रार्थ को द्योतक संज्ञाएं मानकर सम्भवतः यही मत प्रस्तुत करते हैं।[2]

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय बात है कि कुछ व्यक्तिगत नामधारी ऐसे ऋषि हैं, जो किसी न किसी प्रकार प्राण के ही वाचक दिखाई देते हैं। ये ऋषि दिव्य-दृष्टि वाले हैं, जो देवों के कार्यों का दर्शन करने में सक्षम हैं।

कहा गया है कि ऋषियों में से भरद्वाज ने देखा कि असुर उक्थ्यों में छिपे हैं। [3]एक अज्ञातनामा ऋषि ने इन्द्रवायु के सोमपान का दर्शन किया।[4] यज्ञ के पवित्र जलों के झगड़े को भृगु ने निबटाया।[5] एक ऋषि ने इन्द्रवृत्र के युद्ध को देखा, देव वृत्र की फुफकार से भाग गये। मरुतों ने इन्द्र को नहीं छोड़ा आदि।[6] इस अज्ञातनामा ऋषि ने (ऋ०८.९६.७) मंत्र पढ़ा। (इस मंत्र को देखने से यह ऋषि द्युतान नामक प्रतीत होता है)।

इसी प्रकार ऐतरेयब्राह्मण में अंगिरसों और आदित्यों की अलौकिकता के दर्शन होते हैं।[7] प्रजापति के वीर्य से सृष्टि के प्रसंग में आदित्य, भृगु और आंगिरस की उत्पत्ति बतलाई गई है।[8] इनका अग्नि से घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाया गया है। ये किसी ज्योतिर्मय तत्त्व के प्रतीक दिखाई देते हैं।

अंगिरा सूर्य का भी एक नाम है। अपररात्रि का सूर्य अंगिरा तथा अग्निहोत्र बेला का सूर्य भृगु है [9]। ऐतरेयब्राह्मण ३.३४ में कहा गया है-"ये अंगारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्"। अंगिरसों को अंगार कहना भी उनके अग्नितत्त्व का प्रतीक

१—ऐ०ब्रा० १.२८। २—देखो ऋग्वेद के ऋषि, उनका सन्देश और दर्शन।
३—ऐ०ब्रा ३.४९। ४—वही २.२५। ५—वही २.२०। ६—वही ३.२०।
७-वही ६.३४। ८-वही ३.३४। ९-जै०उप०ब्रा०४.५.१.३।

है। डा० लक्ष्मीनारायण ने लिखा है कि "जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के अग्नितत्त्व को अंगारों, उषाओं, नक्षत्रों आदि ज्योतिर्मय पदार्थों में देखा जा सकता है, उसी प्रकार पिण्डांड में अग्नितत्त्व को प्राणों के रूप में भी माना जा सकता है।[1]

ऐतरेयब्राह्मण में अंगिरसों का आदित्यों के साथ एक विवाद भी मिलता है। सत्र में बैठे हुये आदित्यों और अंगिरसों में विवाद खड़ा हो गया कि हम पहले स्वर्ग को प्राप्त करेंगे : हम पहले स्वर्ग को प्राप्त करेंगे। अंगिरसों ने श्वःसुति देखी और आदित्यों ने अधःसुति देखी। अंगिरसो ने अग्नि को भेजकर आदित्यों से कहलवाया कि हम कल यज्ञ कर रहे हैं। आदित्यों ने अग्नि को देखकर सोमयज्ञ को जान लिया। अग्नि ने उनके पास आकर कहा कि "कल हम सोमयज्ञ करने वाले हैं।" आदित्यों ने कहा हम अभी करने वाले हैं। तुम होता बनो। अंगिरस बड़े कुपित हुये, किन्तु अग्नि को होताबनने से न रोक सके। इस प्रकार आदित्यों ने पहले स्वर्ग लोक प्राप्त किया।[2]

पौरोहित्य-कर्म के सम्पादक ऋषि

यज्ञ और पुरोहित का अटूट सम्बन्ध है। जहां यज्ञ है वहां पुरोहित का होना अनिवार्य है।[3]प्रायः देखा गया है कि ऋषि लोग ही पौरोहित्य कर्म का सम्पादन किया करते थे। यज्ञविधियों के आविष्कर्त्ता ऋषियों के प्रसंग में जिन ऋषियों का नाम आया हैं, वे मनुष्याकारधारी हैं और व्यक्ति-विशेष के द्योतक हैं। पैंग्य, कौषीतकि, मैत्रेय, सत्यकामजाबाल, उद्दालक आरुणि, अवत्सार, उपाविः. शुचिवृक्ष गोपालायन, जानश्रुतेय, गौश्ल, राममार्गवेय, तथा राज्याभिषेक कराने वाले अन्य ऋषि[4] पौरोहित्य-कर्म के सम्पादकों के रूप में दिखाई देते हैं।

व्यक्तिगत ऋषिनामों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि प्राणवाची सामान्य पदार्थ के द्योतक ऋषि नामों के धारक मनुष्य विशेष भी ऋषि कहलाये। एक ही नाम के अनेक ऋषियों का होना भी स्वभाविक है। एक ही वंश में एक ही नाम के एकाधिक मनुष्य हो सकते हैं।

इन ऋषियों का प्रायः नाम ही संकेत रूप में मिलता है। इनके जीवनवृत्त का लगभाग अभाव है। राज्याभिषेक कराने वाले कुछ ऋषियों का विवरण पिछले अध्याय में प्रस्तुत किया जा चुका है।

निष्कर्ष

ऋषि पद और ऋषि नाम केवल व्यक्तियों के ही निर्देशक नहीं हैं। उनमें जहां यज्ञ क्रियाओं आदि के आविष्कारक और सम्पादकों के नाम हैं वहां प्राण आदि अर्थों के वाचक पद भी हैं। ऐसे पदों का मन्त्रार्थ में उपयोग है और मन्त्रों के विषयों से उन का सम्बन्ध है। ऋषि देवताओं और छन्दों के सहचर हैं।

१-देखिये उनका थीसीस ऋग्वेद के ऋषि-राजस्थान वि०वि०-'अंगिरा तथाअंगिरसों की समीक्षा'। २-ऐ०ब्रा० ६.३४। ३-पुरोहित के विषय में अगले अध्याय में विस्तृत-प्रकाश डाला जावेगा।

४-इनकी सूची परिशिष्ट १ के क्रमांक ६४ में देखी जा सकती है।

ऐतरेयब्राह्मण में पुरोहित का महत्त्व

पुरोहित का स्वरूप

ऐतरेयब्राह्मण में पुरोहित को "प्रत्यक्ष-वैश्वानराग्नि" कहा गया है-"अग्निर्वा एष वैश्वानरः पंचमेनियत्पुरोहितः" ।[1] पुरोहित के स्वरूप को जानने के लिये "वैश्वानर-अग्नि" की परिभाषा जानना आवश्यक है ।

ऐतरेयब्राह्मण के तीन स्थलों[2] पर वैश्वानर-अग्नि का उल्लेख हुआ है । पहले दो स्थलों पर शब्द संवत्सर और पुरोहित के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है । तीसरे स्थान पर इसका उल्लेख अग्निहोत्र के प्रायश्चित्त-प्रसंग में हुआ है । उसके अनुसार कहा गया है कि आग्रायण-इष्टि में आहुति दिये बिना यदि कोई नवान्न ग्रहण करले तो वैश्वानर के लिये दश कपालों में पुरोडाश बनावे । इसके अनुवाक्य के लिये ऋग्वेद का १-९८.२ मंत्र प्रस्तुत हुआ है । इसका भाष्य करते हुये सायण ने लिखा है कि समस्त मनुष्यों से सम्बन्धित होने के कारण यह वैश्वानर है-"विश्वेषां नराणां संबन्धी" ।[3] उक्त मंत्र का अर्थ यह है कि जो अग्नि द्युलोक में आदित्य रूप से तथा पृथिवीलोक में आहवनीय रूप में विद्यमान है-उसे सम्पूर्ण संसार देखता है । वह अग्नि सूर्य के साथ गति करता है । भाव यह दिखाई देता है कि सूर्याग्नि समस्त जड़-चेतन पदार्थों में विद्यमान है । शरीरस्थ-अग्नि भी उसी का रूप है । शतपथ ब्राह्मण में इसी प्रकार का कथन हुआ है-

"अयमग्निर्वैश्वानरो यो अयमन्तः पुरुषः ....तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णौ पिधाय श्रृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नेतं घोषं श्रृणोति" ।[4] निरुक्तकार के अनुसार सब के नायक और सब में प्राप्त को वैश्वानर कहते हैं ।[5]

पुरोहित में विद्यमान वैश्वानराग्नि अविकृत रूप में रहता है । इसीलिये उसकी मानुषी आत्मा दैवी आत्मा में परिवर्तित हो जाती है । पुरोहित में यह अग्नि इतना प्रबल और चैतन्य होता है कि वह हाड़-मांस का पुतला न समझा जाकर साक्षात् अग्नि-स्वरूप समझा गया है । यज्ञ का नायक होने से भी पुरोहित को वैश्वानर अग्नि कहा हो सकता है ।

१—ऐ०ब्रा० ८.२४ । २—वही ३.४१, ८.२४ तथा ७.९ ।

३—ऋ०सा०भा०—१-९८.२, 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनाना-मभिश्रीः । इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ।

४—श०ब्रा० १४,८,१०.१ । ५—नि० ७।२१ ।

पुरोहित की आवश्यकता

ऐतरेय ब्राह्मण में पुरोहित की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुये बतलाया गया है कि देवता उस राजा का अन्न ग्रहण नहीं करते, जिसके पास पुरोहित नहीं होता। यज्ञ की इच्छा रखने वाले को पुरोहित की नियुक्ति करनी ही चाहिये। "देव मेरे अन्न को खावें"—ऐसा सोचकर जो राजा पुरोहित को नियुक्त करता है, वह मानो स्वर्ग को ले जाने वाली अग्नियों की स्थापना करता है।[1] इसका आशय यह प्रतीत होता है कि पुरोहित रूपी वैश्वानराग्नि से प्रेरित होकर राजा की शरीरस्थ वैश्वानराग्नि भी संस्कृत हो जाती है तथा उसमें स्वर्ग की ओर जाने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। ब्राह्मणकार ने मैत्रावरुण पुरोहित को यज्ञ का मन और होता को वाणी कहकर भी यज्ञ के लिये पुरोहित की अनिवार्यता सिद्ध की है।[2] राजा के अभिषेक-कर्म के लिये तो पुरोहित ही सब कुछ है,[3] क्योंकि यज्ञ के रहस्य को समझकर यज्ञ करने से राजा की प्रतिष्ठा बढ़ती है।[4]

पुरोहित की नियुक्ति : स्वर्गीय अग्नियों की स्थापना

पुरोहित राजाके लिये आहवनीय अग्निहै। स्त्री गार्हपत्य और पुत्र अन्वाहार्यपचन या दक्षिणाग्नि है।[5] इस त्रिविध अग्नि में आहवनीय अग्नि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजा जो कुछ पुरोहित के लिये करता है-वह मानो आहवनीय में यज्ञ करता है। इन अग्नियों द्वारा क्षत्र, बल, राष्ट्र और प्रजा की प्राप्ति होती है। यदि ये अग्नि पुरोहित द्वारा अर्चित न हों तो यजमान स्वर्गलोक तथा क्षत्र, बल, राष्ट्र और प्रजा से च्युत हो जाता है।[6] क्षत्र, बल, राष्ट्र और प्रजा का अर्थ क्रमशः मानसोत्साह, सेना, देश और प्रजा किया जा सकता है।

पुरोहित शब्द के अर्थ पर प्रकाश

पुरोहित शब्द के विशेष अर्थ की ओर ध्यान आकर्षित करने केलिये ब्राह्मणकार ने ऋग्वेद के तीन मंत्र[7] प्रस्तुत किये हैं। इनका व्याख्यान करते हुये उन्होंने बृहस्पति, ब्रह्मा और ब्रह्मन् का अर्थ पुरोहित दिया है। ऐ० ब्रा० ३.३४ में ब्रहस्पति को आंगिरस कहा गया है तथा पिछले अध्याय में आंगिरस और प्राण समानार्थक कहे जा चुके हैं। ऐ० ब्रा० ४.२१ ने ब्रह्म को वाक् का पर्याय माना है। इस प्रकार पुरोहित का अर्थ प्राण और वाक् हो जाता है।

१—ऐ०ब्रा० ८.२४। २—वही २.२८। ३—वही ८.६। ४—वही ८.११।
५-वही ८.२४। ६-वही ८.२४। ७-ऋ०४.५०.७. ४.५०.८ तथा ४.५०.९

पुरोहित की योग्यता

पुरोहित किस व्यक्ति को बनाना चाहिये ? इस प्रश्न पर भी ऐतरेयब्राह्मण में विचार किया गया है। कहा गया है कि जो तीन पुरोहितों (अग्नि, वायु और आदित्य) तथा तीन पुरोधाताओं (पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ) को जानता है—वह पुरोहित बनाने योग्य है।[1] इन सबका ज्ञान रखने वाला पुरोहित जिस राजा के पास हो, उसके अन्य राजा मित्र हो जाते हैं तथा वह सब शत्रुओं को जीत लेता है। उसकी प्रजा एकमत होकर निरन्तर उसका अनुसरण करती है। यहां अग्नि, वायु, आदित्य और पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ का सम्पूर्ण विज्ञान जाननेकी ओर संकेत किया गया है।

पुरोहित-वरण का मन्त्र

ऐतरेयकार ने पुरोहित-वरण के मंत्र भी दिये हैं। ये मंत्र ब्राह्मणकार द्वारा रचे हुये ज्ञात होते हैं। इनके अनुसार पुरोहित राजा से कहता है—"मैं भूर्भुवः स्व और ओम् हूं, तुम भी वही हो। मैं स्वर्ग हूं, तुम पृथिवी हो। मैं साम हूं, तुम ऋक् हो। हम पुरों (नगरों व ग्रामों) को (पतन के) महा भय से बचावें और धारण करें। तुम शरीर हो, अतः मेरे शरीर की रक्षा करो आदि"।[2]

इसमें पुरोहित और राजा के एकीकृत-स्वरूप का भाव दिखाया गया है। पुरोहित आत्मा है और राजा शरीर। पुरोहित का शरीर भी राजा का शरीर है। इसीलिये राजा को अपने शरीर की रक्षा करने के लिये कहा गया है। मंत्रों में पुरोहित को स्वर्ग और राजा को पृथिवी बतलाया गया है। इसीलिये पुरोहित को स्वर्गीय और राजा को पार्थिव कहा जाता है। पुरोहित के शरीर की रक्षा की ओर जो संकेत है, उसकी पुष्टि "बृहस्पतिं यः सुभृतंबिभर्ति"[3] से हो जाती है।

पुरोहित में विद्यमान पांच विघ्नकारक शक्तियां

पुरोहित जो वैश्वानर अग्नि है-अपने भीतर पांच विघ्नकारक-शक्तियों को रखता है।[4] जो अग्नि कल्याणकारी है, वही कुपित होने पर विघ्नकारक सिद्ध हो जाता है। पुरोहित के शरीर के पांच स्थलों पर ये शक्तियां विद्यमान रहती हैं। एक वाणी में, एक पैरों में, एक त्वचा में, एक हृदय में तथा एक उपस्थ-इन्द्रिय में।[5] इन शक्तियों के कारण पुरोहित उग्र-अग्नि के रूप में प्रदर्शित होता है। अग्नि के

१—ऐ०ब्रा० ८.२७। २—वही ८.२७। ३—ऋ० ४-५०.७।
४—ऐ०ब्रा० ८.२४। ५—वही ८.२४।

समान ही उसमें निग्रह और अनुग्रह की शक्ति उपलब्ध होती है। कदाचित् वह कुपित हो जाय, तो अपनी समस्त शक्तियों से राजा पर आक्रमण कर देता है।

इन शक्तियों के परीक्षण से ज्ञात होता है कि ये शक्तियां नैतिक, मानसिक और सामाजिक विप्लव उत्पन्न करने वाली शक्तियां हैं। वाक्-शक्ति के कुपित होने से पुरोहित राजा को शाप दे सकता था, उसके विरोध में लोगों को उभाड़ सकता था। सारा राष्ट्र पुरोहित की वाणी में ही बोलता था। पैरों को विघ्नकारक शक्ति द्वारा वह राष्ट्र के प्रमुख स्थलों की यात्रा करके वहां के लोगों में हलचल पैदा कर सकता था। त्वचा में विद्यमान विद्युत शक्ति के स्पर्श से वह गुणों का आकर्शण कर सकता था। हृदय में स्थित शक्ति द्वारा राजा के प्रति विरोधी भावना पैदा करके वह उसके मार्ग में बाधा उपस्थित कर सकता था। भावों के भी सूक्ष्म-कण होते हैं। वे मनुष्यों का इष्ट व अनिष्ट दोनों करने में समर्थ हो सकते हैं। उपस्थ इन्द्रिय की अनिष्टकारक शक्ति के कुपित होने से वह असुरों को जन्म दे सकता था। इस प्रकार पुरोहित के अंगों में निवास करने वाला वैश्वानराग्नि विभिन्न शक्तिरूपों में परिवर्तित होकर राजा का समूल विनाश करने में समर्थ प्रतीत होता है।[1]

पुरोहित की विघ्नकारक शक्तियों की शांति

ऐतरेयब्राह्मण में कहा गया हैं कि प्रसन्न हुआ पुरोहित राजा को घेरकर इस प्रकार सुरक्षित रखता है, जैसे समुद्र भूमि को। घर पर आये हुये पुरोहित के लिये राजा को निम्नांकित उपचार करने चाहिये-

पुरोहित के आने पर राजा यह कहे-''भगवन् आप अब तक कहां बिराजे-नोकरों! आप के लिये आसन लाओ''। यह कहकर राजा पुरोहित की वाणी में स्थित विघ्नकारक शक्ति को शांत करता है। पैरों में विद्यमान विघ्नकारक शक्ति को वह पादोदक प्रस्तुत करके, त्वचा में रहने वाली विघ्नकारक शक्ति को अलंकारों द्वारा, हृदय में निवास करने वाली विघ्नकारिणी शक्ति को वह तर्पण करके तथा उपस्थ-इन्द्रिय में विद्यमान उग्र-शक्ति को वह घर में स्वच्छन्दता पूर्वक निवास करवा-कर शांत करता है। इस प्रकार पुरोहित शांततनु और प्रसन्न होकर राजा को स्वर्ग में ले जाता है।[2]

जो राजा इस रहस्य को समझकर राष्ट्र रक्षक ब्राह्मण-पुरोहित की नियुक्ति करता है, उसका राष्ट्र सुरक्षित रहता है। उसकी अपमृत्यु कदापि नहीं होती तथा

१—देखो अथर्ववेद का ब्रह्मजाया सूक्त और 'ब्राह्मण की' गौ-'अभय' विद्यालंकार, हरिद्वार १९८६ वि० में उनका विवरण।
२—ऐ०ब्रा० ८.२४-२५।

वह वृद्धावस्था पर्यन्त जीवित रहकर पूर्णायु प्राप्त करता है। उसकी प्रजा बिना किसी विरोध के और दलबन्दी के उसकी आज्ञाओं को शिरोधार्य करती है।[1]

सारांश यह है कि राजा को यह ध्यान रखना चाहिये कि यथोचित सत्कार के बिना पुरोहित के भीतर स्थित वैश्वानराग्नि किसी प्रकार क्षुब्ध न होने पावे। क्षुब्ध हुये वैश्वानराग्नि द्वारा ही सृष्टि में विनाश की क्रियायें सम्पन्न होती हैं। ऐसी अवस्था में राष्ट्र के विनाश की पूर्ण आशंका हो जाती है। राष्ट्रगोपा-पुरोहित राष्ट्र विनाशक भी हो सकता है। उसके शरीर में व्याप्त अग्नि क्षोभ को प्राप्त होकर अपने विद्युत्-प्रवाह को निग्रह की ओर बढ़ाता है।

निष्कर्ष

यज्ञ-कर्म में पुरोहित का बड़ा महत्त्व है। वह अनिवार्य भी है। उसकी शक्ति महान् है। वह जहां कल्याण का सम्पादक है, वहां वह पांच हिंसा-शक्तियों से समन्वित भी है। उस का आदर-सत्कार करना परम आवश्यक है। तिरस्कृत होने पर वह राष्ट्र के विनाश का कारण बन सकता है।

१—ऐ०ब्रा० ८.२४-२५।

ऐतरेयब्राह्मण में देवता-निरूपण

ऐतरेयब्राह्मण में देवों का सामान्य-स्वरूप

ब्राह्मण में प्रारम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त यज्ञ की विभिन्न क्रियाओं का निर्देश मिलता है, जिसमें अनेक देवों का आह्वान किया गया है। ग्रन्थ में देवताओं के किसी निश्चित स्वरूप अथवा व्यक्तित्व का चित्रण नहीं किया गया है। एक स्थल पर उनका चित्रण प्राकृतिक दृश्यों के रूप में हुआ है, तो दूसरे स्थल पर उनके शरीर स्थित विभिन्न-शक्तियों के होने का आभास मिलता है। यह भी देखने में आया है कि उनमें वैयक्तिक विशेषता नहीं के बराबर है। जब विभिन्न देवता एक ही दृश्य के विभिन्न पक्षों के रूप में प्रकट होते हैं, तब तो उनका पार्थक्य पूर्णरूपेण समाप्त ही हो जाता है।

देवताओं का पुरुष-विध रूप मुख्य रूप से प्राकृतिक दृश्यों की पुरुषविध कल्पनायें प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि विविध देवता प्राकृतिक दृश्यों के रूपकात्मक वर्णन हैं। देवताओं के कार्य-विशेष को ध्यान में रखकर ही उनको मानव-रूप दिया गया प्रतीत होता है। असुरों से युद्ध करते हुये हम उन्हें योधा के रूप में देख सकते हैं। पौरोहित्य कर्म का सम्पादन करते हुये उन्हें पुरोहित, होता आदि के रूप में देखा जा सकता है। यज्ञ उनका रथ है। सोम उनका पेय है। पुरोडाश, घृत आदि पदार्थों को वे ग्रहण करते हैं।

देवताओं में प्रकाश, शक्ति, प्रज्ञा और वदान्यता आदि गुण विद्यमान हैं। इनको अग्नि का शरीर कहा गया है-'अग्नेर्वा एताः सर्वास्तन्वो यदेता देवताः'।[1]

वे अन्धकार का निरसन करने वाले हैं।[2] उनका चरित्र नैतिक है। वे सत्य-संहिता वाले हैं। किसी को धोखा नहीं देते हैं। वे महान् और परम् शक्तिशाली हैं। यज्ञ करने वाले को श्री, यश, पशु और समृद्धि प्रदान करने वाले हैं। यजमान किसी भी प्रकार की कामना करे, देव-कृपा से वह पूर्ण हो जाती है। मनुष्य द्वारा छल-प्रपंच उन्हें प्रिय नहीं लगता। प्रकृत्ति के नियमों का उल्लंघन करने वालों या बुरा काम करने वालों को वे दण्ड भी देते हैं। उनका कथन न मानने वाले को वे छोड़ते नहीं। वेपरस्पर वर-प्रदान भी करते हैं। अपना कार्य सम्पन्न करने वाले को यथेष्ट वर देना उनकी विशेषता है। ऐतरेयकार ने तीन स्थलों पर उनके परस्पर वर-प्रदान का उल्लेख किया है-

---

१—ऐ०ब्रा० ३.४। २—वही १.६।

ऐ०ब्रा० १.७ में देवों ने अदिति से यज्ञ को जानने के लिये कहा। अदिति ने कहा, 'पहले मुझे यह वर दो कि यज्ञ का आरम्भ मुझ से हो और समाप्ति भी मुझ ही से हो'। देवों ने यह वरदान उसे दे दिया। इसीलिये यज्ञ के आरम्भ में अदिति का चरु होता है और समप्ति भी उसी के चरु से होती है। अदिति ने पूर्व दिशा को उसी के द्वारा जानने का भी वर मांगा और देवों ने इसे भी प्रसन्नता पूर्वक दे दिया।

ऐ०ब्रा० २.३ में कहा गया है कि अग्नि-सोम का पशु ही इन्द्र के लिये हवि है। इन्द्र ने अग्नि-सोम द्वारा ही वृत्र को मारा था। उन दोनों ने इन्द्र से कहा कि 'तुमने हमारे द्वारा ही वृत्र का वध किया है, इसलिये हम दोनों वर मांगते हैं'। वररूप में उन्होंने सोम इष्टि के पहले दिन मारे जाने वाले पशु को मांग लिया।

इसी प्रकार तीसरे स्थान[1] पर उल्लेख हुआ है कि दीर्घजिह्वी नामक आसुरी देवों के प्रातः सवन को चाट लिया करती थी। देवों ने मित्रावरुण से इसका उपचार करने के लिये कहा। उन दोनों ने पहले वर मांगा। देवों ने उनके कथनानुसार प्रातः सवन में उनको पयस्या दे दी। दोनों ने उपचार कर दिया।

देवताओं के गुणों में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि वे परोक्ष-प्रिय होते हैं-'परोक्षप्रिया इव ही देवाः'।[2] देवों के लिये इस विशेषता का उल्लेख अनेकशः हुआ है। वे ऋषियों और मनुष्यों से यज्ञ के रहस्यों को छिपा कर रखते हैं।[3]

देवताओं का जन्म

देवताओं का जन्म भी हुआ है। ऐतरेयब्राह्मण में देवों की उत्पत्ति के विषय में संकेत मिलता है- सृष्टि के मूल कारण प्रजापति द्वारा इनकी उत्पत्ति कही गई है। प्रजापति ने सन्तानोत्पत्ति की अभिलाषा से तप किया। तप के द्वारा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु लोकों को उत्पन्न किया। इन लोकों को तपाकर उनसे क्रमशः अग्नि, वायु और सूर्य की उत्पत्ति की है।[4] ब्राह्मण के दूसरे स्थल पर प्रजापति के संहृत-वीर्य की प्रथम उद्दीप्ति से आदित्य आदि की उत्पत्ति का विवरण प्रस्तुत हुआ है। इसका उल्लेख पिछले अध्याय ६ में किया जा चुका है। कुछ देवताओं द्वारा अन्य देवों को अपनी सन्तति मानने का उल्लेख भी ऐ०ब्रा० ३.३४ में प्रस्तुत हुआ है, जहां वरुण ने भृगु को अपना पुत्र माना है।

देवताओं का पूर्वरूप : मरणधर्मा

देवताओं की उत्पत्ति के साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि पहले देवत मर्त्या थे। इसकी पुष्टि के लिये ऋभुओं का प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है। कहा गया

१—ऐ०ब्रा२.२२। २—वही ३.३३। ३—वही २.१। ४-वही ५.३२।

है कि प्रजापति ने मर्त्य ऋभुओं को अमर्त्य बनाकर तीसरे सवन में भाग दिया।[1] ब्राह्मण के एक अन्य स्थल पर तप के द्वारा ऋभुओं के सोमपान के अधिकार की चर्चा की गई है।[2] ऋग्वेद में[3] भी देवों के मरणधर्मा होने का संकेत मिलता है। तप से उन्हें अमरत्व मिलता है। यह भी कहा गया है कि सविता या अग्नि से उन्हें अमरत्व का वरदान मिला है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इस प्रकार का उल्लेख हुआ है।[4] अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है।[5] तैत्तिरीय-संहिता में तो यहाँ तक कहा गया है कि देवों ने किसी याग-विशेष द्वारा मृत्यु को पराभूत किया था।[6]

देवों द्वारा उच्च पद प्राप्ति : कर्म का प्राधान्य

देवताओं में भी कर्म की महत्ता का विशेष स्थान है। देवों ने यज्ञ, श्रम, तप और आहुतियों द्वारा स्वर्ग लोक को जीता।[7] देव कर्म के द्वारा उच्चपद की प्राप्ति करते हैं। कहा गया है कि इन्द्र वृत्र को मारकर विश्वकर्मा बन गया।[8] कर्मों में भी विशेष रूप से यज्ञ का देवों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। देव यज्ञ को फैलाते हैं।[9] यज्ञ द्वारा ही देव ऊंचे स्वर्ग-लोक को प्राप्त करते हैं।[10] यज्ञ से ही वे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बन सकते हैं। ब्राह्मण के एक स्थल पर कहा गया है कि 'देवों ने इन्द्र को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ नहीं माना। उसने बृहस्पति से कहा, मुझे द्वादशाह यज्ञ करा दो। बृहस्पति ने यज्ञ करा दिया, तब से देवों ने उसको ज्येष्ठ और श्रेष्ठ मान लिया'।[11] सम्पूर्ण ब्राह्मण में देवों द्वारा यज्ञ कराने का प्रसंग कई बार आया है। अध्याय ५ में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

ऐतरेय ब्राह्मण में तैंतीस देवों की कल्पना

ब्राह्मणकार ने पांच स्थलों[12] पर देवताओं की संख्या तैंतीस बतलाई है। ऋग्वेद[13] और अथर्ववेद[14] में भी देवताओं की इसी संख्या का उल्लेख हुआ है। ब्राह्मण में आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह-आदित्य, प्रजापति और वषट्कार मिलाकर तैंतीस देवता माने गये हैं—

"त्रयस्त्रिंशद्व देवा अष्टौ वसव एकादशरुद्रा द्वादशाऽऽदित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च"।

१—ऐ०ब्रा० ६.१२। २—वही ३.३०। ३—ऋ० ४-५४.२।
४—तै०ब्रा० ३.१२.३.१। ५—अ०वे० ११.५.१९। ६—तै०सं०७.४.२.१।
७—ऐ०ब्रा०२.१३। ८—वही ४.२२। ९—वही २.११। १०-वही २.१३।
११—वही ४.२५। १२—वही १.१०,२.१८,२.३७-३.२२ तथा ६.२।
१३—ऋ०३-६.९। १४-अ०वे०१०,७.१३।

इसी प्रकार की गणना का क्रम शतपथकार द्वारा भी प्रदर्शित किया गया है, किन्तु वहां वषट्कार के स्थान पर इन्द्र का उल्लेख पाया जाता है-

"अष्टौ वसव एकादशरुद्रा द्वादशादित्यास्त-
एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ।"

ब्राह्मणकार वसु, रुद्र और आदित्यों के नामकरण के विषय में मौन हैं। सम्भवतः उन्हें उसकाल में प्रचलित नाम ही अभीष्ट रहे हों। शब्द-कल्पद्रुम के अनुसार इनके नाम निम्न प्रकार हैं-

धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष, और प्रभास-ये आठ वसुओं के नाम हैं। अज, एकपात्, अहिर्बुध्न, पिनाकी, अपराजित, त्र्यम्बक, महेश्वर, वृषाकपि, शंभु, हरण और ईश्वर-एकादश रुद्र कहे जाते हैं तथा विवस्वान्, अर्य्यमा, पूषा त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र और उरुक्रम-बारह आदित्य हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि इन तैंतीस संख्यक नामों के भीतर ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित सभी देवताओं के नाम नहीं आते,क्योंकि इनके अतिरिक्त अन्य देवों काभी उल्लेख मिलता है । ऐतरेय ब्राह्मण में जिन देवनामों का कथन हुआ है, वे निम्न प्रकार हैं-

अग्नि, अश्विन, आदित्य, आप, इन्द्र, इन्द्र-बृहस्पति, ऋभु, तार्क्ष्य, त्वष्टा, दधिक्रावन, पूषा,प्रजापति, बृहस्पति,ब्रह्म, मरुत्, मातरिश्वा, मैत्रावरुण,रुद्र, वाक्, वायु, विश्वेदेव, विष्णु, वृषाकपि, सविता, सूर्य और सोम। इनके अतिरिक्त अदिति, पृथिवी, द्यौ, उषा, सूर्या,-सूर्या-सावित्री,गौ, सरस्वती, और रेवती नाम देवियों के लिये आये हैं।

सोमपा और असोमपा देवता

ब्राह्मणकार ने उक्त वसु, रुद्रादि तैंतीस देवताओं को सोमपान करने वाले कहा है। इनके साथ ही उन्होंने तैंतीस असोमपा देवताओं की ओर भी निर्देश किया है। एकादश प्रयाज, एकदश अनुयाज और एकादश उपयाजों को उन्होंने असोमपा देवता कहा है-'त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः सोमपास्त्रयस्त्रिंशदसोमपा। अष्टौवसव एकादशरुद्रा द्वादशाऽऽदित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्चैते देवाः सोमपा, एकादश प्रयाजा, एकादशा-नुयाजा एकादशोपयाजा एतेऽसोमपाः पशुभाजनाः, सोमेन सोमपान्प्रीणाति पशुनाऽ-सोमपान्' ।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि इन देवताओं का निर्देश यागों की दृष्टि से किया गया

१—श०ब्रा० ११.६.३.५। २—ऐ०ब्रा० २.१८।

है। तीन श्रोत-याग होते हैं-इष्टि, पशुबंध और सोमयाग। दर्शपौर्णमास इष्टि में पुरोडाश, पशुबन्ध में पशु और सोमयाग में सोम की आहुति दी जाती है। इष्टि और सोमयाग तो सोमपा देवताओं से सम्बन्धित है तथा पशुबन्ध असोमपा देवताओं से सम्बन्धित बताया गया है। ऊपर कहा जा चुका है कि असोमपा देवताओं की सन्तुष्टि पशु से होती है। पशुयाग में 'समिधो यजति' आदि प्रयाजों और 'बर्हिर्यजति' आदि अनुयाजों में से प्रत्येक की संख्या ग्यारह हो जाती है। साधारणतया प्रयाजों और अनुयाजों की संख्या पांच होती है। 'समुद्रं गच्छ' 'स्वाहा' इत्यादि ग्यारह छोटे मंत्र भाग हैं, इन्हें उपयाज कहते हैं।[1] ऐ०ब्रा० १.११ में प्रयाजों को प्राण कहा गया है। इसी प्रबन्ध के पृष्ठ १०१-१११ पर दिये गये 'पशु' शब्द के अर्थ को लेकर प्राण आदि के साथ असोमपा देवताओं की संगति बैठाई जा सकती है।

सोमपा देवताओं के साथ ब्राह्मण में एक विशेष बात यह बतलाई है कि विराट् छंद के तैंतीस अक्षर तैंतीस देवों के लिये पानपात्र हैं, जिससे वे प्रसन्न और तृप्त हो जाते हैं। विराट् को ब्रह्माण्ड या पिण्डाण्ड मानकर चलने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह ब्रह्माण्ड अथवा शरीर तैंतीस खण्डों में बंटा हुआ हैं, जिनमें तैंतीस भिन्न-भिन्न ज्योतितत्त्व, रश्मि या प्राण संचरण करते हैं।

सोमपान में प्राथमिकता प्राप्त करने के लिये देवों की धावन-प्रतियोगिता का उल्लेख ऐतरेयब्राह्मण में विशेष रूप से किया गया है। उषा, आश्विन, अग्नि आदि प्राकृतिक दृश्यों का यह विवरण ऐ० ब्रा० १.३३-३४ में दिया गया है।

देवतत्त्व का विश्लेषण

देव-सामान्य की ब्राह्मण-कल्पना के विषय में यह तो निश्चित है कि देवता मनुष्याकार धारी प्राणी नहीं हैं। वे मूल में एक ही तत्त्व के रूप में हैं, जो तैंतीस अथवा अनेक देवों के रूप में प्रकट हुआ है। अतएव यह कहा जा सकता है कि ऐतरेयब्राह्मण में सोमपा तथा असोमपा देवों में एक ऐसा ज्योतितत्त्व है, जिसकी ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्र, वायु, विष्णु, अग्नि आदि रूपों में तथा पिण्डाण्ड में प्राण आदि रूपों में अभिव्यक्ति हो रही है। देवतावाची शब्दों को यज्ञवाची शब्दों के साथ मिलाने से सभी देवताओं का यज्ञ में अन्तर्भाव हो जाता है।

डा० सुधीर कुमार गुप्त ने लिखा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के प्राण, अध्वर, नमः, भगः, बृहन्, विपश्चित्, अर्यमा, सुम्न, श्रेष्ठतम कर्म, विट् ब्रह्म, त्रयीविद्या,

---

१—पाणिनिकालीन भारतवर्ष—वासुदेव शरण अग्रवाल २०१२ वि०—द्रष्टव्य पृ० ३७१ व ३७३।

प्रजापति, विष्णु. अन्न, अग्नि, वाक्, वायु, संवत्सर आदि अर्थ किये गये हैं ।[1] ऐतरेयब्राह्मण में भी विष्णु, प्रजापति, वायु, ब्रह्म, वाक् आदि देवतावाची पद यज्ञ के पर्यायों में गिनाये गये हैं । इस दृष्टि से कर्ता और कार्य का अद्वैत भाव होजाता है ।

परन्तु इस विषय में अन्तिम निर्णय तक पहुँचने के लिये उन देवों पर, जो ऐतरेयब्राह्मण में वर्णित हुये हैं, पृथक् पृथक् विचार करना उचित जान पड़ता है ।

देवताओं का वर्गीकरण

यास्क आदि[2] ने प्राकृतिक आधार पर देवताओं का त्रिवर्गीय विभाजन किया है । द्युस्थानोय देवों में उन्होंने द्यौ, वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषा, अश्विन् उषा और रात्रि; अन्तरिक्ष-स्थानीयों में इन्द्र, अपानपात्, रुद्र, मरुत्, वायु, पर्जन्य तथा आपः; और पृथिवी स्थानीयों में पृथिवी, अग्नि और सोम माने हैं ।

प्रस्तुत ब्राह्मण में कहीं-कहीं कुछ देवों के निवास-स्थान का संकेत अवश्य मिलता है । जैसे मैत्रावरुण[3] तथा मरुत्[4] का अन्तरिक्ष में निवास बताया गया है। उक्त विभाजन में मित्र और वरुण द्युस्थानीय हैं । ब्राह्मणकार का संकेत अपूर्ण होने से इनके प्राकृतिक आधार वाले वर्गीकरण में शंका बनी रहती है ।

ऐतरेयब्राह्मण में देवताओं का उल्लेख यज्ञ के प्रसंग में ही हुआ है। यज्ञ में उनकी आपेक्षिक महत्ता को लेकर बहुस्तुत, अल्पस्तुत तथा अत्यल्पस्तुत, तीन शीर्षकों में उनका वर्गीकरण किया जा सकता है ।

अग्नि, सोम, इन्द्र और प्रजापति प्रथम वर्ग में, आदित्य, आश्विन, मैत्रावरुण, मरुत्, वरुण, सविता, बृहस्पति, वायु, रुद्र, विष्णु और विश्वेदेव अल्पस्तुत द्वितीय वर्ग में तथा शेष देवता व देवियां अत्यल्पस्तुत हैं जो तृतीयवर्ग में आ सकते हैं। इनका विस्तृत अध्ययन निम्न प्रकार है।

अग्नि

यज्ञ के विभिन्न देवताओं में अग्नि का प्रमुख स्थान माना गया है। यज्ञ के दृष्टिकोण से अग्नि ही यज्ञ का मूल है । अग्नि के दो रूप दिखाई देते हैं-एक दृष्टि से वह देवता है तो दूसरी दृष्टि से वह यज्ञ का साधन है । ऐतरेयकार ने अग्नि के स्वर्गीय और पार्थिव रूपों का उल्लेख किया है। "अग्निर्देवेद्ध"-निविद के इस पद का व्याख्यान करते हुये ब्राह्मणकार ने कहा है कि देवों द्वारा प्रज्वलित की हुई वह अग्नि

१—वे० ला०—द्रष्टव्य पृ० १७ अ तथा १८ अ । २—द्रष्टव्य वै० दे० शा०—डा० सूर्यकान्त पृ० ३७—४० तथा वे०ला०-डा० सुधीरकुमार गुप्त पृ० ३७ । ३—ऐ० ब्रा० ६.६ । ४—वही १.१० ।

स्वर्गीय है। इसी प्रकार "अग्निर्मन्विद्ध" की व्याख्या में कहा गया है कि मनुष्यों से प्रज्वलित की हुई यह अग्नि पार्थिव है।[1]

देवता रूप में जिस अग्नि की स्तुति की गई है, वह तो विश्व के समस्त ज्ञान कर्म की यावत् शक्ति का प्रतीक ज्ञात होती है। क्योंकि जितने देवता हैं वे सब अग्नि के रूप कहे गये हैं–"अग्निर्वै सर्वा देवताः"।[2] ब्राह्मणकार ने अग्नि के प्रज्वलन की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न देवताओं का अन्तर्भाव मानते हुये कहा है कि यह जो देवता है, वे अग्नि के शरीर हैं।

"अग्नेर्वा एताः सर्वास्तन्वो यदेता देवताः"[3]

अग्नि का प्रज्वलन उसका वायु रूप है। द्विधा विभक्त होकर उसका जलना इन्द्रवायु रूप–जलते समय उद्धर्ष एवं निहर्ष (नीचे ऊपर होना) उसका मैत्रावरुण रूप–उसका घोर संस्पर्श वरुण रूप–भयंकर स्पर्श होते हुये भी समीप बैठ जाने देना, उसका मित्र रूप, दो भुजाओं और दो अरणियों से मथन उसका अश्विन् रूप, बब-बब करते हुये उच्च घोष से ज्वलन उसका इन्द्र रूप, एक होते हुये भी अनेकधा विभक्ति उसका विश्वेदेव रूप, स्फूर्त होकर ज्वलन उसका सारस्वत रूप है। इस प्रकार इन सब देवों की स्तुति प्रकारांतर से अग्नि की ही स्तुति हो जाती है।[4]

ऐ० ब्रा० २.३४ में वर्णित निविद पदों में (अग्नि को) सुषमित्, प्रणीयज्ञानाम्, तूर्णिहव्यवाट् और जातवेद कहकर अग्नि और वायु में अभेद दिखलाया गया है। ब्राह्मण के एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि अग्नि वरुण तो एक ही हैं।[5]

अग्निष्टोम के प्रसंग में उसे अग्नि कहकर पुकारा गया है।[6] अग्निष्टोम को ब्राह्मणकार ने सूर्य, आदित्य, प्रजापति, संवत्सर आदि का समानार्थी बतलाया है। इस समीकरण और एकीकरण द्वारा अग्नि उक्त सभी देवताओं का वाचक बन जाता है। दादशाह के प्रथम दिन देवता के रूप में भी अग्नि का स्मरण किया गया है।[7] ताण्ड्य, शतपथ, गोपथ आदि ब्राह्मणों में भी अग्नि को रुद्र,[8] वरुण,[9] प्रजापति[10] संवत्सर,[11] सविता,[12] ब्रह्म,[13] वाक्,[14] प्राण,[15] आत्मा[16] और यज्ञ[17] का वाचक कहा गया है।

१—ऐ० ब्रा० २.३४। २—वही १.१। ३—वही ३.४।
४—ऐ० ब्रा० ३.४। ५—वही ६.२६। ६—वही। ७—वही ४.२९।
८— ता० ब्रा० १२.४.२४, श० ब्रा० ५.३.१.१०। ९—श० ब्रा०—५.२.४.१३। १०—श० ब्रा० ६.२.१.२३। ११—श० ब्रा० ६.३.१.२५।
१२—गो० ब्रा० १.३३। १३—श० ब्रा० ८.५ १.१२। १४—गो० ब्रा० ४.११
१५—श० ब्रा० ६.३.१.२१। १६—श० ब्रा० ७.३.१.२। १७—वही—३.४.३.१९।

ब्राह्मण के दो स्थलों पर अग्नि का चित्रण अश्व रूप में किया गया है। अग्नि उक्थों में छिपे हुये असुरों के पीछे अश्व बनकर दौड़ते हैं तथा उनको पकड़ लेते हैं।[1] दूसरे स्थल पर कहा गया है कि यज्ञ में अग्नि अश्व के समान बन जाता है।[2] इस स्थल पर ऋग्वेद का ४-१५.१ मंत्र ब्राह्मणकार द्वारा प्रस्तुत हुआ है। ऋग्वेद के कई स्थलों पर अग्नि की अश्व के साथ तुलना की गई है और स्पष्ट शब्दों में उसे अश्व कहकर पुकारा गया है। एक स्थल पर तो यहां तक कहा गया है कि याज्ञिक अग्नि को अश्व की भांति फेरते, मलते और गतिमान बनाते हैं।[3]

अग्नि का देवों के सहायक व नियंत्रक रूप में वर्णन हुआ है। देवासुर युद्ध में वे देवों का साथ देते हैं। उनके द्वारा ही प्रायः देवता असुरों पर विजय प्राप्त करते हैं। उनकी एक विशेषता यह भी है कि बिना अपनी स्तुति कराये वे देवों के साथ जाने को उद्यत नहीं होते।[4] हारे हुये देवों से वे अप्रसन्न हो जाते हैं। पृथिवी के नीचे भूमि से स्वर्ग के ऊपरी भाग तक व्याप्त होकर वे पराजित देवों के लिये स्वर्ग का द्वार बन्द कर देते हैं।[5] वे स्वर्ग के अधिपति माने गये हैं।[6]

अग्नि के रथ में खच्चर (अश्वतरी) जोते जाने का उल्लेख हुआ है। हजार मंत्रों के शस्त्र में प्राथमिकता प्राप्त करने के प्रसंग में वे ऐसे रथ में बैठकर धावन-प्रतियोगिता में भाग लेते हैं।[7] ऋग्वेद में उनके रथ को घोड़ों द्वारा खींचे जाने का उल्लेख आया है।[8]

अग्नि के जन्म व निवास का उल्लेख भी ब्राह्मणकार द्वारा किया गया है। अग्नि की उत्पत्ति आदित्य से कही गई है।[9] इसके साथ एकाधिक स्थलों पर सविता की प्रेरणा से ही अग्नि के मन्थन का वर्णन किया गया है।[10] वाक् को अग्नि का प्रियधाम कहा गया है।[11]

अग्नि के कारण ही सृष्टि की समस्त प्रजनन-क्रिया सम्पन्न होती है। बीज के केन्द्र में जो अग्नि विद्यमान है, उसी के द्वारा अंकुर पैदा होकर बढ़ता है। इसीलिये अग्नि को अन्नाद और अन्नपति कहा गया है।[12] सब औषधियां अग्नि से ही सम्बन्धित बतलाई गई हैं।[13] अग्नि अपनी केन्द्र शक्ति के चारों ओर व्याप्त होने के कारण देवताओं का रक्षक कहा गया है-"अग्निर्वै देवानां गोपा,'[14] शक्ति केन्द्र में निरन्तर हवन

१—ऐ० ब्रा० ३.४६। २—वही २.५। ३—देखिए वै० दे० शा० पृष्ठ २२६। ४—ऐ० ब्रा० ३.३६। ५—वही ३.४२। ६—वही ३.४२। ७—वही ४.६। ८—ऋ० १.१४.६। ९— वही८.२८। १०— वही १.१६, १.३० आदि। ११—वही ६.७। १२—वही १.८। १३—वही १.७। १४—वही १.२८।

होता रहता है। इसीलिये अग्नि को देवों का पशु माना गया प्रतीत होता है।[1] सारे विश्व में व्याप्त होकर बैठने के कारण अग्नि को इस लोक का गृहपति कहा गया है।[2]

अग्नि को आदित्य और अंगिरसों में माना गया है। इस प्रकार वे ऋषि रूप में भी सामने आते हैं।[3] वे देव होता[4] और पुरोहित के रूप में भी अनेकशः स्मरण किये गये हैं। ऋग्वेद में भी उन्हें ऋषि और पुरोहित कहा गया है। वहां वे प्रथम अंगिरा ऋषि कहे गये हैं।[5] ब्राह्मण के एक स्थल पर अग्नि को प्राण कहा गया है।[6]

सोम

सोमयाग वैदिक कर्मकाण्ड का प्रमुख अंग है। ऐतरेयब्राह्मण में मुख्य रूप से सोम यज्ञ का ही वर्णन हुआ है। ऋग्वेद के महान् देवों में सोम की गणना हुई है। ब्राह्मणकार ने यज्ञ के दो प्रधान तत्त्व माने हैं–पहला अग्नि और दूसरा सोम। इनके महत्त्व-प्रदर्शन के लिये इन्हें यज्ञ की दो आंखें बतलाया गया है। देवता इन्हीं के द्वारा यज्ञ को देखते हैं–"चक्षुषी एवाग्नीषोमौ"। ऐ० ब्रा० २.९ में ऋग्वेद का एक मंत्र[7] प्रस्तुत किया गया है, जिसका अर्थ इस प्रकार है–

"हे अग्नि सोम! तुम दोनों ने संयुक्त परिश्रम से आकाश में प्रकाशयुक्त पदार्थों को रखा है।"

ऐतरेयब्राह्मण में सोम को देवता तथा पेय पदार्थ (लता-रस) दोनों रूपों में देखा गया है। उसके यज्ञ-हवि और यज्ञ-देव दोनों रूप मिले जुले हैं। फिर भी उसका पार्थिव रूप ही अधिक उभरा है। इसका कारण यह दिखाई देता है कि यह यज्ञ का विशेष उपकरण रहा है।

सोम के दिव्य रूप के विषय में कहा जा सकता है कि यह स्वर्ग से आया है। गन्धर्वों के पास यह रहता है।[8] इसका वर्णन अग्नि और विष्णु के साथ हुआ है। ये तीनों मिलकर उपसद् रूप कहे गये हैं।[9] सोमपात्रों को प्राण कहा गया है।[10]

सोम राजा को द्यौ और पृथिवी का गर्भ माना गया है।[11] प्रजापति ने अपनी दुहिता सूर्या सावित्री का विवाह सोम राजा से किया।[12] सोम का सम्बन्ध अनुष्टुभ्

१-ऐ०ब्रा०१.१५। २—वही ५.२५। ३—वही ३.३४। ४—वही १.२८, २.१२, ३.१४ आदि। ५- द्रष्टव्य वै० दे० शा० पृ० २५१।
६—ऐ० ब्रा० १.८। ७-ऋ० १.९३.५। ८—ऐ० ब्रा० १.२७।
९-वही ३.३२। १०-वही २.२८। ११-वही १.२६। १२—वही ४.७।

छंद से बतलाया है।[1] शीत-रश्मि होने के कारण सोम को इन्दु कहकर पुकारा गया है।[2]

अग्नि के समान सोम भी सविता द्वारा उत्पन्न होता है[3]। इसका अपत्य-सम्बन्ध बतलाते हुये ब्राह्मणकार ने कहा है कि वाक् सुब्रह्मण्या है, सोम उसका पुत्र है। [4]सोम राजा को अत्यन्त पवित्र मानकर ही इसे पापों को दूर करने वाला कहा गया है।[5] शतपथ, कौषीतकि आदि ब्राह्मणों में भी सोम को चन्द्रमा,[6] प्रजापति, [7] पवमान,[8] विष्णु,[9] पशु,[10] यश, [11]अन्न,[12] प्राण,[13] रस[14] आदि का समानार्थी कहा गया है।

सोम के उपर्युक्त वर्णन से यह तो निश्चित है कि सोम तत्त्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त एक तत्त्व है, जिसमें अमरत्व और प्रकाशत्व-दो दिव्य गुण विद्यमान हैं। इसे भी अग्नि के समान "सर्वा देवताः[15] कहा गया है। सोम अमर भी है और स्वयं प्रकाश (अग्नि) रूप भी है। अमृत कहने का तात्पर्य यह है कि वह कभी नष्ट नहीं होता। सभी पदार्थों में यह रस रूप से विद्यमान है। यह ज्वलनशील है, अतः अग्नि स्वरूप है। सोम की अग्नि में आहुति पड़ने के पश्चात् वह नष्ट नहीं हो जाता। वह अपने रूप को यथावत् ग्रहण कर लेता है। यही इसकी अमरता का भाव है।

प्रजनन-क्रिया भी यज्ञ का ही रूप है। स्त्री की गर्भाशय स्थित अग्नि पर शुक्र रूप सोम की आहुति द्वारा नवीन प्राणि-शरीर की उत्पत्ति का आरम्भ हो जाता है। जठराग्नि पर भोजन रूप सोम की आहुति देने से शरीर की स्थिति बनी रह सकती है। इस प्रकार समस्त सृष्टि में अग्नि-सोमीय-यज्ञ-क्रिया निरन्तर चलती रहती है।

सोम का वनस्पति रूप ब्राह्मण में सर्वत्र मिलता है। यज्ञ के लिये सोम खरीदा जाता है।[16] सोम को उत्तरा कहकर उत्तर की पर्वत-श्रेणियों में इसके उत्पत्ति-स्थान की ओर संकेत किया गया है।[17] वह औषध है। सोम को पत्थर पर निचोड़ते हैं।[18] सोम द्वारा मादन होता है।[19] सुरा में सोम का असर है।[20] सोमपान का महत्त्व अनेकशः वर्णितहुआ है।[21] ऐ०ब्रा० १.३० में बंधे हुये सोम का उल्लेख हुआ है।

१-ऐ०ब्रा०८.५। २--वही १.२६। ३--वही १.३०। ४--वही ६.३।
५--वही १.१३। ६--कौ० ब्रा० १६.५, श० ब्रा० ६.५.१.१।
७-श० ब्रा० ५.१.५.२६। ८-वही २.२.३.२२। ९-वही ३.३.४.२१।
१०-वही५.१.३.७। ११--वही ४.२.४.६। १२--कौ० ब्रा० ९.६
१३--ता० ब्रा० ६.६.१,५। १४--श० ब्रा० ७.३.१.३। १५-ऐ० ब्रा०२.३।
१६--वही १.१२। १७--वही १.८। १८--वही ३.४०। १९--वही ६.२।
२०--वही ८.२०। २१--वही ७.३४।

यज्ञ में सोमरस के कम हो जाने पर उस पर जल का छिड़काव किया जाता है। कहा गया है कि सोम के पास बैठकर घृत को नहीं छूना चाहिये, कम हुये सोम को पानी से पूरा कर लेना चाहिये।[1] पेय सोम का विस्तृत अध्ययन डा० फतहसिंह के वैदिक दर्शन में प्रस्तुत किया है।[2]

इन्द्र

इन्द्र बहुस्तुत देवता हैं। ब्राह्मणकार ने इन्हें यज्ञ का देवता कहकर पुकारा है।[3] मध्यसवन इन्हीं का होता है।[4] इनको हम विशेष रूप से युद्ध के देवता के रूप में देखते हैं। देवासुर सम्बन्धी आख्यानों में इन्द्र के असुरवध आदि कार्यों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ऋग्वेद में इनके साहसिक कार्यों की कथायें पर्याप्त रूप से मिलती हैं।[5]

इन्द्र शक्ति के देवता हैं।[6] वे घृत के वज्र से वृत्र को मारते हैं।[7] देवता प्रथम दिन की सोम इष्टि द्वारा उनके लिए वज्र का निर्माण करते हैं।[8] इन्द्र के रथ में घोड़े जोते जाते हैं।[9] युद्ध में मरुत् और वरुण इनका साथ देते हैं।[10] कभी-कभी विष्णु भी उनके साथ असुरों से युद्ध करते बताये गये हैं।[11]

इन्द्र देवों में सबसे अधिक ओज वाले, साहसी, सत्तम और कार्यों को भली-भांति पूर्ण करने वाले हैं।[12] उन्होंने अपने महाभिषेक से सबको जीत लिया और सब लोकों पर स्वत्व प्राप्त करके सब देवों में श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित हो गए।[13] वे क्षत्र के देवता हैं।[14]

ब्राह्मणकार ने इन्द्र को मधुमान्, वृष्टिवनि, तीव्रान्त, वसुमान्, रूद्रवान्, आदित्यवान्, ऋभुवान्, विभुवान्, वाजवान्, बृहस्पतिवान् और विश्वेदेववान् कहा है।[15] इन विशेषणों से ज्ञात होता है कि इन्द्र का सम्बन्ध मधु या सोम से, वृष्टि से, अवश्यंभावि फल से, वसुओं, रुद्रों, आदित्यों आदि से है।

वैसे तो ब्राह्मणकार द्वारा वर्णित सभी देवता सोमपान के अभिलाषी हैं। पर इन्द्र की सोम-लिप्सा इतनी तीव्र दिखाई देती है कि सोम पीने के लिए उन्होंने इसकी चोरी तक कर डाली थी।[16] इसी प्रकार सोमपान के लिए चोरी का वर्णन ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है।[17] सोमपान में प्राथमिकता प्राप्त करने के लिए वे देवताओं की धावन-प्रतियोगिता में भाग लेते हैं।[18]

१--ऐ० ब्रा० १.२६। २--वै०द०पृ०११८ से १४१। ३-ऐ० ब्रा० ५.३४।
४-वही ६.२९। ५—वे०दे०शा०पृ०१२६ से १३१ ६—ऐ०ब्रा० १.१७।
७--वही १.२६। ८--वही ४.१। ९--वही ४.९।
१०--वही ३.५०। ११--वही६.१५। १२--वही ८.१२। १३—८.२४।
१४--वही ७.२३। १५--वही २.२०। १६—वही ७.२८।
१७—ऋ० ३.४८.४ तथा ८.४.४.। १८—ऐ० ब्रा० २.२५।

इन्द्र की पत्नी और पिता के विषय में भी संकेत प्राप्त होते हैं। इन्द्र-पत्नी का नाम प्रासहा है। वह वावाता है और उन्हें बहुत प्यारी है। ब्राह्मणकार ने प्रासहा को सेना का वाचक भी कहा है।[1] उनकी स्त्री के ससुर अर्थात् उनके पिता 'क' नामक प्रजापति हैं।[2]

इन्द्र आवश्यकता होने पर पुरुष रूप भी धारण कर लेते हैं।[3] वे बड़े उदार-चित्त वाले हैं। वे प्रसन्न होकर भक्तों को स्वर्ण-रथ का दान कर देते हैं।[4] वे घर के व्यापी से हैं[5]। यजमान के घर में तो वे सर्वत्र व्यापक रहते हैं।[6]

इन्द्र का वाणी,[7] वीर्य[8] और पशु[9] से सम्बन्ध बतलाया गया है। वाक् इन्द्र का प्रिय धाम है।[10] एक स्थल पर उनको त्वष्टा कहा गया है।[11] ओज को उनका बल माना गया है।[12]

इन्द्र का प्राकृतिक दृश्यों या शारीरिक शक्तियों के रूप में स्पष्ट चित्रण ब्राह्मणकार द्वारा कहीं प्रस्तुत नहीं हुआ। एक प्रकार से वे अग्नि के ही रूप हैं। वृष्टि से सम्बन्ध होने के कारण उन्हें विद्युत का देवता, सोम या सूर्य कह सकते हैं। वाणी और ओज के साथ उल्लेख होने से उन्हें मन या आत्मा कहा जा सकता है। शतपथ, जैमिनीय-उपनिषद्, ताण्ड्य, आदि ब्राह्मणों में इन्द्र को सूर्य,[13] वाक्,[14] वायु,[15] प्राण,[16] मन,[17] रेतस्[18] आदि कहा गया है।

प्रजापति

ऐतरेयब्राह्मण में प्रजापति सर्वोच्च देवता के रूप में वर्णित हुए हैं। ये सबसे पहले उत्पन्न होते हैं तथा सम्पूर्ण प्रजा इनके पश्चात् उत्पन्न होती है।[19] प्रजापति प्रजाओं को रचकर विश्वकर्मा बन जाते हैं।[20] वाजसनेयिसंहिता में भी प्रजापति को विश्वकर्मा कहा गया है।[21]

ऐतरेयब्राह्मण में प्रजापति की गणना तैंतीस देवों में की गई है। निर्माण का यावत् सम्बन्ध है, वह सब प्रजापति द्वारा सम्पन्न होता है। देव सम्बन्धी आख्यानों में

१—ऐ०ब्रा०३.२२। २—वही ३.२२। ३—वही ७.१५। ४—वही ७.१६। ५—वही ६.१७। ६—वही ६.२२। ७—वही २.२६। ८—वही ३.३। ९—वही ६.२६। १०—वही ६.७। ११—वही ६.१०। १२—वही ८.२। १३—श० ब्रा० ४.६.७.११, जै० उ० १.२८.२। १४—कौ० ब्रा०२.७, १३.५। १५-श० ब्रा० ४.१.३.१९। १६-श० ब्रा० ६.१.२.२८। १७-गो० ब्रा० ४.११। १८—श० ब्रा० १२.९.१.१७। १९—ऐ० ब्रा० ५.२४। २०—ऐ०ब्रा०४.२२। २१—वै० दे० शा० पृ० ३०८।

इसकी चर्चा अध्याय ५ में की जा चुकी है। प्रजापति यज्ञ को उत्पन्न करते हैं ।[1] वे सम्पूर्ण लोकों का निर्माण करते हैं।[2] ऐतरेय ब्राह्मण २. १७ व ६, १९ में प्रजापति को यज्ञ कहा गया है। यज्ञ का होता स्वयं प्रजापति माना गया है।[3] प्रजापति द्वारा ही देवों को यज्ञ दिया जाता है।[4]

एक स्थल पर प्रजापति को वायु कहा गया है।[5] सृष्टिसर्जन के पश्चात् अग्नि द्वारा घिरे हुए प्राणी चल न सकते थे,तब प्रजापति ने उन पर जल छिड़ककर उनमें गति का आधान किया।[6] इस उल्लेख से प्रजापति का सोम रूप प्रकट होता है। शतपथ, कौषीतकि आदि ब्राह्मणों में प्रजापति को प्राण,[7] सविता,[8] वायु,[9] सोम,[10] आत्मा,[11] पुरुष,[12] द्यावापृथिवी[13] आदि का वाचक माना गया है।

प्रजापति को 'क' कहा है।[14] ऋग्वेद[15] और तैत्तिरीय संहिता[16] में भी 'क' का ताद्रूप्य प्रजापति से बतलाया गया है। 'क' में एक सम्प्रश्न छिपा हुआ है। इसका भाव यह प्रतीत होता है कि प्रजापति आदि से अन्त तक एक पहेली है। उसका स्वरूप शब्दों में नहीं समा सकता, क्योंकि यह अपरिमित[17] कहा गया है। विश्व की दृष्टि से विचार करने पर उसकी मूल शक्ति प्रजापति कही जा सकती है, जो समस्त पदार्थों के भीतर गतिमान है। शुक्ल यजुर्वेद संहिता में[18] अजायमान और विश्वातीत स्वरूप वाले प्रजापति का वर्णन भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है।

जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में मूलभूत अग्नितत्त्व एक है, किन्तु शक्ति के नाना रूपों में वही बहुधा विकसित होता है, इसी प्रकार अनेक ब्रह्माण्डों का रचयिता प्रजापति एक है। परावाक् उसी का रूप है।[19]

ऐतरेयकार ने प्रजापति का व्याख्यान करते हुए ब्राह्मण के छै स्थलों[20] पर बतलाया है कि संवत्सर ही प्रजापति है। बारह मास और पांच ऋतुयें मिलाकर प्रजापति सत्रह[15] तथा बारहमास, पंचऋतु, तीन लोक और सूर्य मिलकर प्रजापति

१—ऐ० ब्रा० ७.१९। २—वही ५.७। ३—वही २.१६।४—वही ५.३२।
४—वही ४.२६। ५—वही ३.३३। ६—श० ब्रा० ६.३.१.९।
७—तां० ब्रा० १६.५.१७। ८—कौ०ब्रा० १९.२। ९—श० ब्रा० ५.१.३.७।
१०—श० ब्रा० ४.५.९.२। ११—श० ब्रा० ६.२.१.२३।
१२—श० ब्रा० ५,१.५.२६। १३—ऐ० ब्रा० २.३८। १४—ऋ० १०.१२१।
१५—तै० सं० १.७.६.६। १६—ऐ० ब्रा० २.१७। १७—शुक्ल यजुर्वेद ३१.१९।
१८—वासुदेवशरण अग्रवाल--वे० वि० भा० द० भूमिका पृ० ६।
१९-ऐ० ब्रा०-१.१,१.१३,१.२८,१.२९,२.१७,२.३९। २०-वही १.१ तथा१.१६।

इक्कीस[1] कहे गए हैं। यह भी कहा गया है कि ऋतुयें और महीने प्रजापति संवत्सर में ही प्रतिष्ठित हैं।[2] संवत्सर के लिए कहा गया है कि जो नष्ट न हो सके वह संवत्सर है[3]।

संवत्सर के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुये ब्राह्मणकार ने इसे वैश्वानराग्नि कहा है–'संवत्सरोऽग्नि वैश्वानरः'।[4] प्रजापति को संवत्सर कहकर उसकी सूर्याग्नि रूप से अभिव्यक्ति की गई प्रतीत होती है। इस प्रसंग में ऐ०ब्रा० ३.३३ में वर्णित आख्यान की ओर ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि वहां प्रजापति की पुत्री को उषा कहा गया है, अतः यहां ब्राह्मणकार उन्हें सूर्य के वाचक मानते प्रतीत होते हैं।

आदित्य

ऋषियों के प्रसंग के समय अध्याय ६ में आदित्यों के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। वे ऋषि और देवता दोनों रूपों में स्मरण किये गये हैं। ऐ०ब्रा० ३.२९ में उन्हें प्राण कहा गया है। आदित्य दिव्य क्षत्र हैं।[5] वे यजमान के यूप हैं।[6] आदित्य दिव्य अतिथि हैं, वे यज्ञ करने वाले के साथ रहते हैं।[7]

आदित्य शब्द बहुवचन और एक वचन दोनों में प्रयुक्त हुआ है। देवता रूप में आदित्य प्राण और सूर्य दोनों का वाचक माना गया है। प्राण इसके आध्यात्मिक अर्थ का द्योतक है। आधिदैवत अर्थ में यह सूर्य का वाचक है। कहा गया है कि आदित्य अस्त ओकर अग्नि में प्रवेश करता है।[8]

शतपथ, गोपथ आदि ब्राह्मणों में आदित्य को हृदय,[9] प्राण[10] ब्रह्म[11] सविता[12] आदि कहा गया है। आदित्य और सविता एक ही दृश्य के दो पक्ष दिखाई देते हैं, अतः सविता का अध्ययन भी इसी के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

सविता

ब्राह्मणकार ने सविता को सब प्राणियों का स्वामी कहा है।[13] वे सब प्रसवों के स्वामी हैं।[14] वे प्रेरक देव हैं। उनकी प्रेरणा से ही बल, श्री, यश और अन्न की प्राप्ति होती है।[15] सविता को ऋतुओं के साथ बुलाया जाता है।[16] सविता का सम्बन्ध उत्तर दिशा में बतलाया गया है।[17] सोम को ऊपर उत्तरा कहा जा चुका है। इस सम्बन्ध में सविता और सोम समानार्थी माने जा सकते हैं। ब्राह्मणों के दो स्थलों पर

१—वही १.३० । २—वही ४.२५ । ३—वही ५.२५ । ४-ऐ० ब्रा० ३.४१ ।
५—वही ७.२० । ६—वही ५.२८ । ७—वही ५.३० । ८—वही ८.२८ ।
९—श० ब्रा० ९.१.२.४० । १०—जै० उ० ४.२२.९ । ११—जै० उ० ३.४.९ ।
१२—गो० पू० १.३३ । १३—ऐ० ब्रा० ७.१६ । १४—वही १.३० ।
१५—वही ८.७ । १६—वही १.१३ । १७—वही १.७ ।

'सविता को प्राण कहा गया है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण तथा गोपथादि ब्राह्मणों में सविता को पुरुष,[2] पशु,[3] प्राण,[4] मन,[5] यज्ञ,[6] चन्द्रमा,[7] वरुण[8] आदि का वाचक माना गया है।

आदित्य और सविता के नाम-करण पर प्रकाश डालते हुए श्री भगवद्दत्त कहते हैं—

'सूर्य तमः का ग्रहण करता है........................और तेजः आदान का, आग्नेय परमाणुओं तथा दिव्य आपः........................परमाणुओं का आदान है। अतः आदित्य कहलाता है। "इनको लेकर सूर्य पुनः आपः और रश्मि तेज को अपने से बहाता है," उस समय वह सविता कहा जाता है।[9]

ऐ० ब्रा० ५.३१ में सूर्य का भी उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि उदय होने पर सूर्य सब पदार्थों को प्राण देता है, इसलिए उसको प्राण कहते हैं।

अश्विन्

ब्राह्मण में यह देव-यमल देवों के चिकित्सक और अध्वर्यु के रूप में स्मरण किया गया है।[10] प्रातःकाल आने वाले देवताओं में अग्नि और उषा के साथ अश्विनों का नाम आता है।[11] सोमपान की देव-प्रतियोगिता में ये भी भाग लेते हैं।[12] इनका रथ गधों द्वारा खींचा जाता है[13]। वैदिक देव-शास्त्र में इनके रथ में विभिन्न पशु-पक्षियों के जोते जाने का विवरण मिलता है।[14]

ब्राह्मणकार ने इनको प्राण कहा है। इसका उल्लेख ऊपर पृष्ठ ३७ पर हो चुका है। यद्यपि ये प्रकाश के देवता हैं तथापि प्रकाश के किसी निश्चित दृश्य से उनके सम्बन्ध का कोई विवरण प्राप्त न होने के कारण उनके स्वरूप का निर्धारण नहीं हो पाता। ऐतरेयकार ने उनका सम्बन्ध एक स्थल पर श्रोत्र और आत्मा से भी बतलाया है।[15] अतः इनका आध्यात्मिक अर्थ श्रोत्र-व्यापी प्राण लगाया जा सकता है।

मरुत्

मरुतों का एक देवगण है। इनका उल्लेख बहुवचन में हुआ है। वे रुद्र के पुत्र हैं।[16] प्रजापति का जो रेतस् बहता है, वह मरुत् संज्ञा प्राप्त करता है।[17] मरुत् देवों के

१—ऐ०ब्रा०१.६ व ३.२६। २—जै० उ० ४.२७.१७। ३-श० ब्रा० ३.२.३.११। ४—गो० पू० १.३३। ५—गो० पू० १:३३। ६—गो० पू० १.३३। ७--गो पू०१.३३। ८-जै० उ० ४.२७.३। ९—वे० वि० नि० पृ० २५५--२५६। १०-ऐ० ब्रा० १.१८। ११—वही २.१५। १२-वही २.२५। १३-वही ४.९। १४—डा० सूर्यकान्त--पृष्ठ ११७। १५-ऐ० ब्रा० ३.२। १६-ऐ० ब्रा०३.३४ में प्रयुक्त ऋ० २.३३.१। १७—वही ३.३५।

वैश्य हैं और अन्तरिक्ष में रहते है। जो स्वर्ग में जाता है, वह इनसे निवेदन करके जाता है। वह चाहे तो किसी को रोक या मार सकते हैं।[1] ऐ० ब्रा० १.३० में ऋग्वेद के एक मन्त्र [2] के अनुसार विष्णु मरुतों का राजा माना गया है। वे देवों की जनता हैं।[3]

इन्द्र-वृत्र युद्ध में मरुतों ने इन्द्र का साथ नहीं छोड़ा। इस प्रसंग में मरुतों को प्राण कहा गया है।[4] आधिदैवत पक्ष में ब्राह्मणकार ने मरुतों को जल माना है।[5]

ताण्ड्य आदि ब्राह्मणों में मरुत् को रश्मि,[6] अन्न,[7] प्राण,[8] आदि का वाचक कहा गया है।

वरुण

ब्राह्मण में वरुण का वर्णन अकेले तथा मित्र के साथ दोनों प्रकार से हुआ है। यज्ञ में जो भलाई है, उसकी वरुण रक्षा करते हैं।[9] वरुण वीर्य और प्रजा (सन्तति) के दाता हैं।[10] पाप कर्म या व्रतों के उल्लंघन से वरुण को क्रोध आता है और वे अन्यथा करने वालों को कठोर दण्ड देते हैं।[11] प्रजापति वरुण का राज्याभिषेक करते हैं।[12]

ब्राह्मणकार ने वरुण का अन्तर्भाव अग्नि में माना है।[13] ब्राह्मण में वरुण को स्पष्ट रूप से रात्रि कहा गया है—"रात्रिर्वरुणः।"[14] इसी प्रकार का उल्लेख ताण्ड्य ब्राह्मण[15] में हुआ है। गोपथ में वरुण को प्राण,[16] शतपथ में अग्नि,[17] जैमिनीय उपनिषद् में सविता[18] तथा शतपथ में संवत्सर[19] कहा गया है।

बृहस्पति

ब्राह्मण के चार स्थलों[20] पर बृहस्पति को ब्रह्म कहा गया है। कौषीतकि, शतपथ तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में ऐतरेयब्राह्मण के कथन की पुष्टि है।[21] बृहस्पति

१—ऐ०ब्रा०१.१०। २—ऋ० १-१५६.४। ३—ऐ० ब्रा० १.९।
४—ऐ०ब्रा०३.१६। ५—वही ६.३०। ६—तां०ब्रा० १४.१२.९।
७—तै०ब्रा०१.७.३.५। ८—श०ब्रा०९.३.१.७। ९—ऐ०ब्रा०७.५।
१०—वही १.१३ व ७.१४। ११— देखो ऊपर अग्नि का विवरण।
१२—वही ७.१६,तु०कौ०ऋ०७.८६.३ ४। १३—ऐ०ब्रा० ८.७।
१४—वही ४.१०। १५—तां०ब्रा०२५.१०.१०। १६—गो०ब्रा०४.११।
१७—श०ब्रा०५.२.४.१३। १८—जै०उ०४.२७.३। १९—श०ब्रा० ४.४.५.१८।
२०—ऐ०ब्रा० १.१३,१.१९, १.२१ तथा ४.११। २१-द्रष्टव्य वै०को० पृ०-३६३।

ब्राह्मण है ।[1] ब्रहस्पति को देवों का पुरोहित कहा गयाहै ।[2] ऋग्वेद में भी बृहस्पति को पुरोहित का समानार्थी माना गया है ।[3] बृहस्पति असुरों को हराने में इन्द्र की सहायता करते हैं।[4]

ऐतरेयकार ने अग्नि से भी इनका ताद्रूप्य दिखाया है । [5] गोपथ ब्राह्मण में इन्हें चक्षु कहा है ।[6]

वायु

ब्राह्मण में वायु का बड़ा महत्व समझाया गया है । वायु नियन्ता हैं । इन्हीं के द्वारा अन्तरिक्ष नियन्त्रित है । [7] वायु को प्रजापति[8] और प्राण[9] कहा है । वायु का अन्तर्भाव अग्नि में माना गया है ।[10] गोपथ ब्राह्मण[11] में सविता और तैत्तिरीय ब्राह्मणों[12] में ये वाक् के समानार्थी हैं ।

रुद्र

ऐतरेयब्राह्मण में रुद्र का भयानक या अप्रशस्त रूप दृष्टिगोचर होता है । प्रजापति के अकृत्य पर देवों ने इस भूतवान् रुद्र को उत्पन्न किया था ।[13] इनकी भयानकता से डरकर ब्राह्मणकार इन्हें रुद्रिय कहने का परामर्श देते हैं ।[14] रुद्र का मन्त्र आयुप्रदाता कहा गया है ।[15] एक स्थल पर रुद्र को दानी के रूप में भी स्मरण किया गया है ।[16] इनके स्वरूप के चित्रण में ब्राह्मणकार ने इतनी सी ही अल्प सामग्री दी है ।

विष्णु

ब्राह्मण के आरम्भ में ही विष्णु का स्मरण किया गया है । अग्नि और सोम की भांति इन्हें भी "सर्वा देवताः" कहा गया है ।[17] विष्णु द्वारा इस सृष्टि की तीन पदों में रचना हुई है ।[18] विष्णु देवों के द्वारपाल हैं, इसलिए सोम के लिए द्वार खोल देते हैं [19]। विष्णु देवताओं में परम या ऊंचे हैं ।[20] ब्राह्मण के अन्य स्थलों पर इनका अन्तर्भाव यज्ञ, अग्नि आदि में बतलाया गया है । कौषीतकि, शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मणों में इन्हें क्रमशः यज्ञ, सोम और श्रोत्र कहा गया है ।[21]

१-ऐ०ब्रा०२.३८ ।
२—वही ८.२६ । ३—वै०दे०शा०पृ०२६२ । ४--ऐ०ब्रा० ६.३६ ।
५—देखो ऊपर अ० ७ । ६—गो०ब्रा० ४.११ । ७—वही २.४१ ।
८—वही ४.२६ । ६—वही ३.२ । १०-द्रष्टव्य यही ग्रन्थ प्रजापति वर्णन ।
११—गो०ब्रा० १.३३ । १२—तै०ब्रा० १.८.८.१ । १३-ऐ०ब्रा०३.३३ ।
१४-वही ३.३५ । १५—वही-३.३५ । १६-वही ५.२७ । १७-ऐ०ब्रा० १.१ ।
१८-वही १.१ । १६-वही १.३१ । २०-वही १.१ । २१-वे०को०पृ० ५१८-५२१।

विश्वेदेव

अल्पस्तुत देवताओं में एक विशाल देवगण 'विश्वेदेवाः' का है, जिनका यज्ञ में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इस गण की कल्पना के पीछे एक याज्ञिक प्रयोजन प्रतीत होता है, वह यह कि ये देवता सभी देवों के प्रतिनिधि बनाकर बुलाये जाते हैं। यज्ञ में कोई भी देवता अनामन्त्रित न रह जाय, इस उद्देश्य से इनका आह्वान किया जाता है।

ब्राह्मण में ये द्वादशाह के तीसरे दिन के देवता के रूप में स्मरण किये गये हैं।[1] देवों ने इनकी सहायता से पश्चिम की ओर से असुरों को भगा दिया।[2]

ब्राह्मणकार ने कहा है कि मानव शरीर के अंग विश्वेदेवों के हैं,[3] अतः यहाँ विश्वेदेवों का अर्थ हाथ पैर आदि अंग मानना उचित जान पड़ता है। यह अर्थ भी निश्चित पदार्थ के संकेत के अभाव में अधूरा ही है। शतपथ ब्राह्मण में इन्हें सूर्य-रश्मि,[4] प्राण[5] आदि कहा गया है।

अत्यल्पस्तुत देव तथा देवियों के बारे में ब्राह्मणकार के विचार ऊपर अन्य अध्यायों में आ चुके हैं।

असुर

यजमानों का कल्याण करने वाले देवताओं के साथ कुटिल गति वाले असुरों का भी उल्लेख पर्याप्त रूप से हुआ है। ये देवों के अथक प्रतिद्वन्दी हैं। ब्राह्मणकार ने असुरोंके स्वरूप का चित्रण कहीं नहीं किया है, उनके कार्योंका उल्लेख अवश्य किया है। वे निरन्तर देवों के यज्ञ-कार्यों में बाधा पहुँचाते रहते हैं।[6]

देवासुर-संग्राम वाले आख्यानों में ऊपर इनका वर्णन किया जा चुका है। असुर भी यज्ञ करते हैं और देवों के समान शक्तिशाली हो जाते हैं।[7] ये स्वर्ग जाते हुए देवों को रोकते हैं।[8]

ऊपर के वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि देवता प्रकाश से सम्बन्धित हैं तो असुर अन्धकार से। प्रकृति की कल्याणकारिणी शक्तियों के सहज-कार्यों में बाधा उत्पन्न करने बाली ये शक्तियां भी असुर-प्राण की वाचक प्रतीत होती हैं।[9] शरीर में ये रोगादि उत्पन्न करने वाली शक्तियों के रूप में समझे जा सकते हैं।

१—ऐ०ब्रा० ४.१। २-वही ६.४। ३-वही ३.२। ४-श०ब्रा० ३.९.२.६। ५-वही १४.२.२.३७—देखिये वैं०कौ०पृ०५१५ से ५१७। ६-ऐ०ब्रा० १.३०। ७-वही १.३१। ८-वही ५.१। ९-वैं०कौ०पृ० ५५-५६ भी देखें।

असुरों में वृत्र का नाम उल्लेखनीय है। वह इन्द्र के सहज शत्रु के रूप में अनेकशः वर्णित हुआ हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है कि इन्द्र इसे मारते हैं। ब्राह्मणकार ने इसके आध्यात्मिक या आधिदैविक स्वरूप के बारे में कुछ भी नहीं लिखा है। यास्कीय परम्परा के अनुसार प्राकृतिक दृश्यों में यह मेघ का वाचक माना जाता रहा है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके सर्वाच्छादक, पाप्मा, उदर, सोम, चन्द्रमा आदि अर्थ बतलाये गए हैं।[2]

देवताओं के उपर्युक्त निरूपण से यह ज्ञात होता है कि अग्नि, सोम, इन्द्र आदि जितने देवता—नाम ब्राह्मण में प्रयुक्त हुए हैं, वे सब एक ही तत्व के वाचक हैं। इसे हम प्रजापति वाक् या ब्रह्म कह सकते हैं। ब्रह्माण्ड में सूर्याग्नि तथा पिण्ड में वैश्वानराग्नि के रूप में उसी तत्व की अभिव्यक्ति हो रही है। ब्राह्मणकार यज्ञ के द्वारा विश्वात्मा के प्राकृत कर्म का आभास कराना चाहते हैं। प्राकृत कर्म के सम्पादन कर्त्ता देव हैं। मनुष्य-समाज भी उसी कर्म का अनुकरण करता है। इस संकेत का उल्लेख ब्राह्मणकार ने देवविश् और मानव-प्रजा की कल्पना में किया प्रतीत होता है।[3]

निष्कर्ष

ब्रह्माण्ड और पिन्डाण्ड की शक्तियां ही देवता हैं। उनका पुरुषविध रूप नहीं है। उनका पारस्परिक तादात्म्य है। वे एक ही शक्ति के विभिन्न नाम हैं। उनमें ऋग्वैदिक देवताओं का प्रतिविम्ब स्पष्ट लक्षित होता है। वे ऋषियों और छन्दों के सहचर हैं। उनका जन्म भी हुआ है। पूर्व रूप में वे मरण धर्मा थे।

१-देखें अ० ५। ४-वे०ला०़० ४१। ३-ऐ०ब्रा०१.९।
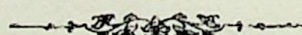
ब्रह्म-परिमर : उपसंहारात्मक-अवेक्षण

याज्ञिक प्रक्रिया और वेदार्थ

ऐतरेयब्राह्मण की जिस सामग्री का अध्ययन ऊपर किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि ब्राह्मणकार ने याज्ञिक-प्रक्रिया द्वारा वेदार्थ को समझाने का प्रयत्न किया है। यज्ञ-क्रिया के द्वारा सृष्टि और सृष्टा का ज्ञान कराना उन्हें अभीष्ट है। उनके उल्लेखों से यह तो निश्चित हो जाता है कि वेद में कर्म और ज्ञान की विवेचना की गई है। उसको समझाने के लिए ही ब्राह्मणकार ने यह प्रयत्न किया है।

ऐसा दिखाई देता है कि आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की साम्यता के आधार पर यज्ञों की कल्पना की गई है। आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की विभिन्न क्रियाओं तथा पदार्थों का वेदमन्त्रों में निहित अभिप्राय समझाने के लिए कतिपय मन्त्रों का सम्बन्ध यज्ञों की तत्तत् क्रियाओं के साथ जोड़ा गया है। यह कहा जा सकता है कि याज्ञिक-प्रक्रियानुसार किया गया वेदार्थ वेद का मुख्य अर्थ नहीं है, वह तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक वेदार्थ को समझने की कुंजी है।

ग्रन्थ के उपसंहार रूप में ब्राह्मणकार ने ब्रह्म परिमर क्रिया प्रस्तुत की है। वे ग्रन्थ के अनेक स्थलों पर "यो एवं वेद"[1] कहकर कर्म के साथ ज्ञान को प्रशस्त मानते हैं। ब्रह्म परिमर क्रिया के विवरण से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि ऐतरेयकार को कर्म के साथ ज्ञान का समन्वय अभिप्रेत है।

ब्रह्म-परिमर कर्म का स्वरूप

ऐतरेयकार ने अग्निष्टोम के प्राथमिक कृत्य "दीक्षणीयइष्टि" से ग्रन्थ का आरम्भ किया है और ग्रन्थ की पूर्णाहुति ब्रह्मपरिमर कर्म के द्वारा की है। ब्रह्म-परिमर नाम से कोई कर्म वैदिक कर्म-काण्ड के अन्तर्गत दृष्टिगत नहीं होता और न यह शब्द ही इस ब्राह्मण के अतिरिक्त कहीं प्रयुक्त हुआ है।[2] ब्राह्मणकार द्वारा प्रदत्त यह नाम अपनी विशेषता रखता है। इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है--

"अब ब्रह्म परिमर कहा जाता है। जो ब्रह्मपरिमर को जानता है, उसके चारों ओर रहने वाले सभी शत्रु नष्ट हो जाते हैं। जो बहता है, वही ब्रह्म है।

१—ऐ०ब्रा० १.१, १.६, १.११ इत्यादि। २—देखिये वै०प० को०।

उसके चारों ओर विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि--ये पांच देवता मरते हैं, इसलिये यह ब्रह्म-परिमर कहा गया है।[३]

इस क्रिया का विनियोग शत्रु-क्षय कर्म में किया गया है। "विद्युत के मरने से मेरे शत्रु भी मर जायेंगे और छिप जायेंगे--हम कभी शत्रु को न देखें।" इस प्रकार राजा को कहना चाहिये, इससे राजा के सभी शत्रु नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

पांच देवों का ब्रह्म में निलय

ब्रह्म-परिमर क्रिया के अन्तर्गत ब्रह्म में पांच देवों का निलय और पुनः उत्पत्ति बतलाई गई है। निलय का विवरण प्रस्तुत करते हुए ऐतरेयकार ने कहा है--

"विद्युत् चमक कर वृष्टि में प्रवेश कर जाती है और छिप जाती है। वृष्टि बरस कर चन्द्रमा में प्रविष्ट हो जाती है और छिप जाती है। अमावस्या को चन्द्रमा आदित्य में प्रविष्ट होता है और छिप जाता है। आदित्य अस्त होकर अग्नि में प्रविष्ट होता है। अग्नि बुझकर वायु में प्रविष्ट होती है और छिप जाती है।"

प्रत्येक तत्त्व के प्रवेश या छिपने का उल्लेख करते हुए ब्राह्मणकार ने शत्रु-नाश की बात को दोहराया है। "अग्नि के निस्तेज होने से शत्रु नष्ट हो जायें, कोई उनको देख न सके"--इस प्रकार की कल्पना से शत्रु नष्ट हो जाते हैं और उनको कोई नहीं देख सकता।

ब्रह्म (वायु) से पंच-देवताओं का आविर्भाव

पहले विद्युतादि का ब्रह्म में विलय-क्रम बताकर उसी अनुलोम-क्रम से उनका आविर्भाव समझाया गया है--

"अब इन पांचों देवताओं का पुनर्जन्म होता है। वायु से सर्वप्रथम अग्नि का जन्म होता है, क्योंकि प्राण रूप बल के मथने से अग्नि उत्पन्न होती है। अग्नि से आदित्य उत्पन्न होता है। आदित्य से चन्द्रमा, चन्द्रमा से वृष्टि और वृष्टि से विद्युत् उत्पन्न होती है। इसको देखकर राजा को कहना चाहिये कि "अग्नि आदि पुनः उत्पन्न हों, मेरा शत्रु पुनः उत्पन्न न हो, वह दूर भाग जाय।"

ब्रह्म-परिमर क्रिया का विश्लेषण

इस कर्म में सृष्टि-प्रक्रिया का उल्लेख हुआ है। इसके अन्तर्गत केवल अन्त-

---

३--अथातो ब्रह्मणः परिमरो यो ह वै ब्रह्मणःपरिमरं वेद पर्येनं द्विषन्तो भ्रातृव्याः परि सपत्ना म्रियन्ते। अयं वै ब्रह्म योऽयं पवते तमेताः पंच देवताः परिम्रियन्ते विद्युद् वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निः। ऐ०ब्रा० ८.२८।

रिक्ष के सृजन का ही वर्णन किया गया है। पांचों उत्पत्तियों का क्रमशः अध्ययन निम्न प्रकार है--

(अ) वायु से अग्नि

वायु से अग्नि का जन्म होता है। ऋग्वेद के वात सूक्त[1] में वायु को देवों का आत्मा और भुवन का गर्भ कहा गया है--

"आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भः।"

भौतिक विज्ञान के अनुसार भी विना वायु अग्नि का प्रज्ज्वलित होना असम्भव है। वायु के बाहुल्य से दीपक बुझ जाता है--अतः अग्नि वायु में प्रवेश कर जाता है। वेदान्त दर्शन के अनुसार वायु से पूर्व आकाश का सृजन होता है।[2] ऐतरेयकार ने २.४१ में इसका उल्लेख किया है। ब्राह्मणकार ने ऋ ३.१३.१ के "प्र वो देवाय अग्नये" का व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए बताया है कि "प्र" अन्तरिक्ष है। सब भूत अन्तरिक्ष में निवास करते हैं। वह (ब्रह्म) अन्तरिक्ष को बनाता है और अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है।

(आ) अग्नि से आदित्य

कहा गया है कि अग्नि से आदित्य पैदा होता है। अग्नि की सार्वभौम सत्ता का उल्लेख पिछले पृष्ठों में हो चुका है। ऋग्वेद के आग्नेयसूक्त के एक मन्त्र में अग्नि को विश्व की पताका और भुवन का गर्भ कहकर पुकारा गया है--"विश्वस्य केतुः भुवनस्य गर्भः।"[3]

रात्रि में अग्नि में प्रविष्ट हुआ आदित्य दूसरे दिन अग्नि से पैदा होता है। सायणाचार्य ने इसकी व्याख्या में कहा है--"संध्या समय आदित्य अग्नि में समा जाता है, इसलिये रात्रि में अग्नि दूर से दिखाई देती है।" दिन में आदित्य की उत्पत्ति पर अग्नि निस्तेज हो जाता है।[4] ब्राह्मणकार द्वारा ३.३४ में प्रजापति के रेतस् की प्रथम उद्दीप्ति से आदित्य के जन्म का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अन्य स्थल पर यह भी कहा गया है कि आदित्य प्रातःकाल आपः से उदय होता है और उसी में प्रवेश करता है।[5] शतपथ ब्राह्मण में आदित्य को आपः कहा गया है।[6] ब्रह्म परिमर के उल्लेख से अन्य उल्लेखों का जो विरोध दिखाई देता है, वह वास्तविक नहीं है। वेद विद्या निदर्शन में तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि से उदाहरण देकर यह बतलाया गया है

१—ऋ०१०-१६८.४। २—वेदान्तसार पृ० ६-७। ३—ऋ०१०-४५.६।
४—सा०भा० पृ० ६६७। ५—ऐ०ब्रा० ८.२०। ६—श०ब्रा०१०.६.५.२।

कि अग्नि आपः का गर्भ है।[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण में "आपो वा अग्निः पावकः" कहा गया है। इसी प्रकार सूर्य में तपने वाला शुचि अग्नि "अपांगर्भ" है, इसीलिए आपः से वह द्युलोक में दीप्त है। ऋग्वेद के एक मन्त्र भाग में अग्नि के लिए "गर्भो यो अपाम्"[2] कहा गया है। कपिष्ठल संहिता ७.५ में लिखा है—"अग्नि अपने शुचि रूप से आदित्य में प्रविष्ट हुआ है। ब्रह्माण्ड पुराण में भी इसी बात को दोहराया गया है।

"उदिते हि पुनः सूर्ये ह्यौष्ण्यमाग्नेयमाविशेत्
संयुक्तो वन्हिना सूर्यः तपते तु ततो दिवा।'[3]

श्री भगवद्दत्त ने यह भी बतलाया है कि आदित्य की सम्पूर्ण महिमा वायुकणों, दिव्य आपः और दिव्य अग्नि के कारण है। अतः आदित्य में सम्पूर्ण प्राण, ऋषि, पितर और देव निवास करते हैं। प्राण, ऋषि, पितर और देव क्रमशः वायु, आपः और अग्नि के योग का फल है।[4] यह उल्लेख वेदान्त के पंचीकरण सिद्धान्त की तरह ज्ञात होता है।

(इ) आदित्य से चन्द्र

आदित्य से चन्द्रमा उत्पन्न होता है। अमावस्या को आदित्य में प्रविष्ट हुआ चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में आदित्य से पैदा होता है। ऐतरेकार की इस स्थापना की पुष्टि अन्य ग्रन्थों से भी होती है। यज्ञ के चयन प्रकरण में शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि आदित्य से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। इसकी पुष्टि पुराणों द्वारा भी की गई है। वायु पुराण में लिखा है कि नक्षत्र, चन्द्र और ग्रह सारे सूर्य से उत्पन्न जानने चाहिये—

"ऋक्षचन्द्रग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसम्भवाः" ५०।९९

वर्तमान पाश्चात्य विज्ञान में चन्द्रोत्पत्ति पृथिवी से मानी जाती है। "चार्लस डारविन के पुत्र" 'जार्ज एच० डार्विन' का मत "जार्जगेमो" लिखते हैं कि चन्द्र पृथिवी से पृथक हुआ। इस पर और भी विस्तारपूर्वक वेदविद्या निदर्शन में लिखा गया है, जिसमें "इमेनुएल वेलीकोब्स" तथा "आईन्स स्टाइन" के मतों का विवेचन किया गया है।[5]

(ई) चन्द्र से वृष्टि

जलमय चन्द्रमण्डल में प्रविष्ट हुई वृष्टि कालान्तर में चन्द्रमा से उत्पन्न होती

१—वे०वि०नि० पृ० १९५-९६। २—ऋ०१-७०-२। ३—द्रष्टव्य-वे०त्रि० नि० पृ० १९७-९८। ४—वे०वि०नि० पृ० १८९। ५—चन्द्रोत्पति के पूरे विवरण के लिये देखें वे०वि०नि०पृष्ठ० २५९ से २६७।

है। आधुनिक विज्ञान द्वारा भी यह बतलाया गया है कि सूर्य के द्वारा जो पानी वाष्प बनकर ऊपर उठता है, उसका चन्द्रमा द्वारा द्रवीकरण होकर वर्षा होती हैं। जल को जलरूप चन्द्रमा अपनी ओर आकर्षित करता है। पूर्णिमा के दिन समुद्र में ज्वार-भाटा चन्द्रमा के आकर्षण के कारण ही उत्पन्न होता है। अतः शीत और जल का सम्बन्ध चन्द्रमा से है। तैत्तिरीय ब्राह्मण, ताण्ड्य ब्राह्मण तथा निरुक्त पर दुर्गवृत्ति से उद्धरण देकर श्री भगवद्दत्त ने चन्द्रमा और वृष्टि के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है--

तैत्तिरीय तथा ताण्ड्य ब्राह्मण में चन्द्रमा को "अपांपुष्पम्" कहा गया है। निरुक्त २.६ पर दुर्गवृत्ति में "अम्मयं हि चन्द्रमसो मंडलम्" कहकर चन्द्रमा का वृष्टि से सम्बन्ध बताया प्रतीत होता है।[1]

(उ) वृष्टि से विद्युत्

वृष्टि में प्रविष्ट हुई विद्युत् वृष्टि से उत्पन्न हो जाती है। विद्युत् विशेष रगड़ से उत्पन्न होती है तथा पतन से भी। पतन का सिद्धान्त जल से विद्युत् उत्पन्न करने में बरता गया है। आधुनिक विज्ञान द्वारा भी यही माना गया है कि घनों में ऋण और धन की धारायें मिलकर विद्युत् को चमका देती हैं।

ऐ० ब्रा० २.४१ में इसी सृष्टि-क्रम को समझाया गया है। वहां अन्त में यह भी कहा गया है कि जो इस रहस्य को समझता है, वह इन सबसे युक्त होकर देवता-मय हो जाता है--

"स एवं विद्वानेतन्मयो देवतामयो भवति।"

ब्रह्म-परिमर के साधक के लिये आवश्यक व्रत

ब्रह्म-परिमर के साधक के लिए आवश्यक व्रत की ओर निर्देश करते हुए बतलाया गया है--

"शत्रु के पूर्व में न बैठे। जब वह (साधक) समझले कि यह (शत्रु) खड़ा हुआ है, तब खड़ा हो। अपने शत्रु के लेटने के पहले न लेटे। जब वह समझे कि शत्रु बैठा है, तब बैठे। वह जब तक शत्रु न सोवे, आरान न करे। जब वह समझ ले कि शत्रु जाग पड़ा तो स्वयं जाग पड़े। ऐसा करने से यदि शत्रु अश्ममूर्धा भी हो अर्थात् उसका पत्थर का भी सिर हो, तो भी वह शीघ्र ही चूर चूर हो जायेगा। उपर्युक्त कथन को राजा द्वारा ग्राह्य शत्रु सम्बन्धी विचारों से मिलाने पर ज्ञात होता है कि

१—वे०वि०नि पृष्ठ० २६६।

इस कर्म में ध्यान या जप कर्म ही मुख्य रूप से बतलाया गया है । उक्त प्रकार से उत्पत्ति और विनाश का मनन चिन्तन कर लेने मात्र से इसका फल प्राप्त हो जाता है । इस साधक व्रत का निर्देश करके ध्यान-योग की प्रतिष्ठा की गई है—ऐसा प्रतीत होता है ।

ब्रह्म परिमर क्रिया का तत्त्वार्थ

ब्रह्म-परिमर में स्थूल का सूक्ष्म में पर्यवसान तथा सूक्ष्म से स्थूल की क्रमशः सृष्टि बतलाई गई है । यह दृश्यमान स्थूल जगत ब्रह्म में विलीन होकर पुनः उसी से उत्पन्न होता है । इसका ज्ञान कराने के लिए यह विवरण प्रस्तुत किया प्रतीत होता है । इसी प्रकार सृष्टि का विवरण ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक सौ नब्बेवें सूक्त में भी प्राप्त होता है । वहां ब्रह्म द्वारा तप करके ऋत और सत्य की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । इन उल्लेखों की ओर संकेत करने का तात्पर्य यही दिखाई देता है कि जब मनुष्य इतना समझ लेता है, तब उसका किसी व्यक्ति से द्वेष नहीं रहता । वह मनुष्य अजातशत्रु हो जाता है । ब्रह्मपरिमर के शत्रु-क्षय के लिए विनियोग से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जब हृदय-कालिमा शून्य हो जायेगा तब शत्रु की सम्भावना किसी प्रकार नहीं हो सकती है ।

ब्रह्मपरिमर के लिए आवश्यक व्रत के उल्लेख से भी यही भाव प्रकट होता है कि शत्रु के साथ नम्रता का व्यवहार करने पर वह अवश्य झुक जाता है । यहां तक कि वह अश्ममूर्धा अर्थात् पाषाण हृदय हो, फिर भी वह द्रवीभूत हुये बिना नहीं रह सकता । उसके साथ शिष्टाचार निभाते हुये तितिक्षा से काम लेना चाहिए । इसी प्रकार के भाव इस क्रिया से प्रकट होते हैं ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म परिमर के ज्ञान से मनुष्य का संस्कार होता है । शरीरस्थ शत्रु लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि नष्ट हो जाते हैं । इस क्रिया के ज्ञान द्वारा ज्ञान-यज्ञ की प्रतिष्ठा की गई प्रतीत होती है, जिसमें अखिल कर्मों की परिसमाप्ति हो जाती है । ऐतरेयकार ने ग्रंथ को द्रव्य यज्ञ से प्रारंभ किया है तथा ज्ञान यज्ञ पर ग्रन्थ की समाप्ति की है । गीता में इसी ज्ञान-यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए कहा गया है—

"श्रेयान् द्रव्यमयात् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतपः
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।"[1] भगवद् गीता ४.३.३१

मनुष्यों में सात्विक भावनाओं का उदय, तामसिक और राजसिक भावनाओं की इतिश्री कर्म और ज्ञान के समन्वय से ही हो सकती है । ऐतरेयकार के सम्पूर्ण ग्रंथ का सार कर्म और ज्ञान का समन्वय जान पड़ता है । वेद का भी यही सन्देश है—

विद्यांचाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।।

卐

पर्यायानुक्रमणिका

१. अग्नि

अग्निर्वै सर्वा देवताः	ऐ० ब्रा०	१.१
अग्निर्वै देवानामवमो	- -	- -
अन्नादो वा एषोऽन्नपतिर्यदग्निः	- -	१.८
अग्निर्हि देवानां पशुः	- -	१.१५
अस्य प्रियो अतिथिर्यदग्निरग्नेः	- -	१.१६
अग्निर्वै देवयौनिः	- -	१.२२,२.३
अग्निर्वै देवानां होता	- -	१.२८.३.१४
अग्निर्वै देवानां वशिष्ठः	- -	१.२८
अग्निर्वै देवानां गोपा	- -	- -
अग्निर्वै शर्माणि	- -	२.४१
एष ह वा अहिर्बुध्न्योयदग्नि-गार्हपत्यः	- -	३.३६
अग्नि अग्निष्टोमः	- -	३.४१
अग्निर्वै स्वर्गलोकस्याधिपतिः	- -	३.४२
स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमः	- -	३.४३
अग्निर्गृहपतिः	- -	५.२५
अग्निर्वै रथन्तरम्	- -	५.३०
यो वा अग्निः स वरुणः	- -	६.२६
अग्निर्वै परिक्षित्	- -	६.३२
अग्नि र्वै देवानां मुखम्	- -	७.१६
अग्निर्वाव पुरोहित :	- -	८.२७

२. अग्निविष्णु (देवना-द्वंद्व)

एते वै यज्ञस्यान्त्ये तन्वौ यदग्निश्च विष्णुश्च	- -	१.१
अग्निश्च ह वै विष्णुश्च देवानां-दीक्षापालौ	- -	१.४

३. अग्निसोम (देवता-द्वंद्व)

प्राणापानावग्नीषोमौ	ऐ०ब्रा०	१.८
चक्षुषी एवाग्नीषोमौ	- -	- -

१६. ऋतु

ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरः	ऐ०ब्रा०	१.१३

१७. ओषधि

आग्नेयो ह्योषधयः	– –	१.७

१८. कृष्णाजिन

कृष्णाजिनं वै सुतर्मानौ	– –	१.१३

१९. गन्धर्व

स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः	– –	१.२७

२०. गर्दभ

गर्दभः द्विरेता वाजी	– –	४.९

२१. गृह

गृहा वै दुर्या	– –	१.१३
गृहा वै प्रतिष्ठा	– –	३.२४
ऋतवो गृहाः	– –	५.२५
गृहा वा ओकः	– –	८.२६

२२. चक्षु

चक्षुर्वै विचक्षणम्	– –	१.६
एतद्ध वै मनुष्येषु सत्यनिहितं यच्चक्षुः	– –	– –
चक्षुर्वा ऋतम्	– –	२.४०
तेजो वा एतदक्ष्णोर्यदांजनम्	– –	१.३

२३. दक्षिणा

दक्षिणा वै पितुः	– –	१.१३
दक्षिणा वै यज्ञानां पुरोगवी	– –	६.३५

२४. द्यावा पृथिवी

द्यावा पृथिवी वै देवानां हविर्धाने	– –	१.२९
द्यावा पृथिवी वै रोदसी	– –	२.४१
द्यावा पृथिवी वै प्रतिष्ठे	– –	३.२९
या द्यौ सा अनुमति सा एव गायत्री	– –	३.४८
या पृथिवी सा कुहू सा एव अनुष्टुभ्	– –	३.४८
अयम् वै लोको ज्योतिःअसौ लोक आयुः	– –	४.१५

ग्रयं वै लोको ज्योतिः ग्रसौ लोको ज्योति:	ऐ०ब्रा०	४.१५
ग्रयं (पृथिवी) सर्पराज्ञी	– –	५.२३
ग्रयं वै लोक इषम्	– –	६.७
जागतो वा इति जागतो वासवं वा इदम्	– –	६.२६,६.३०
द्योः पुरोधाता पृथिवी पुरोधाता	– –	८.१७

२६. दिक्

तेजो वै ब्रह्मवर्चसं प्राची दिक्	– –	१.८

२६. दिन, भूत-भव्य ग्रौर ऊषा

ग्रह वार्हतम्	– –	५.३०
परिमितं वै भूतम्	– –	४.६
ग्रपरिमितं भव्यम्	– –	– –
या ऊषाःसा राका सा एव त्रिष्टुप्	– –	३.४८
उषो हि पौषः	– –	४.२७

२७. दीक्षा

दीक्षणीयमेकादशकपाल क्रम्	– –	१.१
ऋतं वाव दीक्षा	– –	१.६
सत्यं दीक्षा	– –	– –

२८. दीक्षित विमितं

योनिर्वा एषा दीक्षितस्य यद्दीक्षितमितम्	– –	१.३

२९. दीक्षितवास

उल्वं वा एतद्दीक्षितस्य यद्वास:	– –	– –

३०. पूर्वा

क्षत्रं वा एतदौषधीनां यदूर्वा	– –	८.८

३१. देवता

सत्य संहिता वै देवाः	– –	१.६
ग्रग्नेर्वा एताः सर्वास्तन्वो यदेता देवताः	– –	३.४

३२. देवयजन

देवयजनं वै वरम्	– –	१.१३

३३. धन

राष्ट्राणि वै धनानि	– –	८.२६

३४. धाय्या

पत्नी धाय्या	ऐ०ब्रा०	३.२२

३५. न्यग्रोध

क्षत्रं वा एतद्वनस्पतीनां यन्नग्रोधः	– –	७.३१,८.१६

३६. नेष्टा

पत्नीमाजनं नेष्टा	– –	६.३

३७. परिवाप

परिवाप यन्द्रस्यायूपः	– –	२.२४
इत्यन्त्रमेव परिवाप इन्द्रियमयुपः	– –	– –

३८. पशु

जागता वै पशवः	– –	१.५,१.२१,६.२४
जागता पशवः	– –	१.२८,४.३
पशुर्वै मेघो	– –	२.६
श्रोषाध्यात्मा वै पशुः	– –	२.६
अग्नि यो वाव सर्वः पशुः	– –	– –
स वो एष पशुरेवाऽऽलभ्यते यत्पुरोडाशः	– –	२.९
चतुष्पादा वै पशवः	– –	२.१८
पशवः पूषा	– –	२.२४
पशवःप्रगाधः	– –	३.१९,३.२४,६.२४
पशवो वै मरुतः	– –	३.१९
पाङ्क्ता पशवः	– –	३.२३,४.३,५.४,५.१८,२१
पशवो वै स्वरः	– –	३.२४
पशवःउक्थानि	– –	४.१,४.१२
बर्हिताःपशवः	– –	४.३,५.६
पषवो वा उक्थानि	– –	४.१२
मिथुनं वै पशवः	– –	४.२१
पशवः छन्दांसि	– –	४.२१
जागता हि पशवः	– –	५.६
बर्हिता हि पशवः	– –	– –
पाङ्क्ता हि पशवः	– –	– –
हविर्हि पशवः	– –	– –
वपुर्हि पशवः	– –	– –
बाजो वै पशवः	– –	५.८
त्रैष्टुमानि च जागतानि च मिथुनं पशवः	– –	५.१६-२१

पशवः छन्दोमा	ऐ०ब्रा०	५.१६-२१
चतुष्पादा पशवः	- -	५.१७,५.१९
पशवो वै प्रगाथाः	- -	६.२४
पशवः सतोबृहती	- -	६.२८

३९. प्रजा (विशं् :मनुष्य, स्त्री)

अनृतसंहिता मनुष्याः	- -	१.६
प्रजाऽनुयाजा	- -	१.११
गायत्रो वै ब्राह्मणः	- -	१.२८
त्रैष्टुभो वै राजन्यः	- -	- -
जागतो वै वैश्यः	- -	- -
प्रजा वै नरः	- -	२.४,६.२७,६.३१
प्रजा वै तन्तुः	- -	३.११,३.३८
पुमांसो वै नरः	- -	३.३४
स्त्रियो नार्यः	- -	३.३४
विशो होत्राशंसिनः	- -	६.२१
प्रजा वै जनकल्पाः	- -	६.३२
राष्ट्राणि वै विशः	- -	८.२६

४०. प्रजापति

सप्तदशो वै प्रजापतिः	- -	१.१,१.१६,४.२६
संवत्सरः प्रजापतिः	- -	१.१,१.१३,१.१६,२.१७,६.१९
एकविंशो वै प्रजापतिः	- -	१.३०
अपरिमितो वै प्रजापतिः	- -	२.१७,६.२
प्रजापति वै कः	- -	२.३८,६.२१
खो वै नाम प्रजापतिः	- -	३.२१
प्रजापति वै यज्ञः	- -	४.२६
पवमानः प्रजापतिः	- -	- -
अनिरुक्तो वै प्रजापतिः	- -	६.२०
को वै प्रजापतिः	- -	६.११

४१. प्रतिष्ठा

प्रतिष्ठा वै स्वाहाकृतयः	- -	२.९
प्रतिष्ठा वै स्विष्टकृत्	- -	२.१०
प्रतिष्ठा वै एवयामरुत्	- -	६.३०

४. अग्न्याहुतिः

सैषा स्वर्ग्याहुतिर्यदग्न्याहुतिः	ऐ०ब्रा०	१.१६

५. अन्तरिक्ष

अन्तरिक्षं वै प्र	– –	२.४१
अन्तरिक्षं गौ	– –	४.१५
अन्तरिक्षं पुरोधाता	– –	८.२७
पथो वा एष प्र इति	– –	३.११

६. अन्न

अन्नं वै विराट्	– –	१.५
अन्नं वै पितुः	– –	१.१३
अन्नं करम्भः	– –	२.२४
अन्नमेक परिवापः	– –	– –
अन्नं विराट्	– –	४.११,५.१६,५.२१
अन्नं वै न्यूङ्खः	– –	५.३,६.२६-३०,३
अन्नं पशवः	– –	५.१६,२१
शान्तिर्वा अन्नम्	– –	५.२७,७.३
अन्नं दक्षिणा	– –	६.३
अन्नं वा इषो	– –	६,१५
विराडन्नम्	– –	६.२०,३६,८.४
पंक्ति र्वा अन्नम्	– –	६.२०
अन्नं वै कम्	– –	६.२१
आपो अन्नम्	– –	६.३०
अन्नं वा इडा	– –	८.२६

७. अश्विनौ

अश्विनौ वै देवानां भिषजौ	– –	१.१८
अश्विनावध्वर्यू	– –	– –

८. आज्य

आज्यं वै देवानां सुभि सुरभिः	– –	१.३

९. आत्मा

आत्मा वै स्तोत्रियः	– –	३.२३,६.२६
आत्मा वै होता	– –	६.८

अयं वै लोको ज्योतिः असौ लोको ज्योतिः	ऐ०ब्रा०	४.१५
अयं (पृथिवी) सर्पराज्ञी	– –	५.२३
अयं वै लोक इषम्	– –	६.७
जागतो वा इति जागतो वासवं वा इदम्	– –	६.२९,६.३०
द्योः पुरोधाता पृथिवी पुरोधाता	– –	८.१७

२६. दिक्

तेजो वै ब्रह्मवर्चसं प्राची दिक्	– –	१.८

२६. दिन, भूत-भव्य और ऊषा

अह वार्हतम्	– –	५.३०
परिमितं वै भूतम्	– –	४.६
अपरिमितं भव्यम्	– –	– –
या ऊषाःसा राका सा एव त्रिष्टुप्	– –	३.४८
उषो हि पौषः	– –	४.२७

२७. दीक्षा

दीक्षणीयमेकादशकपालकम्	– –	१.१
ऋतं वाव दीक्षा	– –	१.६
सत्यं दीक्षा	– –	– –

२८. दीक्षित विमितं

योनिर्वा एषा दीक्षितस्य यद्दीक्षितमितम्	– –	१.३

२९. दीक्षितवास

उल्बं वा एतद्दीक्षितस्य यद्वासः	– –	– –

३०. दूर्वा

क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद्दूर्वा	– –	८.८

३१. देवता

सत्य संहिता वै देवाः	– –	१.६
अग्नेर्वा एताः सर्वास्तन्वो यदेता देवताः	– –	३.४

३२. देवयजन

देवयजनं वै वरम्	– –	१.१३

३३. धन

राष्ट्राणि वै धनानि	– –	८.२६

३४. धाय्या

पत्नी धाय्या	ऐ०ब्रा०	३.२३

३५. न्यग्रोध

क्षत्रं वा एतद्वनस्पतीनां यन्नग्रोधः	– –	७.३१,८.१६

३६. नेष्टा

पत्नीभाजनं नेष्टा	– –	६.३

३७. परिवाप

परिवाप यन्द्रस्यायूपः	– –	२.२४
इत्यन्त्रमेव परिवाप इन्द्रियमयूपः	– –	– –

३८. पशु

जागता वै पशवः	– –	१.५,१.२१,६.२४
जागता पशवः	– –	१.२८,४.३
पशुर्वै मेधो	– –	२.६
श्रोषाध्यात्मा वै पशुः	– –	२.६
अग्नि यो वाव सर्वः पशुः	– –	– –
स वो एष पशुरेवाऽऽलभ्यते यत्पुरोडाशः	– –	२.९
चतुष्पादा वै पशवः	– –	२.१८
पशवः पूषा	– –	२.२४
पशवःप्रगाधः	– –	३.१९,३.२४,६.२४
पशवो वै मरुतः	– –	३.१९
पाङ्क्ता पशवः	– –	३.२३,४.३,५.४,५.१८,२१
पशवो वै स्वरः	– –	३.२४
पशवःउक्थानि	– –	४.१,४.१२
बर्हिताःपशवः	– –	४.३,५.६
पषवो वा उक्थानि	– –	४.१२
मिथुनं वै पशवः	– –	४.२१
पशवः छन्दांसि	– –	४.२१
जागता हि पशवः	– –	५.६
बर्हिता हि पशवः	– –	– –
पाङ्क्ता हि पशवः	– –	– –
हविर्हि पशवः	– –	– –
वपुर्हि पशवः	– –	– –
बाजो वै पशवः	– –	५.८
त्रैष्टुभानि च जागतानि च मिथुनं पशवः	– –	५.१६-२१

प्राणा सतोबृहती	ऐ०ब्रा०	६.२८
४५. पुरुष		
एकविंशोऽयं पुरुषः	– –	१.१९
पाङ्क्तोऽयं पुरुषः	– –	२.१४,६.२९
शतायु वैं पुरुषः	– –	२.१७
गायत्रो वै पुरुषः	– –	४.३
औष्णिहो वै पुरुषः	– –	– –
द्विपाद्वै पुरुषः	– –	५.१७,५.१९
शतायुर्वै पुरुषः, शतवीर्यः, शतेन्द्रियः	– –	४.१९,६.२
४६. पुरोहित		
अग्निर्वा एष वैश्वानरः पंचमेनिर्यत्पुरोहितः	– –	८.२४–२५
बृहस्पतिर्ह वै देवानां पुरोहितः		८.२६
४७. पूर्वकर्म		
प्रमिति पूर्वकर्म	– –	१.४
४८. ब्रह्म		
ब्रह्म वै बृहस्पतिः	– –	१.१३,१.१९, १.२१,१.३०,४.११
श्रोत्रं वै बृह्म	– –	२.४०
चन्द्रमा वै ब्रह्म	– –	२.४१
ब्रह्म वै गायत्री	– –	३.२४,४.११
ब्रह्म वै वाक्	– –	४.२१
ब्रह्म वं रथन्तरम्	– –	८.१–२
अयं वै ब्रह्म योऽयं ववते	– –	८.२८
४९. मरुत्		
मरुतो वै देवानां विशः	– –	१.९
मरुतो ह वै देवविशः	– –	१. १०
५० मिथुन		
द्वंद्वं वै मिथुनम्	– –	३.५०
५१. यज्ञ (सामान्य तथा विशेष)		
पाङ्क्तो वै यज्ञः	– –	१.५
पाङ्क्तो यज्ञः	– –	१. ७, ३.२३, ५.४, ५.१८

विष्णुर्वै यज्ञः	ऐ०ब्रा०	१.१५
यजमानो वै यज्ञः	– –	१.२८
प्रजापतिर्यज्ञः	– –	२.१७, ६.१९
देवरथो वा एष यज्ञः	– –	२.३७
यज्ञः श्रव ?	– –	३.३८
यज्ञो वै आहवनीयः	– –	५.२४, ५.२६
अयं वै यज्ञो यो ऽयं पवते	– –	५.३३
ब्रह्म वै यज्ञः	– –	७.२२
यज्ञो वै यजमानभागः	– –	७. २६
यज्ञो वै सुतर्मानोः	– –	१. १३
एतदेवमिथुनं यद्धर्मः	– –	१.२२
जितयो वै नामैता यदुपसदः	– –	१.२४
शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदातिथ्यम्	– –	१.२५
परियद्वा एतद्देवचक्रं यदभिप्लवः षडहः	– –	४.१५
प्रजापतियज्ञो वा एष यद्द्वादशाहः	– –	४.२५
ज्येष्ठयज्ञो वा एक यद्द्वादशाहः	– –	– –
श्रेष्ठयज्ञो वा एक यद्द्वादशाहः	– –	– –
श्री वै दशमपहः	– –	५.२२
प्रतिष्ठा वा एकाहः	– –	६.८
धीतरसं वै तृतीयसवनम्	– –	६.१२
जागतं वै तृतीयसवनम्	– –	६.१२, ६.१५
वैश्वदेवं वै तृतीयसवनम्	– –	६.१५
ज्योतिष्टोम एवाग्निष्टोमः	– –	८.४

५२. यजमान

एक वै सोमो राजा यो यजते	– –	१.१४
यजमानो वै यूपः	– –	२.३
यजमानो मेघपतिः	– –	२.६
एष उ एव प्रजापतिर्यो यजते	– –	२.१८
यजमानो जरिता	– –	३.३८
यजमानो हि सूक्तम्	– –	६.९

५३. यश

श्री वै यशः	– –	१.५
यशो वै हिरण्यम्	– –	७.१८

वाग्वै रथन्तरम्	ऐ० ब्रा०	४.२८
वागित्येव तदेतदक्षरम्	– –	५.३
एकाक्षरा वै वाक्	– –	– –
वाक्च वै मनश्च देवानां मिथुनम्	– –	५.२३
वाग्वै यज्ञः	– –	५.२४
वाग्वै सुब्रह्मण्या	– –	६.३
वाग्वै ब्रह्म	– –	– –
वाग्वा अनुष्टुभ्	– –	६.३६
मध्यायतना वा इयं वाक्	– –	६.२७

६५ वाजि

इन्द्रियं वै वीर्यं वाजिनम्	– –	१.१३

६६. वायु

वायुर्हि प्राणः	– –	२.२६, ३,२
वायुर्वै जातवेदः	– –	२.३४
वायुर्वै तूर्णिहव्यवाट्	– –	– –
वायुर्वै यन्ता	– –	२.४१
अयं वै तार्क्ष्यो योऽयंपवते	– –	४.२०
वायु र्गृहपतिः	– –	५.२५
वायुर्वाव पुरोहितः	– –	८.२७

६७ वृष्टि

वृष्टि वै दुरः	– –	२.४
वृष्टिर्वै याज्या	– –	२.४१

६८. विभिन्न छन्द

छन्दांसि वै साध्या देवाः	– –	१.१६
प्रजापतेर्वा शतान्यंढानि यच्छंदासि	– –	२.१८
अष्टाक्षरा वै गायत्री	– –	१.१, ३.१२
तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री	– –	१.५, १. २८
चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री	– –	३.३९
एषा वै गायत्री यक्षिणी, चक्षुष्मती, ज्योतिष्मती भास्वती	– –	४.२३
आयुर्वा उष्णिक्	– –	१.५
ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुभ्	– –	३.१२

एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुभ्	ऐ० ब्रा०	३.१२, ८.२
वीर्यं त्रिष्टुभ्	– –	४.३; ४.११
वीर्यं वै त्रिष्टुभ्	– –	१.२१, ६.१५
सा विराट् त्रयस्त्रिंशदक्षरा	– –	२.३७
त्रिंशदक्षरा वै विराट्	– –	४.१६, ८.४
सा दशिनी विराट्	– –	५.१९, ५.२१
पञ्चवीर्यं वा एतच्छन्दो यद्विराट्	– –	१.६
विराट् अन्नाद्यम्	– –	४.१६
द्वादशाक्षरा वै जगती	– –	३.१२
या गौः सा सिनीवाली सा एव जगती	– –	३.४८
श्रीर्वै यशश्छन्दसां बृहती	– –	१.५
षट्त्रिंशदक्षरा वै बृहती	– –	४.२४, ७.१

६९. विभिन्न स्तोम

स्तोमा वै त्रयः स्वर्गालोकाः	– –	४.१८
स्तोमा वै परमाः स्वर्गाः	– –	– –
ऋक्सामे इन्द्रस्य हरी	– –	२.२४
इमे वै लोकाः स्वरसमानः	– –	४.१९
गर्भा वा एत उक्थानां यन्मिविद्	– –	३.१०
पेशा व एत उक्थानां यन्निविद्	– –	– –
सौर्या वा एता देवता यन्निविद्	– –	३.११
क्षत्रं वै निविद्	– –	२.३३
स्वर्गस्य हैष लोकस्य रोहो यन्निविद्	– –	३.१९
स्वर्गस्य हैष लोकस्य ऽऽ क्रमणं यन्निविद्	– –	– –
बृहदरथंतरे सामनीभवत–एते वै यज्ञस्य–नावौ संपारिण्यः	– –	४.१४
देवानां वा एतन्मिथुनं यद् बृहद्रथंतरे	– –	५.२२
इयं वै पृथिवी रथंतरं क्षत्रं बृहत्	– –	८.१
असौ लोको बृहद् अयं वै लोको रथंतरम्	– –	८.२
गौरवीतिर्हं वै शाक्त्यो	– –	३.१९
तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गौरिवीतम्	– –	४.२
आयुर्वा ऐतशप्रलापः	– –	६.३३
अक्षितिरेतशप्रलापः	– –	– –
छन्दसां हैष रसो यदैतशप्रलापः	– –	– –
चक्षुंषि वा एतानि सवनानां यत्तूष्णीशंसः	– –	२.३२

परिशिष्ट १

ऐतरेयब्राह्मण के आख्यान

	आख्यान		संदर्भ
१.	अग्निष्टोम में देवों तथा उक्थ में असुरों का निवास-साकमश्वं द्वारा असुरों का निष्कासन।	ऐ०ब्रा०	३.४९
२.	अंगिरा द्वारा कृत्य में भूल-मनु के पुत्र नाभा-नेदिष्ट द्वारा भूल-सुधार।	... .	५.१४
३,	आदित्य और अंगिरा में कलह-आदित्य-अयन का प्रथम प्रारम्भ।	... .	४ १७
४.	आदित्य और अंगिरसों का स्वर्ग गमन के लिये-कलह-होता बनने व दक्षिणा ग्रहण करने पर विचार।	....	६.३४,३५
५.	इन्द्र द्वारा वृत्र-वध, शंका की उत्पत्ति,कृत्य में-पितरों को प्राथमिकता।	....	३.१५
६.	इन्द्र द्वार वृत्र-वध,मरुतों द्वारा उसकी सहायता	....	३.१६
७.	इन्द्र द्वारा वृत्र-वध का उद्योग, देवों से सहायता के लिये अनुरोध, मरुतों की स्वीकृति।	....	३.२०
८.	इन्द्र द्वारा वृत्र-वध,प्रजापति के समान बनने की अभिलाषा।	....	३.२१-२२
९.	इन्द्र द्वारा असुरों का उक्थों से निष्कासन।	....	६.१४
१०.	ऋभुओं द्वारा तप करना, सोमपान की अधिकार-प्राप्ति,प्रजापति द्वारा सविता को प्रेरणा।	....	३.३०
११.	ऐतशमुनि द्वारा ऐतशप्रलाप का दर्शन।	....	६.३३
१२.	गवामयन सत्र की उत्पत्ति।	....	४.१७
१३.	छन्दों द्वारा एक दूसरे का स्थान प्राप्त करने की अभिलाषा, व्यूहच्छंदस् द्वारा बिलगाव.	....	४.२६
१४.	तृतीय सवन के उत्थान के लिये देवों का आदित्य से अनुरोध।	....	३.२९
१५.	द्वादशाह द्वारा देवों का स्वर्ग-गमन,असुरों द्वारा बाधा तथा विरूप होने का श्राप।	ऐ०ब्रा०	५.१
१६.	दिन का देवों तथा रात्रि का असुरों द्वारा आश्रय-रात्रि-युद्ध में छंदों द्वारा इन्द्र की सहायता।	....	४.५

१७ दीक्षा का देवों से उत्क्रमण-वसंत मास द्वारा-
उसका घिराव। ए०ब्रा० ४-२६

१८. दीर्घजिह्वी द्वारा प्रातः सवन का अवलेहन, देवों-
द्वारा मित्रावरुण से पयस्या की याचना। २.२०

१९. देवासुर-संग्राम-देवों द्वारा सदस् आग्नीध्र-तथा हविर्धान
का निर्माण, उपसद् आहुतियों द्वारा असुरों
का निष्कासन। १.२३

२०. देवासुर-संग्राम, देवों द्वारा वरुण के पास अपने-
शरीरों का न्यास। १-२४

२१. देवो का यज्ञ द्वारा स्वर्ग-गमन-यूप को उल्टा गाड़कर
रहस्य को छिपाना, मनुष्य और ऋषियों द्वारा
जान लेना। २.१

२२. देवों द्वारा पुरुषादि में मेध्य प्राप्त करना,
मेध्य का भूमि-प्रवेश करके चावल बन जाना। २.८

२३. देवों के यज्ञ में असुरों का आक्रमण, रक्षा के निमित्त तीन-
ओर अग्नि की दीवार बना देना। २.११

२४. देवों द्वारा वपा-आहुति से स्वर्ग-प्राप्ति, मनुष्य और
ऋषियों द्वारा रहस्य की जानकारी। २.१३

२५. देवों का असुरों से भयभीत होना, इन्द्र द्वारा
अपोनप्त्रीय का पाठ। २.१६

२६. देवों के सवनों का विश्लिष्ट हो जाना, पुरोडाश
द्वारा सवनों का आश्लेषण। २.२३

२७. देवासुर-संग्राम, आग्नीध्र के स्थान पर देवों का
पराजित न होना। २.३६

२८. देव-होता अग्नि द्वारा अनुष्टुप् छन्द में आज्य-
पाठ तथा मृत्यु पर विजय। ३.१४

२९. देवासुर-संग्राम, अग्नि द्वारा तीन श्रेणियां बनाकर
असुरों से युद्ध। ३.३९

३०. देवों की असुरों द्वारा पराजय, उत्तर की ओर प्रस्थान-
स्तुति द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति। ३.४२

३१. देवो द्वारा ज्योतिभूत अग्नि की स्तुति। ३.४३

३२. देवों द्वारा इन्द्र के लिये वज्र का निर्माण, षोडशी
शस्त्र का पाठ ४.१

(५) कश्यप के द्वारा भुवन के पुत्र विश्वकर्मा का,
(६) वशिष्ठ के द्वारा पिजवन के पुत्र सुदास का,
(७) अंगिरस के पुत्र संवर्त द्वारा अविक्षित के पुत्र मरुत्तम का,
(८) अत्रि के पुत्र उदमय द्वारा अंग का तथा
(९) ममता के पुत्र दीर्घतमा द्वारा दुष्यन्त के पुत्र भरत का इन्द्र की महाभिषेक विधि से राज्याभिषेक हुआ।

६५. वसतीवरि और एकधना का पारस्परिक-कलह, भृगु द्वारा शांति। २.२०
६६. वामदेव को संपातों द्वारा त्रिलोक प्राप्ति। ४.३०
६७. विश्वतर द्वारा श्यापर्णों का यज्ञ से निष्कासन-रामामार्गवेय द्वारा-यज्ञ-प्राप्ति। ७.२७-२८
६८. बृषशुष्म तथा गन्धर्वगृहीता का कथन-अग्निहोत्र-काल पर विवाद। ५.२९
६९. शुनःशेप की कथा। ७.१३-१८
७०. सरस्वती के तट पर ऋषियों द्वारा सत्र-कवष का यज्ञ से निष्कासन-कवष द्वारा अपोनप्त्रीय का पाठ। २.१९
७१. सा (ऋक्) और अमः(साम) द्वारा साम की सृष्टि। ३.२३
७२. सोमक्रय-इन्द्रियों और शक्तियों का सम्प्रसरण-आठ मंत्रों द्वारा संचयन। १.१२
७३. सोम का गन्धर्वों के पास होना-वाणी द्वारा सोम का लाया जाना। १.७७
७४. सोम प्राप्ति के लिये देवों और ऋषियों का विचार-छन्दों का उद्योग-गायत्री द्वारा सोम प्राप्ति। ३.२५-२८
(इसे सौपर्ण-आख्यान भी कहते हैं)।
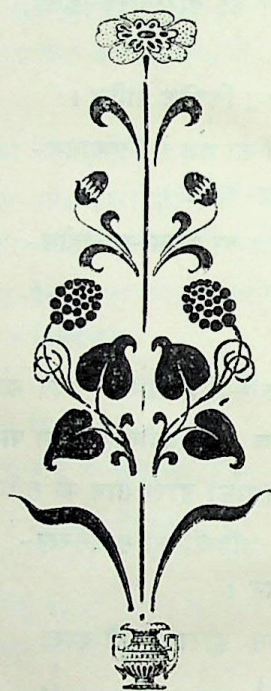
ए हिस्ट्री ऑफ एन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर-मैक्समूलर, इलाहाबाद, १६२६।

ऐतरेयब्राह्मणम्-श्रीमत्सायणाचार्यविरचित-भाष्यसमेतम् (दो भाग), आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः पूना, १६३१। प्रस्तुत प्रबन्ध में सब संकेत इसी संस्करण से दिये गये हैं।

ऐतरेयब्राह्मण-अनुवादक पं०गंगाप्रसाद उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २००६।

ऐतरेयब्राह्मण, षड्गुरुशिष्य टीका सहित, प्रथम संस्करण।

ऐतरेयब्राह्मण ऑफ ऋग्वेद-अनुवाद मार्टिन हाग, २ भाग, इलाहाबाद, १८६३।

ऐतरेयब्राह्मणस्य पदानुक्रमणिका-पं० विश्वनाथ बालकृष्ण जोशी, प्रथम-संस्करण।

ऐतरेयारण्कम्-सायणभाष्य सहित, पूना, १६४३ ई०।

ऐतरेयालोचनम्- आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता. १६०६ ई०।

ऑथरशिप ऑफ सम ऑफ दी हिम्ज़ ऑफ दी ऋग्वेद-डा० सुधीरकुमार गुप्त।

ऑल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेन्स, प्रोसिडिंग्ज़ ऑफ १ से १८ अधिवेशन।

काव्य प्रकाश-डा० सत्यव्रतसिंह, वाराणसी, प्रथम संस्करण।

काव्य प्रकाश-आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि कृत हिन्दी व्याख्या-सहित-संस्करण १६६०।

कौषीतकि ब्राह्मण-

कौषीतकि ब्राह्मण पर्यालोचनम्-डा० मंगलदेव शास्त्री, वाराणसी, १६६१ई०

गोपथ ब्राह्मण-जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८६१ ई०।

घाटेज़ लैक्चर्ज़ ऑन दी ऋग्वेद-वी० एस० सुक्थणकर, पूना, १६२६ ई०।

चरणव्यूहसूत्रम्-आचार्य महिदास कृत भाष्य-सहितम्, बनारस, १६३८ ई०।

जैमिनीयउपनिषद् ब्राह्मणम्-तथा तलवकार-उपनिषद् ब्राह्मणम्, लाहौर, १६२१ ई०।

ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्-सायणाचार्य विरचित भाष्य सहितम्, बनारस, १६३५ ई०।

तैत्तिरीय संहिता-कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, सायणभाष्य समेता, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः, पूना, १६०५ ई०।

तैत्तिरीय ब्राह्मणम्-सायणभाष्य, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः, द्वितीयावृत्ति, १६३८ ई०।

दी एटमोलोज़ीज़ ऑफ यास्क- डा० सिद्धेश्वर वर्मा, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थानम्, होशियारपुर, १६५३।

वैदिक दर्शन-डा० फतहसिंह, संस्कृति सदन, कोटा, २००६ वि० ।
वैदिक देवशास्त्र-डा० सूर्यकान्त दिल्ली, १९६१ ई० ।
वैदिक पदानुक्रम कोष-चौदह भाग,विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर ।
वैदिक बिब्लियोग्राफीज़-डा० एल० रैनन तथा डा० आर० एन० डान्डेकर ।
वैदिक वाङ्मय का इतिहास-भगवद्दत्त भाग १ और २, लाहौर प्रथम संस्करण । खण्ड संख्या साथ में दी गई है ।
वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति-म० म० श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९६० ।
वैदिक शब्दार्थ पारिजात-विश्वबन्धु, लाहौर, १९२९ ई० ।
वैदिक साहित्य-रामगोविन्द त्रिवेदी, बनारस-१९५० ई० ।
वैदिक साहित्य और संस्कृति-श्री बलदेव उपाध्याय बनारस, द्वितीय संस्करण ।
शतपथ ब्राह्मणम्-सायणाचार्यकृत वेदार्थ प्रकाशाख्य भाष्य सहितम् ५ भाग ।
शतपथब्राह्मण-दो भाग चन्द्रधर शर्मा, काशी, १९९४-९७ वि० ।
शतपथब्राह्मण अंग्रेजी अनुवाद, एग्लिंग, प्रथम संस्करण ।
शब्द कल्पद्रुम-राजा राधाकान्त देव, द्वितीय संस्करण ।
शुक्लयजुर्वेद संहिता-उव्वट और महीधर-भाष्यसहित , बनारस, १९१३ ई० ।
दयानन्द भाष्य और ग्रिफिथ का अनुवाद भी देखा गया है ।
श्रुतिविमर्ष-डा० मंगलदेवशास्त्री, वाराणसी ।
श्रौतकोष-पूना, प्रथम संस्करण ।
श्रौतपदार्थ निर्वचनम्-श्री विश्वनाथ शास्त्रिणा संकलितम् बनारस, १९१९ ई०
षड्विंश ब्राह्मण-सायणभाष्य सहित, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८१ ई० ।
संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी-सर एम० मोनियर विलियम्ज़, संस्करण १८९९ ई० ।
संगीत शास्त्र-के० वासुदेवशास्त्री, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, प्रयाग, १९५८ इ० ।
स्पार्क्स फ्रोम दी वैदिक फायर-डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ।
सामवेद संहिता-पारडी । २०१२ वि० ।
सेक्रीफाइस इन दी ऋग्वेद-के० आर० पोद्दार, प्रथम संस्करण ।
स्टोरी ऑफ लैंग्वेज-मैरियो पेई, प्रथम संस्करण ।
हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ- श्री त्रिवेणीप्रसादसिंह, पटना, १९५५ ।
हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर-सी० बी० वैद्य, पूना, प्रथम संस्करण ।